श्री धर्मसंघ शिक्षामण्डल-ग्रन्थमाला का षष्ठ पुष्प

वेद का स्वरूप और प्रामाण्य

(प्रथम भाग)

श्री स्वामी करपात्रीजी महाराज

श्री धर्मसंघ-शिक्षामण्डल,
दुर्गाकुण्ड, वाराणसी

प्रकाशक :
श्रीधर्मसंघ-शिक्षामंडल
दुर्गाकुण्ड, वाराणसी

प्रथम संस्करण : ३ हजार
चैत्र पूर्णिमा, २०१६ वि०
मूल्य ३) रुपये

पा त नि का

मनुष्य अपने व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए भूतल पर अवतीर्ण होता है। व्यक्तित्व की पूर्णता उसके सभी पक्षों के पोष पर निर्भर है। उसके विभिन्न पक्षो में प्रमुख ये हैं—आध्यात्मिक, नैतिक एवं भौतिक। प्रथम एवं तृतीय का सम्बन्ध व्यक्ति से है और द्वितीय का समष्टि से। अर्थात् वैयक्तिक एवं सामाजिक उभयपक्षीय पूर्णता ही मनुष्य का प्राप्य है। समस्या यह है इस 'पूर्णत्व' की प्राप्ति के लिए मनुष्य अपना यत्न किस दिशा में बढ़ाये? इस प्रश्न का उत्तर देनेवाले आज प्रमुख रूप में दो दल—भौतिकवादी एवं आध्यात्मवादी जागरूक हैं। एक दृष्ट को सर्वस्व मानता है, दूसरा 'अदृष्ट' को। एक अपने अन्वेषण, परीक्षण एवं समीक्षण से प्राप्त तथ्यों को ही सब कुछ मानता है, दूसरा आप्त-वचन पर विश्वास करता है। एक 'आप्त-वचन' या परम्परागत विचार को 'सत्य' पर आवरण मानता है और कहता है कि उसे फाड़ कर नवीन आलोक में सत्य को निहारना चाहिए, तो दूसरे का उद्घोष है कि हम संशय, भ्रम एवं विप्रलिप्सा-ग्रस्त बुद्धि से 'सत्य' के अपने स्वरूप को पहचान ही नहीं सकते। उसके निर्णय से लिए निर्मल एवं निर्दुष्ट बुद्धिवाले आप्तों के वचन अथवा निसर्गजात शब्दराशि का ही सहारा ले सकते हैं। इस विवाद में किस मत की मान्यता स्वीकार हो और किसके सिद्धान्त व्यक्तित्व की पूर्णता के लिएकार्यान्वित किये जायं, यह एक बीहड़ समस्या है। विचार से दृष्ट' एवं 'अदृष्ट' के ऊपर आस्था रखनेवाली उक्त दो विचारधाराओं में दृष्टवादी धारा के दोष बहुत स्पष्ट हैं। दृष्टवादी धारा 'अर्थ' एवं 'काम' का ही परम पुरुषार्थ माननेवाली धारा है। 'अर्थ' एवं 'काम' के अर्जन में अपेक्षित साधन के उत्कृष्ट रूप का ग्रहण करने और अपकृष्ट रूप को त्यागने में उनके यहां एकमात्र

समाज और राजदण्ड का भय है। समाज एवं राजदण्ड के से अतिरिक्त कोई 'अदृष्ट' सत्ता, जो दिन-रात, भीतर-बाहर एकान्त एव समाध सर्वत्र व्यापक एवं साक्षी है, कर्मानुरूप फलकी व्यवस्थापिका है, है ही नहीं। फल यह होता है कि कभी भी तृप्ति न प्रदान करनेवाले 'अर्थ' एवं 'काम' जैसे पुरुषार्थोंकी पूर्ति में निसर्गतः प्रवृत्त रागांध मनुष्य समाज एवं राजदंड से बचकर विजन में मन में साधकतम अपकृष्ट उपाय को पकड़ सकता है और पकड़ता है और उस अपकृष्ट साधन के प्रयोग का परिणाम समाजको लक्षित होता है, पर उस बहिर्मुख एवं स्थूल द्रष्टा समाज या राजव्यवस्था को उसका ज्ञान कैसे हो? चर-विभाग की भी शक्ति परिमित है। सबसे बड़ी बात यह है कि स्वयं समाज एवं राज-कर्मचारी भी तो अर्थ एवं काम के उपासक होंगे। वे ही क्यों किस भय से लाभ-प्रद मार्ग का प्रतिवन्ध करेंगे? उन्हें किस समाज एवं राजदंड का भय होगा? दृष्टवाद का समर्थक ऊँचा से ऊँचा सामाजिक एवं राजकर्मचारी क्यों, किस लाभ के लिए अर्थ-प्रद अपकृष्ट मार्ग का रास्ता रूँधेगा? कहा जा सकता है व्यवस्था के लिए। प्रश्न है व्यवस्था का किस पुरुषार्थ या तत्साधन में अन्तर्भाव है? व्यवस्था का 'अर्थ' या 'काम' में अन्तर्भाव नहीं हो सकता, अतः उसे अर्थ एवं काम के साधन में ही अन्तर्भूत करना पड़ेगा। समाज या राजव्यवस्था समान रूपसे आर्थिक एवं कामसम्बन्धी सर्वसाधारण सौविध्यप्रदायक प्रबन्ध के लिए व्यवस्था करता है। इस प्रकार व्यवस्था का अन्तर्भाव साधन में हो सकता है। पर कथनी एवं करनी में महान् अन्तर दिखायी देता है। अर्थ एवं काम के उपासक विश्व के सामने राय लीजिये, व्यवस्था और उसके फलस्वरूप मानवता के लक्ष्य के बदले अव्यवस्था एवं पाशविकता का नग्न-ताण्डव दिखाई पड़ेगा। अर्थ एवं काम के परम भक्त पश्चिमी राष्ट्र किस प्रकार विश्वको निगल जाने के लिए अपनी वैज्ञानिक-रदनावलीको साधता जा रहा है, यह किसीसे तिरोहित नहीं है। निष्कर्ष यह है कि दृष्टवादी धारा से कभी भी

अवश्य-प्राप्य सुख एवं शान्ति की सर्वसाधारण प्राप्ति सम्भव नहीं है। जबतक मनुष्य का हाथपाँव ही नहीं, बल्कि मन भी अपकृष्ट साधनों का प्रयोग करते समय 'अदृष्ट-शक्ति से नहीं डरेगा, तबतक शान्ति, सुख एवं सुव्यवस्था स्वप्न ही है।

इस प्रकार अदृष्टवादी धाराके ही विचार मानवीय व्यक्तित्व-विकास के साधन हो सकते हैं—यह निश्चित है। अदृष्टवादी धारा के अन्तर्गत भी अनेकानेक प्रभेद हैं, जो अपने-अपने आप्त-जनप्रणीत ग्रन्थोंके अनुसार जीवनयात्रा करने में श्रेय एवं प्रेय की प्राप्ति, व्यक्तित्व की पूर्णता स्वीकार करते हैं। परन्तु एक 'वेद' को छोड़कर शेष सभी आप्त-वचन ऐतिहासिक पुरुषों से बुद्धि-पूर्वक प्रणीत हैं। बुद्धिपूर्वक प्रणीत ग्रन्थ बौद्धिक-दोषानुषक्त हो सकते हैं, अतः उनकी ऐकान्तिक सर्वमान्यता सिद्ध नहीं हो सकती। मान लिया जाय कि उनकी बुद्धि निर्मल भी हो, तो नैर्मल्य-साधक तत्त्वों की अवगति के लिए उन आचार्यों को किसी अतिरिक्त निर्देश की आवश्यकता होगी। इस प्रकार अन्ततः किसी अपौरुषेय-निर्देश की ही स्थिति माननी होगी। भारतवर्ष का 'वेद' ऐसा ही अपौरुषेय निदश हैं, जिसके विचारालोक में जीवन-यात्रा करनेवाले का व्यक्तित्व सर्वाङ्गीण पूर्णता का लाभ कर सकता है।

एक लम्बे समय से इस 'वेद' पर विभिन्न व्याख्याओं द्वारा पक्षविपक्षपूर्वक विचार होता चला आ रहा है। यास्क ही नहीं, यास्क से भी पूर्व के वेद-व्याख्याकारों का उल्लेख 'निरुक्त' के दैवतकाण्ड में उपलब्ध होता है। यास्क एवं सायण के बीच एक लम्बा व्यवधान लक्षित होता है। हाँ, स्कंदस्वामी जैसे कुछ विचारक यत्र-तत्र झलक जाते हैं। इसके पक्ष से विचार एवं व्याख्या का ऐसा अभाव उसकी निर्विवाद मान्यता की सार्वत्रिक स्थिति पर प्रकाश डालता है। हाँ, समय-समय पर श्रौतमार्ग के विरोधी एवं सामयिक सम्प्रदायों द्वारा तिरोधान अवश्य हुआ है, जिसका पता गुप्तवंशीय शिला-लेखों से चलता है। उनमें

यज्ञों के उद्धार की बात आती है। वेद के सम्बन्ध में पक्ष-विपक्षपूर्वक विचार का धुआँधार आरंभ पश्चिमी भौतिकवादी सभ्यताके चतुर्दिक् प्रसार होने पर अधिक हुआ है। तब से वेद की जो विभिन्न व्याख्याएँ सामने आयी हैं, उनमें प्रमुख ये हैं—(१) श्रौतस्मार्त-मान्यता को ध्यान में रखकर सायणमार्गी आस्तिक व्याख्या (२) आर्यसमाजी व्याख्या (३) भाषावैज्ञानिक दृष्टि से पाश्चात्य-व्याख्या (४) जयपुरीय भारतीय वैज्ञानिक पद्धति की व्याख्या (५) कुमार स्वामी की प्रतीक-वादी व्याख्या (६) अरविंद की व्याख्या। आदि। इन सभी व्याख्याओं में सम्पूर्ण श्रौत-स्मार्त-मान्यता-समन्वयी व्याख्या सायण की ही है। इस प्रकार जगत्-कल्याण के लिए 'वेद' का महत्त्व ख्यापन उसको सद्व्याख्या का निर्णय आवश्यक है। प्रस्तुत ग्रंथ में वेद-प्रामाण्य-साधन के विषय में इन सभी विचारों का निष्पक्ष अध्ययन और उनकी समीक्षा की गयी है। आस्तिक जन यदि इस प्रयास से अपना थोड़ा भी हित-पथ निर्णीत कर सके, तो श्रद्धेय चरण स्वामीजी का आशीर्वाद सार्थक होगा।

—श्री स्वामी महेश्वरानन्द

वाराणसी
चैत्रपूर्णिमा २०१६

(पूर्वाश्रमके कवितार्किकचक्रवर्ती
श्री महादेव शास्त्री पाण्डेय)

सम्पादकीय निवेदन

पूज्य स्वामीजी की प्रस्तुतपुस्तक उनकी अत्यद्भुत सर्वतंत्र स्वतन्त्र प्रतिभा की एक झलक है। फिर भी हम जैसों के लिए इसका संपादन और प्रूफ-संशोधन करना भी टेढ़ीखीर हो रहा है। उसमें भी जिस त्वरा से, एक सप्ताह के भीतर इसे निकालना पड़ रहा है, वह भी विषय की गंभीरता को देखते हुए अभूतपूर्व है। केवल महाराजश्री की आज्ञा का पालनमात्र समझकर हम लोगों ने यह साहस किया है। अतएव इसमें त्रुटियों का न होना या कम होना भी आश्चर्य ही कहा जायगा। फिर भी हमें दृढ़ विश्वास है कि गुणैकपक्षपाती विद्वज्जन उन्हें हमारा ही प्रमाद मान सुधार लेने की कृपा करेंगे।

धर्मसंघ शिक्षामण्डल
दुर्गाकुण्ड, वाराणसी
चैत्रपूर्णिमा,
२०१६ विक्रमी

हरिहरनाथ त्रिपाठी
गोविन्द नरहरि वैजापुरकर

अनुक्रम

॥ श्रीहरिः ॥

वेद का स्वरूप और प्रामाण्य

वेदों की अपौरुषेयता :१:

इस व्यवहारभूमि संसार में रहनेवाले सभी प्राणियों को कुछ-न-कुछ व्यवहार करना ही पड़ता है। सभी व्यवहार अपने विषय-ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं, अतः प्राणिमात्र को व्यवहार के लिए व्यावहारिक विषयों का ज्ञान अपेक्षित होता है। ज्ञान के लिए ही प्राणियों को प्रमाणों की आवश्यकता होती है। यथार्थ (सत्य) ज्ञान के असाधारण कारण को 'प्रमाण' कहा जाता है। नेत्र, श्रोत्र आदि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, अतः ये 'प्रत्यक्ष-प्रमाण' कहे जाते हैं।

यद्यपि कुछ लोग केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण मानते हैं, तथापि विज्ञजनों में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि अनेक प्रमाण माने जाते हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान तो ऐसे हैं कि जिन्हें बिना माने पशुओं का भी व्यवहार नहीं चल सकता। पुचकारते हुए, हाथ में हरी-हरी दूर्वाओं को लिये हुए पुरुष की ओर हितैषी समझकर पशु प्रवृत्त होता है और दण्ड को लिये डाँटते हुए पुरुष को देखकर पशु पलायन करने लगता है। ऐसे स्थल पर दण्ड में अनिष्ट-साधनता का ज्ञान अनुमान से ही हो सकता है। अनुमान का आकार इस प्रकार होगा— "अयं दण्डः मदनिष्टकरः, दण्डत्वात्, पूर्वानुभूतदण्डवत्।"

इस तरह प्रत्यक्ष एवं अनुमान से पशु भी व्यवहार करता है। यह मनुष्य की विशेषता है कि वह शास्त्र से भी व्यवहार करता है। मनुष्य में भी दो पक्ष दिखाई देते हैं—शास्त्रनिष्ठ एवं तर्कनिष्ठ। शास्त्रनिष्ठ-शास्त्रों में श्रद्धा रखनेवाले तर्क को केवल व्यामोह

बतलाते हैं और तर्कनिष्ठ-शुद्ध तार्किक शास्त्र को ही व्यामोह बतलाते हैं। शास्त्रनिष्ठ तर्क को सर्वथा न मानते हों—ऐसी बात नहीं; किन्तु उनका कहना यही है कि शास्त्र स्वतःप्रमाण हैं। अनुकूल तर्क मिल जाने पर उसका बल और बढ़ जाता है। तर्क की अप्रतिष्ठा और व्यामोहकता तर्क से ही सिद्ध है। प्रत्यक्ष है कि किसी तार्किक ने बड़े प्रयत्न से किसी पदार्थ को सिद्ध किया। दूसरा तार्किक, जो पहले से कहीं प्रखर है, पहले तार्किक के तर्कों को तर्काभास सिद्ध कर देता है। तीसरा दूसरे के तर्क को भी तर्काभास सिद्ध कर देता है। अभियुक्तों का कहना है— "यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः। अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥" इस प्रकार कतिपय स्थलों में तर्कों की अप्रतिष्ठा और व्यामोहकता देखकर उन पर विश्वास करना कठिन हो जाता है।

भले ही तर्कों की व्यामोहकता का तर्क भी अप्रतिष्ठित एवं व्यभिचारी हो, परन्तु तर्क पर पूरा विश्वास करना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं। तर्कनिष्ठों का यह मत है कि अनुकूल तर्क मिलने पर ही शास्त्र बलवान् है और शास्त्र की अनुकूलता होने पर तर्क की बलवत्ता बढ़ जाती है। दोनों ही मतों में बलवत्ता का कारण शेष-शेषिभाव (अङ्गाङ्गिभाव) ही है। जो शेषी है अर्थात् प्रधानतया स्वतन्त्र है, वह बलवान् है और जो शेष (गौण) है, वह निर्बल है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि उपर्युक्त दोनों पक्षों में कौन-सा पक्ष श्रेष्ठ है ? प्रेक्षावान् (विचारक) सहज में ही समझ सकते हैं कि तर्क को अवश्य ही अपने प्रामाण्य के लिए दूसरे प्रमाण की अपेक्षा होती है। शास्त्र की स्थिति भिन्न है। शास्त्र को अपनी बलवत्ता के लिए भले ही तर्क की अपेक्षा हो, परन्तु अपने प्रामाण्य के लिए उसे तर्क की अपेक्षा नहीं है। यदि ऐसा न हो, तो शास्त्र 'शास्त्र' ही नहीं रह सकेंगे। पुरुषों के

भेद से तर्कों का भेद होता है, परन्तु पुरुषों के भेद से 'शास्त्र' का भेद नहीं हो सकता। अन्यथा शास्त्र और तर्क दोनों एक ही हो जायँगे – या तो सभी विषय विवादग्रस्त होंगे या सभी निर्विवाद ही होंगे। अपने-अपने तर्क के अनुसार सभी तत्त्व-निर्णय में प्रवृत्त होंगे, फिर तो शिक्षामार्ग का उच्छेद ही हो जायगा। अतः तर्क-परायण के मत में पुरुषार्थसिद्धि असंभव है। इसके विपरीत शास्त्र-परायण पुरुष अपने अधिकार के अनुसार शास्त्रोक्त सन्मार्ग पर आरूढ़ होकर शास्त्रसिद्ध सभी पुरुषार्थों को प्राप्त कर सकेगा।

तार्किक यहाँ बहुत शीघ्र ही तर्क करेगा कि क्या और कौन शास्त्र है, जिसके अनुसार चलने से फलसिद्धि निश्चित है ? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि शास्ता का सानुग्रह वचन ही शास्त्र है। शिष्य के, जिस पर शासन करना है, अनुग्रह के अनुकूल शासक (शास्ता) का वचन ही शास्त्र है। प्रजा के इहलोक तथा परलोक के अभ्युदय एवं परम कल्याण प्राप्त कराने में कारण और सहायक सर्वांश या तत्तद्विषयों के पूर्णरहस्यज्ञ हितैषियों के वचन ही शास्त्र हैं। यह परिभाषा यद्यपि सर्वमान्य-सी ही है; तथापि स्पष्ट निर्णय के लिए और भी प्रश्न उठते हैं कि कौन शासक है, जिसके सानुग्रह वचन को शास्त्र माना जाय ? इसका उत्तर यह है कि जो विश्व का रचयिता है, वही विश्व का शासक है और वही विश्व के रहस्य को जाननेवाला विश्व पर अनुग्रह करता है। अतः उस सर्वज्ञ, विश्व-रचयिता के विश्वानुग्राहक वचन ही शास्त्र हैं। इसलिए शास्त्रपरायण की पुरुषार्थ-सिद्धि स्पष्ट ही है।

फिर प्रश्न होता है कि विश्व-रचयिता ही कौन है ? इसका उत्तर है—जो कहता है "मैंने विश्व को रचा।" 'मैंने विश्व को रचा' जो यह कहता है, यदि वही विश्व-रचयिता है, तो फिर प्रश्न होता है कि ऐसा कौन है और वह कहाँ रहता है ? कहा जा सकता

है कि शास्त्रों में ईश्वर ही ऐसा कहता है। परन्तु पहले ईश्वर का ही क्या ठिकाना ? वह तो कहीं उपलब्ध ही नहीं। ठीक है, परन्तु क्या कोई ऐसा भी सर्वज्ञ तथा सभी देश-कालों को जाननेवाला है, जो कह सके कि ईश्वर कहीं भी नहीं है ? शशशृङ्ग और खपुष्प के कोई ग्राहक-प्रमाण नहीं हैं, परन्तु ईश्वर में तो शास्त्र प्रमाण हैं। सर्वत्र केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही प्रमाण नहीं कहा जा सकता। यदि वचनमात्र अप्रामाणिक हों, तब तो फिर 'केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है' इस वचन की भी क्या महत्ता रही ? जब सभी वचन अप्रामाणिक हैं, तो वचन होने के नाते यह भी अप्रामाणिक ही है। यह वक्ता की स्वीकृति के भी विरुद्ध है, परन्तु उसके मत में तो वचनमात्र अप्रामाणिक है। दूसरे लोग भले ही उसकी उक्ति को प्रमाण मानें, फिर भी वह अपनी स्वीकृति के विरुद्ध अपने वचन को प्रमाणभूत समझकर ही दूसरों को बोध कराने के लिए प्रयुक्त करता है। इसके अतिरिक्त तर्क का भी प्रामाण्य मानना ही पड़ता है। बिना उसके दूसरों के संशय, विपर्यय तथा अज्ञान का बोध ही कैसे हो सकता है ? दूसरों के संशयादि मिटाने के लिए वचन का प्रयोग आवश्यक होता है। अतएव विप्रतिपत्ति या जिज्ञासा के बिना शास्त्रार्थ प्रारम्भ ही नहीं होता। यदि बिना समझे ही जिस किसीके प्रति 'केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है' यह कह दिया जाय, तो उन्माद ही समझा जायगा। अतः कहना पड़ता है कि इस वचन का प्रयोग जो संदेह करनेवाले, भ्रान्त तथा अज्ञानी हैं, उन्हींको बोध कराने के लिए है।

अतः जिज्ञासा या विप्रतिपत्ति तथा उनके मूल अज्ञान, संशय आदि के ज्ञान के लिए या तो मुख की आकृति-विशेष से अनुमान करना पड़ेगा अथवा 'मुझे संशय है' इस तरह के जिज्ञासु या

विप्रतिपन्नों के वचनों का सहारा लेना होगा। यदि अनुमान तथा वचनों को प्रमाण न माना जाय, तब तो उनके संशय आदि ही ज्ञात नहीं हो सकते, क्योंकि जिज्ञासा, विप्रतिपत्ति तथा संशय आदि ऐसे पदार्थ हैं, जिनका प्रत्यक्ष प्रमाण से दूसरों को कथमपि बोध हो ही नहीं सकता। अतः 'अनुमान आदि प्रमाण नहीं, प्रत्यक्ष ही प्रमाण है' यह कथन ही तब तक नहीं बन सकता, जब तक अनुमान या वचनों का प्रामाण्य न स्वीकार किया जाय। भोजन आदि अत्यावश्यक कार्यों में भी इष्टसाधनता का ज्ञान आवश्यक है। इसके लिए पशुओं तक को अनुमान मानना पड़ता है। अनुमान का स्वरूप यों है— "इदं भोजनं मदिष्टसाधनम्, भोजनत्वात्, पूर्वानुभूतभोजनवत्।" अर्थात् इस भोजन से मेरा इष्ट होगा, क्योंकि यह भोजन है। पूर्वानुभूत भोजन ने इष्टसाधन किया ही था। जगत् के ही ऐसे बहुत-से व्यवहार हैं, जहाँ अनुमान और लेख के बिना किसी भी तरह काम नहीं चल सकता। पिता, पितामह की सम्पत्ति के भागी पुत्र आदि होते हैं। पर अधिकार-सिद्धि के लिए जानना और सिद्ध करना पड़ता है कि हम अमुक वंश के अमुक-अमुक के पुत्र या पौत्र हैं। यहाँ माता आदि के वचनों के अतिरिक्त और क्या प्रमाण हो सकता है? जैसे घट के होने में प्रमाण आवश्यक है, वैसे ही उसके न होने में भी उसकी आवश्यकता है। इसी प्रकार परमेश्वर के न होने में भी प्रमाण की आवश्यकता है। शशशृङ्ग आदि के न होने में प्रमाण की अनुपलब्धि कारण कही जा सकती है, परन्तु ईश्वर में शास्त्र प्रमाण के रूप में विद्यमान है। फिर 'ईश्वर कहीं नहीं है' यह कहना कैसे संगत हो सकता है?

यदि यह कहा जाय कि उसी शास्त्र पर तो विचार है कि वह कौन है और कहाँ मिलता है? इसका उत्तर यही है कि वह वेद है

और भारतवर्ष में सम्यक् प्रख्यात है। 'ठीक है, वेद भारत में प्रख्यात तो अवश्य है, पर उसे मानता कौन है?' यह तो ऐसी विचित्र बात है कि जिसे खोजते हैं, पर प्राप्त होने पर मानते नहीं। यहाँ यह शंका अवश्य उठती है कि जैसे वेद शास्त्र हैं, वैसे ही और भी तो बहुत-से भिन्न-भिन्न देशों, जातियों तथा सम्प्रदायों के शास्त्र हैं। फिर केवल वेद ही क्यों, सभी शास्त्रों को मानना चाहिए। लेकिन जब परस्पर विरुद्ध बातों का प्रतिपादन करनेवाले सभी देशों के शास्त्रों का प्रामाण्य मान लिया जाय, तब फिर तर्क को अवकाश ही कहाँ रह सकता है? यदि कोई भी शास्त्र न माना जाय, तब भी लड़कपन हुआ, क्योंकि शास्त्र ढूँढ़ते तो हैं, परन्तु मिलने पर मानते नहीं। यदि वेद ही शास्त्र माना जाय, तब तो वहीं परमेश्वर का प्रतिपादक है और उसी वेद-प्रतिपादित परमेश्वर का वचन ही वेद-शास्त्र है। परमेश्वर अनादि है, अतः उसका प्रजानुग्राहक वेद-वचन शास्त्र भी अनादि है। इसमें अन्योन्याश्रय आदि दोष भी नहीं हैं।

अब रही यह बात कि भिन्न-भिन्न देशों तथा सम्प्रदायों के अवैदिक शास्त्रों का भी प्रामाण्य क्यों नहीं? इसका समाधान यह है कि यदि वे शास्त्र अर्थात् सर्वशास्ता परमेश्वर के वचन हैं, तब निश्चय ही उनका प्रामाण्य होगा। भला शास्त्र के प्रामाण्य का अपोहन कौन कर सकता है? सर्वस्रष्टा, सर्वशासक के वचन ही शास्त्र हैं। जो भी ऐसे वचन हैं, वे सभी प्रमाण हैं। यदि वे ऐसे नहीं हैं, तब तो उनका प्रामाण्य दुर्घट ही है। यद्यपि सभी देशों तथा सम्प्रदायों का अभिमान ऐसा ही है कि हमारा धर्म-ग्रंथ परमेश्वर का ही वाक्य है और परमेश्वर के ही किसी अधिकारी द्वारा हमें प्राप्त हुआ है। फिर भी थोड़ा-सा ही विवेचन करने पर विदित होता है कि जहाँ अधिकार की चर्चा न हो,

वह परमेश्वर-वचन कैसे कहा जा सकता है। अधिकारी के भेद से शास्त्रोपदेश में भेद होना चाहिए। एक ही कर्म या एक ही ज्ञान में सभी अधिकारी नहीं हो सकते। मनुष्यों और पशुओं में सर्वत्र ही योग्यता और अधिकार के भेद से कर्म के भेद देखे जाते हैं। अश्व, महिष, गौ, गर्दभ इन सभी के कर्मों में पार्थक्य देखा जाता है। भोजन, पान आदि तो पशु-साधारण ही कर्म हैं, परन्तु मनुष्यता के कर्म और मनुष्यों में भी विशिष्ट-विशिष्ट समाजों की विशेषता के मूलभूत कर्म एवं ज्ञान कुछ और ही होते हैं। शास्त्रच्युत लोगों का जिसमें अधिकार हो, उसे शास्त्र कैसे कहा जा सकता है ? जहाँ दूसरों को बलात्कार या छद्म से दूसरे शास्त्रों या धर्मों से हटाकर अपने शास्त्रों या मतों में मिला लेना धर्म बतलाया गया हो, वह शास्त्र कैसे कहा जा सकता है ? इन तथाकथित शास्त्रों एवं तदनुयायियों में एक-दूसरे की निंदा और अपनी प्रशंसा करके किसी तरह लोगों को फँसाना ही अपना लक्ष्य रहता है। अपने शास्त्रों और मतों में सभी यही कहते हैं कि हमारा ही मार्ग परलोक या परमात्म-प्राप्ति का निर्विघ्न मार्ग है, अन्य मार्गों में बड़ी ही विघ्न-बाधाएँ हैं।

उनके अनुसार कोई किसी देश, किसी मत, किसी जाति का क्यों न हो, इन मतों और शास्त्रों में सभीका प्रवेश हो सकता है। जो भी कोई इन मतों में प्रवेश करने को तैयार हो, उसे उसी क्षण इनके यहाँ स्वीकृति मिल जाती है। अधिकार-अनधिकार की चर्चा तो इनके यहाँ है ही नहीं, किन्तु वैदिकों में तो अधिकार की पदे-पदे चर्चा देखी जाती है। ब्राह्मण के वाज-पेय आदि कर्म क्षत्रिय के लिए अग्राह्य हैं और क्षत्रिय के राजसूय आदि कर्मों में ब्राह्मणों का अधिकार नहीं। यज्ञ-अन-धिकारी के कानों में भी वेद-शब्द नहीं पड़ना चाहिए—ऐसा

वैदिकों का आदेश है। फिर किसीको बलात्कार या छद्म से अपने सम्प्रदाय में मिलाना कैसे संभव है ? यह वैदिकता परमेश्वर-प्रदत्त है, मनुष्यकृत नहीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि द्विजाति वेदाधिकारियों से भिन्न कोई किसी भी तरह भी 'द्विजाति' या वेदाधिकारी नहीं बनाया जा सकता। शैव भरसक वैष्णवों को शैव बना लेते हैं, वैष्णव भी भरसक शैवों को वैष्णव बना लेते हैं। अतः यहाँ भी शैवत्व और वैष्णवत्व मनुष्य के अधीन है, परन्तु वैदिकता या द्विजातित्व किसी भी प्रकार मनुष्य के अधीन नहीं हो सकते। वैदिक धर्म में ब्राह्मण क्षत्रिय या क्षत्रिय ब्राह्मण नहीं बन सकता। फिर वेदबाह्य ब्राह्मणादि बन जायँ और वैदिक हो जायँ, इसकी तो चर्चा ही क्या ? अतः जैसे पशुता, मनुष्यता परमेश्वर-प्रदत्त हैं, वैसे ही द्विजातित्व और वेदाधिकार भी भगवद्दत्त ही हैं। हाँ, वेद और वेदानुयायी शास्त्रों ने द्विजातियों, एकजातियों (शूद्रों) तथा मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ जिन उपायों तथा धर्मों का उपदेश किया है, उन्हें अपनी-अपनी योग्यता और अधिकार के अनुसार जानकर चलने पर मनुष्यमात्र का कल्याण हो सकता है। यही वेदों की उदारता है। अधिकार-अनधिकार का विवेचन न करके सबका सर्वत्र अधिकार मानना उदारता नहीं, अपितु उच्छृङ्खलता का पोषण है।

कुछ लोगों का यह कहना है कि परमेश्वर-निर्मित वस्तु में सबका अधिकार होता है। इसलिए वेद यदि परमेश्वर-निर्मित है, तब तो उसमें सभीका समानाधिकार होना चाहिए। यदि वेद में सबका अधिकार नहीं है, तब तो वेद शास्ता का वचन कैसे हो सकता है ? यदि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में सर्वाधिकार मान्य है, तब तो वे ही शास्ता के वचन समझे जाने चाहिए। परन्तु यह

कथन असंगत है। यदि परमेश्वर-निर्मित वस्तु में सभीका समान अधिकार हो, तो फिर संसार में दाय-भाग का विचार ही उठ जाना चाहिए। तब तो हर स्त्री हरएक की पत्नी और हर पुरुष हरएक स्त्री का पति हो सकता है। 'परस्त्रापहरण' नाम की कोई वस्तु ही नहीं रह जायगी। जब सभी में सबका सत्त्व है, फिर या तो सभी परस्वापहारी हों या सभी उस दोष से रहित ही समझे जायँ। परमेश्वर-निर्मित भी मुक्ताफल में क्या काक अधिकारी हो सकता है? इसलिए अधिकार-चर्चा मिटाना उच्छृङ्खलता का ही पोषक है। विश्व-शास्ता के वेद-वचन, श्रोता-वक्ता के जो धर्म बतलाते हैं; उन धर्मों का उल्लंघन करने से दोनों को ही दण्ड मिलना अनिवार्य है। अतः वेदों में अधिकार की चर्चा उनकी शास्त्रता अर्थात् शास्ता के वचन होने का मूल है।

लौकिक-पारलौकिक कर्म, धर्म; कार्य, कारण एवं कार्य-कारणातीत परम-तत्त्व इन सबका निर्णायक होने से भी वेद ही शास्त्र है। इन विषयों का इतना स्पष्ट और सुन्दर विवेचन अन्यत्र कहीं भी नहीं है। इनका गाम्भीर्य भी अन्य ग्रन्थों से अनुपमेय है। साथ ही वर्तमान संसार में प्रचलित धर्मों और तत्सम्बन्धी सभी ग्रन्थों से प्राचीन होने के कारण भी वेद ही शास्ता के वचन हैं। सभी ग्रन्थों के देश, काल तथा कर्ता का निर्णय उनके अनुयायियों द्वारा ही सिद्ध है। परन्तु वेदों के निर्माण का देश-काल तथा कर्ता कथमपि निर्णीत नहीं है। वेदों की अपौरुषेयता तथा प्रमाणता मिटाने के लिए अटकलपच्चू प्रमाणों से उनके देश-काल तथा कर्ता के निर्णय करने का प्रयत्न किया गया है। संभव है, इसका उद्देश्य भारत की प्राचीन संस्कृति के अभिमान को ठेस पहुँचाना हो। सच तो यह है कि वादी-प्रतिवादी-सम्मत प्रत्यक्ष या अनुमान कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं मिल

वैदिकों का आदेश है। फिर किसीको बलात्कार या छद्म से अपने सम्प्रदाय में मिलाना कैसे संभव है? यह वैदिकता परमेश्वर-प्रदत्त है, मनुष्यकृत नहीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि द्विजाति वेदाधिकारियों से भिन्न कोई किसी भी तरह भी 'द्विजाति' या वेदाधिकारी नहीं बनाया जा सकता। शैव भरसक वैष्णवों को शैव बना लेते हैं, वैष्णव भी भरसक शैवों को वैष्णव बना लेते हैं। अतः यहाँ भी शैवत्व और वैष्णवत्व मनुष्य के अधीन है, परन्तु वैदिकता या द्विजातित्व किसी भी प्रकार मनुष्य के अधीन नहीं हो सकते। वैदिक धर्म में ब्राह्मण क्षत्रिय या क्षत्रिय ब्राह्मण नहीं बन सकता। फिर वेदबाह्य ब्राह्मणादि बन जायँ और वैदिक हो जायँ, इसकी तो चर्चा ही क्या? अतः जैसे पशुता, मनुष्यता परमेश्वर-प्रदत्त हैं, वैसे ही द्विजातित्व और वेदाधिकार भी भगवद्दत्त ही हैं। हाँ, वेद और वेदानुयायी शास्त्रों ने द्विजातियों, एकजातियों (शूद्रों) तथा मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ जिन उपायों तथा धर्मों का उपदेश किया है, उन्हें अपनी-अपनी योग्यता और अधिकार के अनुसार जानकर चलने पर मनुष्यमात्र का कल्याण हो सकता है। यही वेदों की उदारता है। अधिकार-अनधिकार का विवेचन न करके सबका सर्वत्र अधिकार मानना उदारता नहीं, अपितु उच्छृङ्खलता का पोषण है।

कुछ लोगों का यह कहना है कि परमेश्वर-निर्मित वस्तु में सबका अधिकार होता है। इसलिए वेद यदि परमेश्वर-निर्मित हैं, तब तो उसमें सभीका समानाधिकार होना चाहिए। यदि वेद में सबका अधिकार नहीं है, तब तो वेद शास्ता का वचन कैसे हो सकता है? यदि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में सर्वाधिकार मान्य है, तब तो वे ही शास्ता के वचन समझे जाने चाहिए। परन्तु यह

कथन असंगत है। यदि परमेश्वर-निर्मित वस्तु में सभीका समान अधिकार हो, तो फिर संसार में दाय-भाग का विचार ही उठ जाना चाहिए। तब तो हर स्त्री हरएक की पत्नी और हर पुरुष हरएक स्त्री का पति हो सकता है। 'परस्त्रापहरण' नाम की कोई वस्तु ही नहीं रह जायगी। जब सभी में सबका सत्त्व है, फिर या तो सभी परस्वापहारी हों या सभी उस दोष से रहित ही समझे जायँ। परमेश्वर-निर्मित भी मुक्ताफल में क्या काक अधिकारी हो सकता है? इसलिए अधिकार-चर्चा मिटाना उच्छृङ्खलता का ही पोषक है। विश्व-शास्ता के वेद-वचन, श्रोता-वक्ता के जो धर्म बतलाते हैं; उन धर्मों का उल्लंघन करने से दोनों को ही दण्ड मिलना अनिवार्य है। अतः वेदों में अधिकार की चर्चा उनकी शास्तता अर्थात् शास्ता के वचन होने का मूल है।

लौकिक-पारलौकिक कर्म, धर्म; कार्य, कारण एवं कार्य-कारणातीत परम-तत्त्व इन सबका निर्णायक होने से भी वेद ही शास्त्र हैं। इन विषयों का इतना स्पष्ट और सुन्दर विवेचन अन्यत्र कहीं भी नहीं है। इनका गाम्भीर्य भी अन्य ग्रन्थों से अनुपमेय है। साथ ही वर्तमान संसार में प्रचलित धर्मों और तत्सम्बन्धी सभी ग्रन्थों से प्राचीन होने के कारण भी वेद ही शास्ता के वचन हैं। सभी ग्रन्थों के देश, काल तथा कर्ता का निर्णय उनके अनुयायियों द्वारा ही सिद्ध है। परन्तु वेदों के निर्माण का देश-काल तथा कर्ता कथमपि निर्णीत नहीं है। वेदों की अपौरुषेयता तथा प्रमाणता मिटाने के लिए अटकलपच्चू प्रमाणों से उनके देश-काल तथा कर्ता के निर्णय करने का प्रयत्न किया गया है। संभव है, इसका उद्देश्य भारत की प्राचीन संस्कृति के अभिमान को ठेस पहुँचाना हो। सच तो यह है कि वादी-प्रतिवादी-सम्मत प्रत्यक्ष या अनुमान कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं मिल

सकता, जिससे वेद-निर्माण का देश-काल तथा कर्ता विदित हो सके। अतः स्पष्ट है कि अनादि विश्व के अनादि शासक भगवान् का विश्वानुग्राहक वचन ही वेद-शास्त्र है। ऐसी स्थिति में परमेश्वर की न्यायकारिता और दयालुता ही सिद्ध होती है। यदि ऐसा न माना जाय, तो फिर यही कहना पड़ेगा कि चार-पाँच हजार वर्ष पहले के जीवों के लिए परमेश्वर ने कोई कल्याण-मार्ग बतलाया ही नहीं, जिससे उसकी विषमता तथा अचतुरता प्रकट होती है।

'ऐसा भी कोई समय था, जब वैदिक-सम्प्रदाय प्रचलित न था' इसका भी कोई प्रमाण नहीं है। कुछ लोगों का कहना है कि वेदों में जिन नगरों, नदियों तथा व्यक्तियों के नाम आते हैं, कम-से-कम उन सभीकी उत्पत्ति के पहले वेदों का न होना स्पष्ट ही है। लोक में किसी भी ग्रंथ का निर्माण उसमें आनेवाली घटना के पीछे ही समझा जाता है। व्यक्ति की उत्पत्ति के बाद ही उसका उल्लेख होता है। अन्वेषकों के पास ऐसे अनेक उपाय हैं, जिनसे नगरों, नदियों तथा व्यक्तियों के समय का अनुमान किया जा सकता है। शिलालेख, ताम्रपत्र, भूगर्भ-विज्ञान आदि सभी साधनों से उक्त विषयों के ज्ञान में सहायता मिलती है। समुद्र की प्रतिवार्षिक क्षारता-वृद्धि के मान से गणित द्वारा उसकी आयु का पता लगाया जाता है। भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक साधनों द्वारा नदियों एवं पृथिवी तक की आयु का निर्णय किया जा चुका है। फिर सावयव पदार्थ अनित्य होते हैं—यह तो सभीको मान्य है। इस तरह भी वेदों में जिन सावयव पदार्थों का वर्णन है, उनकी उत्पत्ति के पश्चात् ही वेद का निर्माण मानना चाहिए। लोक में यह प्रसिद्ध ही है कि व्यक्ति के उत्पन्न होने पर ही उसका नामकरण होता है। अतः चाहे समय-विशेष का निर्धारण

न भी हो, तथापि वेद की अनादिता तो किसी तरह सिद्ध ही नहीं होती।

किन्तु इन सभी शंकाओं का एकमात्र कारण है, वेद और सृष्टि के संबंध एवं वेदार्थ-निर्णय के सिद्धांतों के प्रति अज्ञान। वेदों में घटना एवं इतिहास के अन्वेषण के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि उनमें घटनाओं का अनुसरण नहीं किया गया है, अपितु किसी अंश में घटनाचक्र ही वेद का अनुसरण करते हैं। प्रपञ्च की सृष्टि ही वेदशब्दों के आधार पर होती है— "वेदशब्देभ्यः एवादौ निर्ममे स महेश्वरः।" "अत एव च नित्यत्वम्" इत्यादि स्मृति तथा सूत्रों से वेदों की नित्यता और उन्हींसे प्रपञ्च की उत्पत्ति का वर्णन स्पष्ट दिखायी देता है।

वस्तुतः किसी भी कार्य के निर्माण में निर्माता को उसके ज्ञान की अपेक्षा होती है। घट, पट आदि पदार्थों का निर्माण करनेवालों को अवश्य ही उन पदार्थों तथा उनकी सामग्रियों का ज्ञान अपेक्षित होता है। यहाँ तक कि प्रथम अपने मन में निर्मित घट आदि को ही वाह्य सामग्रियों के द्वारा वाहर व्यक्त किया जाता है। ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि समस्त प्रपञ्च-निर्माता को प्रपञ्च-निर्माण के पहले उसका ज्ञान अवश्य होगा, क्योंकि बिना उसके निर्माण संभव ही नहीं। इसके साथ ही इतना और समझ लेना चाहिए कि ज्ञान के लिए सूक्ष्म शब्द आवश्यक है। शिष्टों की यह प्रतिज्ञा है कि कोई ऐसा ज्ञान ही नहीं, जो शब्द के अनुवेध से रहित हो—"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।" अतः जब प्रपञ्च-निर्माण के पूर्व निर्माता को प्रपञ्च-ज्ञान होना आवश्यक है, तो ज्ञान के साथ सर्वप्रपञ्चबोधक शब्दों का भी होना अनिवार्य है। इस तरह सर्वस्रष्टा भगवान् के सर्वनिर्माण का मूलभूत सर्वविज्ञान अवश्य ही सर्वबोधक शब्दों के साथ

ही रहा होगा। इस तरह अनायास ही सर्वज्ञ भगवान् के सर्वज्ञान के साथ अनुविद्ध शब्दरूप वेदों की अनादिता एवं उनकी सृष्टि-हेतुता सिद्ध होती है।

भगवान् व्यास ने भी अपने "शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम" इस सूत्र में स्पष्ट किया है। जब यह सिद्ध हो गया कि वेदशब्दों से ही परमात्मा ने विश्व का निर्माण किया, तब तो समस्त विश्वनिर्माण के भी प्रथम वेदों का अस्तित्व सिद्ध होता है। फिर इस कथन का अवकाश कहाँ रहता है कि अमुक नगरों, नदियों तथा व्यक्तियों के पश्चात् वेदों का निर्माण हुआ। प्रत्युत यही सिद्ध होता है कि अनादि वेदों में वर्णित आख्यायिकाएँ तथा व्यक्ति चाहे किसी भी देश-काल में हों या न हों, वेद अनादि ही हैं। वे घटनाओं की अपेक्षा से नहीं बनाये गये। आख्यायिकाओं का तात्पर्य केवल किसी सिद्धान्त को सरलता से समझाने में ही है। जैसे लोक में किसी गणित या अन्य विषय को समझाने के लिए कल्पित आख्यायिका का आश्रयण किया जाता है, वहाँ उस आख्यायिका की सचाई या देश-काल की अपेक्षा नहीं होती, ठीक वैसे ही किसी सिद्धान्त को समझाने के लिए वेद भी कल्पित आख्यायिका का आश्रयण करते हैं। उनका तात्पर्य केवल सिद्धांतों को अवगत कराने में ही है। आख्यायिका की सत्यता या उसके देश-काल के निर्णय में कथमपि तात्पर्य नहीं है। शाब्दिकों का यह एक सिद्धांत है कि शब्द का जिसमें तात्पर्य होता है, वही शब्दार्थ माना जाता है—"यत्परः शब्दः स शब्दार्थः।" लोक में भी यह स्पष्ट है। शत्रुगृह में भोजन के लिए बालक के पूछने पर माता कहती है—"विषं भुङ्क्ष्व" अर्थात् विष खा लो। यदि इस वाक्य का तात्पर्य विष खाने में हो, तब तो विष खाना इस वाक्य का अर्थ हो सकता है। परन्तु माता पुत्र के लिए विष खाने की आज्ञा

कैसे दे सकती है, यह भी एक सोचने की बात है। अतः शत्रुगृह में भोजन-निवृत्ति में ही इस वाक्य का तात्पर्य है "विषभक्षणसदृशं शत्रुगृहभोजनम्" अर्थात् विषभक्षण और शत्रुगृह-भोजन समान हैं। उक्त वाक्य का वस्तुतः यही तात्पर्य है।

इसीलिए मीमांसकों ने स्पष्ट कह दिया कि समस्त वेदराशि का, जिसे 'आम्नाय' नाम से पुकारा जाता है, तात्पर्य केवल क्रिया ही में है। जो वचन क्रियार्थक नहीं हैं, वे सर्वथा निरर्थक ही सिद्ध होंगे। अतएव मंत्रों का तात्पर्य क्रियाङ्ग द्रव्य तथा देवता के स्मरण कराने में है। अर्थवादों तथा आख्यायिकाओं का किसी विधि या निषेध की स्तुति या निन्दा में ही तात्पर्य है। यही "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् । तस्मादनित्यमुच्यते" "विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" इन सूत्रों में दिखलाया गया है। आख्यायिका-वाक्य एवं अर्थवाद-वाक्य अवान्तर वाक्य हैं। ये विधि-वाक्य के साथ एकवाक्यता प्राप्त करके ही सार्थक होते हैं। विधि-वाक्य ही महावाक्य होते हैं। अवान्तर वाक्यार्थ यदि महावाक्यार्थ से विरुद्ध होते हों, तो अमान्य एवं अप्रामाणिक होते हैं। जैसे, "न सुरां पिबेत्" (सुरा-पान नहीं करना चाहिए) इस वाक्य का अंश है—"सुरां पिबेत्।" इसका अर्थ है–'सुरा-पान करे।' परन्तु इस अर्थ का पूरे वाक्यार्थसे विरोध है, अतः यह अर्थ अमान्य है। हाँ, यदि अवान्तर वाक्यार्थ महावाक्यार्थ का विरोधी न हो, तब उस वाक्य का स्वार्थ में भी अवान्तर तात्पर्य हो सकता है। अतएव उत्तरमीमांसकों ने मन्त्र, अर्थवाद, आख्यायिकाओं के विषय में सब जगह के लिए यह निर्णय कर दिया है कि यदि इन सबका अर्थ प्रमाणान्तर से विरुद्ध न हो, तभी ये मान्य हो सकते हैं। अन्यथा उन्हें गौणार्थ ही समझना चाहिए। इन विवेचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि

वेद-रहस्यज्ञों की दृष्टि में वैदिक आख्यायिकाओं तथा नगर, नदी एवं व्यक्तियों के उल्लेख से वेद के देश-काल-निर्णय की आशा केवल दुराशामात्र है। जब प्रमाण से उनके देश-काल तथा कर्ता का निर्णय नहीं होता और अनादि, अविच्छिन्न सम्प्रदाय-परम्परा से उनका अध्ययन-अध्यापन चला आ रहा है, तब उनकी अनादिता तथा अपौरुषेयता स्वाभाविक है।

वेदों से उनके देश, काल तथा कर्ता का निर्णय किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि वेद अमान्य तथा अप्रमाणभूत हैं, तब तो उनके द्वारा ज्ञात होनेवाले देश-काल तथा कर्ता भी अप्रामाणिक ही होंगे। परन्तु यदि वे प्रमाण मान्य हैं, तब तो उनसे ही उनकी नित्यता एवं परमेश्वर-निःश्वासरूपता भी सिद्ध है। फिर भी दोनों का समन्वय करके ही किसी अर्थ का निर्णय करना उचित होगा। अनादि परमात्मा के प्राण तथा विज्ञानभूत वेदों को सादि कहना किसी भी तरह संगत नहीं। अतः उनका केवल प्रादुर्भाव ही कहना पड़ेगा। कहीं-कहीं कुछ महामति यह भी कहने लगे हैं कि 'नित्यता का प्रतिपादन करने-वाला वचन अप्रमाण और उत्पत्ति तथा कर्ता बतलानेवाले वाक्य प्रमाण हैं।' परन्तु यह कथन निर्मूल है। हेतु-विशेष के विना इस 'अर्धजरतीय न्याय' की सभ्य समाज में मान्यता नहीं हो सकती। यदि कहा जाय कि यह तर्क-सम्मत है, इसलिए मान्य है, तो उत्तर यही है कि यदि तर्क से वेदों का कर्ता या देश-काल निर्धारित हो जाय, तब तो पहले उसीको उपस्थापित करना चाहिए। फिर उस वेद को, जिसका प्रामाण्य विवादग्रस्त है, उपस्थापित करने की आवश्यकता ही क्या है ?

कुछ लोग भाषा-भेद से वेद के कुछ अंश को अर्वाचीन कहने का साहस करते हैं। यह भी बे-सिर-पैर की बात है। विषय-भेद,

रुचि-भेद से जब एक ही पौरुषेय ग्रन्थ में वैचित्र्य हो सकता है, तब अपौरुषेय वेद के स्वाभाविक वैचित्र्य पर पर्यनुयोग (आपत्ति) कौन खड़ा कर सकता है ? इसी तरह 'पूर्व और दक्षिण के देशों तथा नदियों के नाम जिन अंशों में आये हैं, वे अर्वाचीन हैं।" यह कहना भी बेतुका और निराधार है। कारण यह है कि जब यह मान लिया जाय कि 'बाहर से आकर आर्य सिंधु-तट पर टिके और वहीं वेदों का निर्माण हुआ, उसके बहुत दिनों पीछे पूर्व की ओर बढ़े', तब तो उक्त कथन का कोई आधार हो सकता है। परन्तु जब इस उपस्थापना का ही कोई आधार नहीं है, तब सारी बात निरर्थक है।

एक यह भी मत है कि 'किसी समय कुछ लोगों ने वेदों की रचना कर उन्हें अपौरुषेय सिद्ध करने की दृष्टि से उनमें देश, काल तथा कर्ता का उल्लेख नहीं किया। उसके प्रचार के लिए खूब त्याग एवं तपस्या की गयी। वे ही ऋषि, ब्राह्मण तथा पुरोहित कहे जाते हैं, परन्तु इन महामतियों से कोई पूछे कि यह स्थापना साधार है या यों ही ? यदि यों ही है, तब तो उसके विपरीत दूसरी कल्पना भी यों ही की जा सकती है। यदि वह स्थापना साधार है, सप्रमाण है, तो उस आधार और प्रमाण का उल्लेख होना चाहिए। फिर इस प्रसंग में यह भी प्रश्न उठता है कि ऐसे वेद-रचयिताओं की ऐसी प्रवृत्ति किस उद्देश्य से हुई ? यदि पूजा-लाभ या ख्याति के प्रयोजन से, तो जब उन्होंने वेदों के निर्माता रूप से अपना नाम तक न रखा, उनकी अनादिता ही सिद्ध की, तब और किसी लाभ की कल्पना हो ही कैसे सकती है ? घोर तपस्या, सर्वस्व-त्याग, एकान्तवास, निरन्तर प्रजा-हित-चिन्तन—क्या ये सब बिना किसी लौकिक या पारलौकिक प्रयोजन के केवल कुतूहल-वशात् कभी बन सकते हैं ? बुद्धिमानों को वेदोक्त धर्म-कर्मों में तथा वेदों में जो सम्मान है, उससे भी वेद और वेदोक्त कर्मों

की अनादि परम्परा ही समझी जा सकती है। जब एक भी प्रज्ञावान् दुःख-निदान या निष्फल कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता, तब भला इतना बड़ा जगत् कैसे प्रवृत्त हो सकता है?

यदि कहा जाय कि लाभ, पूजा, ख्याति आदि ही वेद और धर्म मानने का एकमात्र लक्ष्य है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि आखिर लाभ आदि ही कैसे होंगे? धर्म-कर्म का अनुष्ठान, वेदाध्ययन ये सब स्वरूपतः लाभकर नहीं हैं। इसके अतिरिक्त यदि धर्मानुष्ठान में प्रत्यक्ष लाभ हो, तब तो नास्तिकों को भी करना चाहिए, पुनः विवाद ही किससे? एक बात और भी है कि जिससे लाभ आदि होता है और जो धार्मिकों का दान, सम्मान आदि से पूजन करेंगे, वे ही ऐसा क्यों करते हैं? यदि यह कहा जाय कि 'ख्याति और अपने में प्राणियों का अनुराग पैदा करने के लिए' और इसमें यह कारण बताया जाय कि 'दान, सम्मान करनेवालों में जनों का राग होता है तथा जनानुराग से नैतिक, आर्थिक सभी प्रकार की सम्पत्ति मिल जाती हैं', तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का सम्मान, दान अपने व्यवहारानुकूल सचिवों को ही दिया जा सकता है। अरण्यवासी तपस्वियों के लिए ऐसे दान आदि से कुछ भी प्रयोजन सम्पन्न नहीं हो सकता।

कुछ लोग कहते हैं कि 'ये जितने वैदिक तपस्वी थे, वे सभी केवल दूसरों को छलने के लिए ही तप आदि करते थे।' परन्तु उनका यह कथन व्यर्थ है, कारण कि किसी लौकिक प्रयोजन से ही तो किसीकी प्रतारणा की जाती है। जो अत्यंत निःस्पृह हैं, प्रच्छन्नरूप से भी प्राप्त द्रव्यों की ओर देखते तक नहीं और सदा तप करके कष्ट सहते हैं, वे ऐसा क्यों करेंगे? यदि कहा जाय कि तप, दान, यज्ञ आदि में सुख होता है, तो फिर

नास्तिकों को भी वह सब करना चाहिए। कभी यह भी कहा जाता है कि 'वृद्धों ने ही प्रतारणा कर बालकों को बाल्यकाल से ही वेद और वैदिक कर्मों के प्रति श्रद्धा तथा संस्कार पैदा कर दिये; इसीसे बालकों की भी उनमें प्रवृत्ति हो गयी।' यदि ऐसा ही है, तो फिर वृद्धों की वेदादिकों में इसी तरह श्रद्धा और प्रवृत्ति क्यों देखी जाती है? प्रतारणा करनेवाले दूसरों को ही ठगते हैं, अपनेको तो नहीं। इस पर यदि कहा जाय कि 'इन वृद्धों की भी प्रवृत्ति उनसे के पूर्व के वृद्धों की प्रतारणा से हुई है' तो उन वृद्धों पर भी यही संदेह किया जा सकता है। यदि इस परम्परा को अनादि कहें, तब तो फिर कोई भी प्रतारक सिद्ध नहीं होता, जिससे प्रतारणा की शङ्का स्थिर हो।

यदि कहा जाय कि कोई एक धूर्त अपने-आप ही तीव्र याग, तपस्या आदि करके दूसरों को उसमें प्रवृत्त कराता है" तो हाँ भी समझना चाहिए कि यह ऐसा कौन लोकोत्तर प्रतारक जो सर्वस्व देकर, बन्धु-बान्धव आदि को त्यागकर, संसार-व से विमुख होकर, ब्रह्मचर्य, तपस्या एवं श्रद्धा से केवल दूसरों वञ्चना के लिए अपना समस्त जीवन बिताता है? फिर, एक का ही बुद्धिमान् लोग अनुगमन भी कैसे करते? दूसरी बात यह भी है कि 'इस प्रतारक का ज्ञान भी लोगों को चिह्नों से हुआ?' यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'प्रतारण ऐसा सुख होता है' जिसके सामने तप, त्याग आदि का छ भी नहीं है, क्योंकि खर्चीले एवं श्रमसाध्य कार्यों में यों की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

क आचार का ग्रहण, धारण, अनुष्ठान पाखण्डियों के म्भव है। मतान्तर का ग्रहण प्राणी आलस्य से कर । वेदों में दुःखमय कठिन कर्मों की प्रधानता है, अतः

यहाँ आलसियों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह भी नहीं कहा जा सकता 'कि बिना अधिकार के दूसरे मतों से हटाकर इस मत में प्रवेश कराया जाता है' क्योंकि यहाँ अधिकार का नियम बहुत ही कठोर है। भोजन-पान के राग से भी इस मत में सञ्चार नहीं हो सकता; क्योंकि उनमें कठोर संयम, कठोर विभाग राग के स्पष्ट ही बाधक हैं। 'कुशिक्षा तथा कुतर्क के अभ्यास से दूसरे मत में प्रवृत्ति होती है' यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि बाल्यावस्था से ही बालकों की वेदाध्ययन आदि में प्रवृत्ति होती है। यह उन्हें पितृ-पितामह आदि की परम्परा से ही प्राप्त है। इसके विपरीत बातें अन्यान्य मतों में ही लागू होती हैं। कर्मकाण्ड की कमी तथा आचार-विचार का विशेष नियम न होने से उनमें आलसियों की प्रवृत्ति हो सकती है। वैदिक धर्म से पतितों का भी उनमें प्रवेश हो जाता है। इस-लिए भी उधर प्रवृत्ति संभव है। पाद-प्रक्षालन, स्नान, भोजन, पान, वस्त्रधारण जैसी छोटी-से-छोटी बातों के लिए भी जहाँ कठिन नियम बने हैं, वहाँ रागियों की प्रवृत्ति ही कैसे हो सकती है? उन्हें तो उसी मत में आनंद आता है, जिसमें कोई परम्परागत बन्धन नहीं होते; जिसमें भोजन, पान, स्त्रियों आदि के संबंध में मनमानी स्वतंत्रता रहती है।

मनु, वाल्मीकि, कृष्ण, व्यास, पतञ्जलि, गौतम, कणाद प्रभृति महादार्शनिकों ने भी वेद-शास्त्रों का स्वतंत्र प्रामाण्य माना है। रहा तर्क की बात, वह तो केवल संभावनामात्र है। संभावनामात्र प्रमाण नहीं कहा जा सकता। यदि प्रमाणान्तर की सम्मति से तर्क का प्रामाण्य माना जाय, तो फिर जिस प्रमाणान्तर की सम्मति तर्क को अपेक्षित है, वही प्रमाण हुआ, फिर उस तर्क का कोई प्रामाण्य ही न रहा। यदि यह कहा

जाय कि जब तक तर्क का किसी प्रमाण से बाध न हो जाय, तब तक वह भी प्रमाण ही है, तो वह भी संगत नहीं। तर्क के बाध की भी संभावना बनी ही रहेगी। बात यह है कि बाध-भय का मिटना प्रमाणान्तर के ही अधीन है। अतः कहना ही पड़ेगा कि तर्क अङ्ग या अप्रधान तथा शास्त्र अङ्गी या प्रधान है। शास्त्र स्वतःप्रमाण है, शास्त्रमूलक तर्क भी उसके अनुग्रह से ही प्रमाण हो सकता है, वह स्वतःप्रमाण कभी नहीं है। यदि शास्त्र तर्कमूलक हो, तब तो प्रमाणान्तर-सापेक्ष होने से उसे भी तर्क ही समझना चाहिए। तर्कशास्त्र तर्क ही समझा जाता है, वह वेद-शास्त्र आदि की तरह स्वतःप्रमाण नहीं माना जाता।

वर्तमान सभ्यता के लोगों का कहना है कि 'शास्त्रों में से समझ-बूझकर अच्छी-अच्छी बातें माननी चाहिए। आँख मूँदकर शास्त्र की सभी बातें मान्य हों—ऐसी बात नहीं।' परन्तु इससे यही सिद्ध होता है कि शास्त्र तर्कसम्मत, युक्तियुक्त, सुन्दर एवं उपादेय बात कहते हैं, इसलिए आद-रणीय हैं। अतः इस पक्ष में तर्क से भिन्न शास्त्र नाम के प्रमाण का कोई स्थान नहीं रह जाता। वेद-शास्त्र भी केवल ग्रंथरूप में लिखित तर्क ही हुआ।

इसके विपरीत वैदिकों का कहना यह है कि ऐहिक, आमु-ष्मिक अभ्युदय एवं तदनुकूल धर्म-ब्रह्मादि तत्त्वों के विषय में उनकी सुन्दरता और उपादेयता इसीलिए है कि वे वेद-शास्त्र-प्रतिपाद्य हैं। प्रतिपाद्य की सुन्दरता एवं उपादेयता से प्रतिपादक वेद-शास्त्रों की प्रामाणिकता और उपादेयता नहीं, बल्कि प्रतिपादक वेद-शास्त्रों के प्रामाण्य से ही प्रतिपाद्य की सुन्दरता तथा उपादेयता सिद्ध होती है। क्योंकि जिस प्रमाण

यहाँ आलसियों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह भी नहीं कहा
जा सकता 'कि बिना अधिकार के दूसरे मतों से हटाकर इस मत
में प्रवेश कराया जाता है' क्योंकि यहाँ अधिकार का नियम
बहुत ही कठोर है। भोजन-पान के राग से भी इस मत में
सञ्चार नहीं हो सकता; क्योंकि उनमें कठोर संयम, कठोर
विभाग राग के स्पष्ट ही बाधक हैं। 'कुशिक्षा तथा कुतर्क के
अभ्यास से दूसरे मत में प्रवृत्ति होती है' यह भी नहीं कहा जा
सकता; क्योंकि बाल्यावस्था से ही बालकों की वेदाध्ययन आदि
में प्रवृत्ति होती है। यह उन्हें पितृ-पितामह आदि की परम्परा
से ही प्राप्त है। इसके विपरीत बातें अन्यान्य मतों में ही लागू
होती हैं। कर्मकाण्ड की कमी तथा आचार-विचार का विशेष
नियम न होने से उनमें आलसियों की प्रवृत्ति हो सकती है।
वैदिक धर्म से पतितों का भी उनमें प्रवेश हो जाता है। इस-
लिए भी उधर प्रवृत्ति संभव है। पाद-प्रक्षालन, स्नान, भोजन,
पान, वस्त्रधारण जैसी छोटी-से-छोटी बातों के लिए भी जहाँ कठिन
नियम बने हैं, वहाँ रागियों की प्रवृत्ति ही कैसे हो सकती है? उन्हें
तो उसी मत में आनंद आता है, जिसमें कोई परम्परागत
बन्धन नहीं होते; जिसमें भोजन, पान, स्त्रियों आदि के संबंध में
मनमानी स्वतंत्रता रहती है।

मनु, वाल्मीकि, कृष्ण, व्यास, पतञ्जलि, गौतम, कणाद
प्रभृति महादार्शनिकों ने भी वेद-शास्त्रों का स्वतंत्र प्रामाण्य माना
है। रहा तर्क की बात, वह तो केवल संभावनामात्र है।
संभावनामात्र प्रमाण नहीं कहा जा सकता। यदि प्रमाणान्तर
की सम्मति से तर्क का प्रामाण्य माना जाय, तो फिर जिस
प्रमाणान्तर की सम्मति तर्क को अपेक्षित है, वही प्रमाण हुआ,
फिर उस तर्क का कोई प्रामाण्य ही न रहा। यदि यह कहा

जाय कि जब तक तर्क का किसी प्रमाण से बाध न हो जाय,
तब तक वह भी प्रमाण ही है, तो वह भी संगत नहीं। तर्क के
बाध की भी संभावना बनी ही रहेगी। बात यह है कि बाध-भय
का मिटना प्रमाणान्तर के ही अधीन है। अतः कहना ही
पड़ेगा कि तर्क अङ्ग या अप्रधान तथा शास्त्र अङ्गी या प्रधान
है। शास्त्र स्वतःप्रमाण है, शास्त्रमूलक तर्क भी उसके अनुग्रह
से ही प्रमाण हो सकता है, वह स्वतःप्रमाण कभी नहीं है।
यदि शास्त्र तर्कमूलक हो, तब तो प्रमाणान्तर-सापेक्ष होने से
उसे भी तर्क ही समझना चाहिए। तर्कशास्त्र तर्क ही समझा
जाता है, वह वेद-शास्त्र आदि की तरह स्वतःप्रमाण नहीं
माना जाता।

वर्तमान सभ्यता के लोगों का कहना है कि 'शास्त्रों में
से समझ-बूझकर अच्छी-अच्छी बातें माननी चाहिए। आँख
मूँदकर शास्त्र की सभी बातें मान्य हों—ऐसी बात नहीं।'
परन्तु इससे यही सिद्ध होता है कि शास्त्र तर्कसम्मत,
युक्तियुक्त, सुन्दर एवं उपादेय बात कहते हैं, इसलिए आद-
रणीय हैं। अतः इस पक्ष में तर्क से भिन्न शास्त्र नाम के
प्रमाण का कोई स्थान नहीं रह जाता। वेद-शास्त्र भी केवल
ग्रंथरूप में लिखित तर्क ही हुआ।

इसके विपरीत वैदिकों का कहना यह है कि ऐहिक, आमु-
ष्मिक अभ्युदय एवं तदनुकूल धर्म-ब्रह्मादि तत्त्वों के विषय में
उनकी सुन्दरता और उपादेयता इसीलिए है कि वे वेद-
शास्त्र-प्रतिपाद्य हैं। प्रतिपाद्य की सुन्दरता एवं उपादेयता से
प्रतिपादक वेद-शास्त्रों की प्रामाणिकता और उपादेयता नहीं,
बल्कि प्रतिपादक वेद-शास्त्रों के प्रामाण्य से ही प्रतिपाद्य की
सुन्दरता तथा उपादेयता सिद्ध होती है। क्योंकि जिस प्रमाण

की अनादि परम्परा ही समझी जा सकती है। जब एक भी प्रज्ञा-वान् दुःख-निदान या निष्फल कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता, तब भला इतना बड़ा जगत् कैसे प्रवृत्त हो सकता है ?

यदि कहा जाय कि लाभ, पूजा, ख्याति आदि ही वेद और धर्म मानने का एकमात्र लक्ष्य है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि आखिर लाभ आदि ही कैसे होंगे ? धर्म-कर्म का अनुष्ठान, वेदाध्ययन ये सब स्वरूपतः लाभकर नहीं हैं। इसके अतिरिक्त यदि धर्मानुष्ठान में प्रत्यक्ष लाभ हो, तब तो नास्तिकों को भी करना चाहिए, पुनः विवाद ही किससे ? एक बात और भी है कि जिससे लाभ आदि होता है और जो धार्मिकों का दान, सम्मान आदि से पूजन करेंगे, वे ही ऐसा क्यों करते हैं ? यदि यह कहा जाय कि 'ख्याति और अपने में प्राणियों का अनुराग पैदा करने के लिए' और इसमें यह कारण बताया जाय कि 'दान, सम्मान करनेवालों में जनों का राग होता है तथा जनानुराग से नैतिक, आर्थिक सभी प्रकार की सम्पत्ति मिल जाती है', तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का सम्मान, दान अपने व्यवहारानुकूल सचिवों को ही दिया जा सकता है। अरण्यवासी तपस्वियों के लिए ऐसे दान आदि से कुछ भी प्रयोजन सम्पन्न नहीं हो सकता।

कुछ लोग कहते हैं कि 'ये जितने वैदिक तपस्वी थे, वे सभी केवल दूसरों को छलने के लिए ही तप आदि करते थे।' परन्तु उनका यह कथन व्यर्थ है, कारण कि किसी लौकिक प्रयोजन से ही तो किसीकी प्रतारणा की जाती है। जो अत्यंत निःस्पृह हैं, प्रच्छन्नरूप से भी प्राप्त द्रव्यों की ओर देखते तक नहीं और सदा तप करके कष्ट सहते हैं, वे ऐसा क्यों करेंगे ? यदि कहा जाय कि तप, दान, यज्ञ आदि में सुख होता है, तो फिर

नास्तिकों को भी वह सब करना चाहिए। कभी यह भी कहा जाता है कि 'वृद्धों ने ही प्रतारणा कर बालकों को बाल्यकाल से ही वेद और वैदिक कर्मों के प्रति श्रद्धा तथा संस्कार पैदा कर दिये; इसीसे बालकों की भी उनमें प्रवृत्ति हो गयी।' यदि ऐसा ही है, तो फिर वृद्धों की वेदादिकों में उसी तरह श्रद्धा और प्रवृत्ति क्यों देखी जाती है? प्रतारणा करनेवाले दूसरों को ही ठगते हैं, अपनेको तो नहीं। इस पर यदि कहा जाय कि 'इन वृद्धों की भी प्रवृत्ति उनसे के पूर्व के वृद्धों की प्रतारणा से हुई है' तो उन वृद्धों पर भी यही संदेह किया जा सकता है। यदि इस परम्परा को अनादि कहें, तब तो फिर कोई भी प्रतारक सिद्ध नहीं होता, जिससे प्रतारणा की शङ्का स्थिर हो।

यदि कहा जाय कि कोई एक धूर्त अपने-आप ही तीव्र त्याग, तपस्या आदि करके दूसरों को उसमें प्रवृत्त कराता है" तो यहाँ भी समझना चाहिए कि यह ऐसा कौन लोकोत्तर प्रतारक है, जो सर्वस्व देकर, बन्धु-बान्धव आदि को त्यागकर, संसार-सुख से विमुख होकर, ब्रह्मचर्य, तपस्या एवं श्रद्धा से केवल दूसरों की वञ्चना के लिए अपना समस्त जीवन बिताता है? फिर, इस एक का ही बुद्धिमान् लोग अनुगमन भी कैसे करते? दूसरी एक बात यह भी है कि 'इस प्रतारक का ज्ञान भी लोगों को किन चिह्नों से हुआ?' यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'प्रतारण में ही ऐसा सुख होता है' जिसके सामने तप, त्याग आदि का दुःख कुछ भी नहीं है, क्योंकि खर्चीले एवं श्रमसाध्य कार्यों में पाखण्डियों की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

वैदिक आचार का ग्रहण, धारण, अनुष्ठान पाखण्डियों के लिए असम्भव है। मतान्तर का ग्रहण प्राणी आलस्य से कर सकता है। वेदों में दुःखमय कठिन कर्मों की प्रधानता है, अतः

यहाँ आलसियों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह भी नहीं कहा जा सकता 'कि बिना अधिकार के दूसरे मतों से हटाकर इस मत में प्रवेश कराया जाता है' क्योंकि यहाँ अधिकार का नियम बहुत ही कठोर है। भोजन-पान के राग से भी इस मत में सञ्चार नहीं हो सकता; क्योंकि उनमें कठोर संयम, कठोर विभाग राग के स्पष्ट ही बाधक हैं। 'कुशिक्षा तथा कुतर्क के अभ्यास से दूसरे मत में प्रवृत्ति होती है' यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि बाल्यावस्था से ही बालकों की वेदाध्ययन आदि में प्रवृत्ति होती है। यह उन्हें पितृ-पितामह आदि की परम्परा से ही प्राप्त है। इसके विपरीत बातें अन्यान्य मतों में ही लागू होती हैं। कर्मकाण्ड की कमी तथा आचार-विचार का विशेष नियम न होने से उनमें आलसियों की प्रवृत्ति हो सकती है। वैदिक धर्म से पतितों का भी उनमें प्रवेश हो जाता है। इस-लिए भी उधर प्रवृत्ति संभव है। पाद-प्रक्षालन, स्नान, भोजन, पान, वस्त्रधारण जैसी छोटी-से-छोटी बातों के लिए भी जहाँ कठिन नियम बने हैं, वहाँ रागियों की प्रवृत्ति ही कैसे हो सकती है? उन्हें तो उसी मत में आनंद आता है, जिसमें कोई परम्परागत बन्धन नहीं होते; जिसमें भोजन, पान, स्त्रियों आदि के संबंध में मनमानी स्वतंत्रता रहती है।

मनु, वाल्मीकि, कृष्ण, व्यास, पतञ्जलि, गौतम, कणाद प्रभृति महादार्शनिकों ने भी वेद-शास्त्रों का स्वतंत्र प्रामाण्य माना है। रहा तर्क की बात, वह तो केवल संभावनामात्र है। संभावनामात्र प्रमाण नहीं कहा जा सकता। यदि प्रमाणान्तर की सम्मति से तर्क का प्रामाण्य माना जाय, तो फिर जिस प्रमाणान्तर की सम्मति तर्क को अपेक्षित है, वही प्रमाण हुआ, फिर उस तर्क का कोई प्रामाण्य ही न रहा। यदि यह कहा

जाय कि जब तक तर्क का किसी प्रमाण से बाध न हो जाय, तब तक वह भी प्रमाण ही है, तो वह भी संगत नहीं। तर्क के बाध की भी संभावना बनी ही रहेगी। बात यह है कि बाध-भय का मिटना प्रमाणान्तर के ही अधीन है। अतः कहना ही पड़ेगा कि तर्क अङ्ग या अप्रधान तथा शास्त्र अङ्गी या प्रधान है। शास्त्र स्वतःप्रमाण है, शास्त्रमूलक तर्क भी उसके अनुग्रह से ही प्रमाण हो सकता है, वह स्वतःप्रमाण कभी नहीं है। यदि शास्त्र तर्कमूलक हो, तब तो प्रमाणान्तर-सापेक्ष होने से उसे भी तर्क ही समझना चाहिए। तर्कशास्त्र तर्क ही समझा जाता है, वह वेद-शास्त्र आदि की तरह स्वतःप्रमाण नहीं माना जाता।

वर्तमान सभ्यता के लोगों का कहना है कि 'शास्त्रों में से समझ-बूझकर अच्छी-अच्छी बातें माननी चाहिए। आँख मूँदकर शास्त्र की सभी बातें मान्य हों—ऐसी बात नहीं।' परन्तु इससे यही सिद्ध होता है कि शास्त्र तर्कसम्मत, युक्तियुक्त, सुन्दर एवं उपादेय बात कहते हैं, इसलिए आदरणीय हैं। अतः इस पक्ष में तर्क से भिन्न शास्त्र नाम के प्रमाण का कोई स्थान नहीं रह जाता। वेद-शास्त्र भी केवल ग्रंथरूप में लिखित तर्क ही हुआ।

इसके विपरीत वैदिकों का कहना यह है कि ऐहिक, आमुष्मिक अभ्युदय एवं तदनुकूल धर्म-ब्रह्मादि तत्त्वों के विषय में उनकी सुन्दरता और उपादेयता इसीलिए है कि वे वेद-शास्त्र-प्रतिपाद्य हैं। प्रतिपाद्य की सुन्दरता एवं उपादेयता से प्रतिपादक वेद-शास्त्रों की प्रामाणिकता और उपादेयता नहीं, बल्कि प्रतिपादक वेद-शास्त्रों के प्रामाण्य से ही प्रतिपाद्य की सुन्दरता तथा उपादेयता सिद्ध होती है। क्योंकि जिस प्रमाण

से वेद-शास्त्रप्रतिपाद्य धर्म, ब्रह्म आदि तत्त्वों का अस्तित्व तथा उनकी सुन्दरता एवं उपादेयता का बोध हुआ, उन्हीं प्रमाणों से निर्वाह हो सकता है, फिर शास्त्र को प्रमाण मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती। जैसे चक्षु आदि इन्द्रियों से यदि शब्द का बोध हो जाय, तब तो श्रोत्र की आवश्यकता ही क्या रहे? अतः चक्षु आदि से अज्ञात शब्द के ज्ञानार्थ ही श्रोत्र की मान्यता होती है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से अज्ञात धर्म, ब्रह्म आदि के ज्ञान के लिए ही प्रत्यक्ष एवं अनुमान से भिन्न शास्त्र-प्रमाण की आवश्यकता होती है। यदि उनका ज्ञान किसी अन्य प्रमाण से हो जाय, तब शास्त्र को प्रमाण मानना व्यर्थ है। प्रत्यक्ष एवं अनुमान आदि से विज्ञात अर्थ को प्रतिपादित करनेवाले "अग्निर्हिमस्य भेषजम्" इस शास्त्रांश को अनुवादक समझकर स्वार्थ में प्रमाण नहीं माना जाता। गोत्र, धर्म तथा अनेक अतीत तत्त्व ऐसे हो सकते हैं, जहाँ वचन या लेख के अतिरिक्त कोई प्रमाण हो ही नहीं सकता, इसीलिए श्रोत्र आदि की तरह शास्त्र स्वतंत्र प्रमाण माना जाता है।

अतएव बौद्धों के यहाँ यद्यपि तर्कसम्बन्धी अनेक ग्रंथ हैं, तथापि वे तर्क ही समझे जाते हैं। यही कारण है कि बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण माननेवाले कहे जाते हैं। पाश्चात्य विकासवादियों को भी शास्त्र के सम्बन्ध में आंशिक ही मान्यता है, क्योंकि उनके अनुसार वेदों का प्रादुर्भाव पूर्ण विकास की अवस्था में नहीं हुआ। जब पूर्ण विकास होगा तभी कोई सर्वज्ञ हो सकेगा और तभी जो शास्त्र बनेगा, वह सर्वथा सबके लिए मान्य हो सकेगा।

सृष्टि-क्रम के सम्बन्ध में उनका मत अपने यहाँ के मत

सर्वथा भिन्न है। उनका कहना है कि 'सृष्टि का क्रमिक विकास हुआ है। दूरवीक्षण-यन्त्र द्वारा देखा गया है कि विद्युत्कण एवं तेजोमय द्रव्य आकाश में स्थान-स्थान पर एक केन्द्र की प्रदक्षिणा करते रहते हैं। इनकी गति बड़ी तीव्र होती है। खगोलशास्त्रियों का कहना है कि इनके एकत्र हो जाने से सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहों का निर्माण हुआ है। पहले गले हुए पत्थर की तरह कोई खौलता हुआ द्रव्य था। समय पाकर उसके जमने से चट्टानें बनीं और वायुमण्डल शीतल होने पर वाष्प-बादलों में परिणत हो गया। इस तरह धरातल पर प्रथम वर्षा आरम्भ हुई। चट्टानें कट-कट-कर धीरे-धीरे मिट्टी बनने लगीं और उसमें घास-फूस उगने लगे। पहले पहल जल में जीवों का प्रादुर्भाव हुआ। जलजन्तुओं से पक्षी और उनसे स्तनपान करनेवाले पशु बने। बन्दरों में मनुष्यका आकार-प्रकार आने लगा। उससे वनमानुप हुए, जिनकी सन्तान मनुष्य हैं। बहुत दिनों तक वह जङ्गली रहा, धीरे-धीरे सभ्यता के चिन्ह आने लगे और अब उसकी पूर्ण रूप से उन्नति हुई है।' इसी दृष्टि से पाश्चात्य विद्वानों ने भिन्न-भिन्न देशों का इतिहास लिखा है। उनके द्वारा लिखा गया भारतवर्ष का इतिहास भी ऐसा ही है। उनके मतानुसार 'पहले यहाँ भी असभ्य, जंगली बसते थे। फिर आर्यों का आगमन हुआ, जो पहले पञ्जाब में आकर बसे। वहीं जब वे सभ्यता की सीढ़ी पर चढ़ रहे थे, तब वेदों की रचना हुई।'

प्रश्न तो यह है कि विकास-सिद्धान्त किस लिए और किनके लिए प्रचारित किया जाता है? अतीत काल के लोग तो व्यतीत ही हो चुके और भविष्य के लोग वर्तमान के लोगों की अपेक्षा अधिक विज्ञान-सम्पन्न होंगे। फिर उन लोगों के लिए इस सिद्धान्त के निर्माण की आवश्यकता ही क्या है? इसके सिवा भविष्य में होने-

वालों की दृष्टि में भूतकाल के शास्त्र अपूर्ण ही होंगे। वस्तुतः सर्वाधार, सर्वप्रकाशक, सर्वप्रेरक, स्वप्रकाश, सच्चिदानन्द, परम-तत्त्व के बिना किसी प्रकार का विकास एवं उसका क्रम सम्भव नहीं हो सकता। अतः 'सर्वज्ञ, सर्वेश्वर के नित्यविज्ञानभूत वेद अपूर्ण हैं।' यह कथन असंगत ही है। विकास-क्रम के अनुसार यदि वन्दर ही मानव जाति के पूर्वज हैं, तो क्या वन्दरों का ही क्रमिक स्वरूप मनुष्य है या भिन्न-भिन्न जन्तु जन्मान्तरों में मनुष्य बनते हैं? इनमें से द्वितीय पक्ष तो वैदिकों को भी मान्य है। परन्तु 'एक ही देह से बन्दर मनुष्य बनें या बन्दरों की ही वंश-परं-परा से कुछ काल में मनुष्यों का प्रादुर्भाव हुआ हो।' यह बात योग-शक्ति के बिना असम्भव है। यदि बन्दरों की ही परम्परा में मानव जाति का प्रादुर्भाव हुआ, तो फिर बन्दरों की परम्परा क्यों अवशिष्ट है?

ज्ञान-क्रियाशक्ति के विकास से विकास-सिद्धांत की कल्पना निर्मूल है। कारण यह है कि न जाने कितने काल ही से मधुमक्खि-काओं को मधु बनाना आता है भिन्न-भिन्न पुष्पों के कटु, अम्ल, तिक्त आदि अनेक रसों में से केवल मधुर रस का ही संग्रह करना कितनी बड़ी बात है! सूक्ष्म से सूक्ष्म वालुकाओं के बीच से शर्करा-कणों के निकालने की चींटी की विचित्र शक्ति भी विशेषतः उल्ले-खनीय है। जब से पशु-पक्षियों तथा मनुष्यों का प्रादुर्भाव हुआ, तभी से उनके बाह्य एवं आंतर रूपों तथा अवयवों में ऐसी विचित्रता है कि उनकी बराबरी आजतक मानव ने जितने यंत्रों का निर्माण किया है, वे नहीं कर सकते। वायु एवं जल का प्रभाव प्रत्येक अवयव पर किस तरह पड़ता है? मुख द्वारा गृहीत अन्न या जल जाठर अग्नि में परिपक्व होकर नानाविध रसों तथा धातुओं के रूप में परिणत होकर किस प्रकार भिन्न-भिन्न

अवयवों में विभक्त होता है? मन एवं प्राण जैसी सूक्ष्म वस्तुओं का इतना सुन्दर परिणाम कैसे होता है? तृण, दूर्वा आदि का गौ के उदर में जाकर स्तनों से दूध आदि के क्रम से क्या-क्या परिमाण अनुभव में आते हैं? योनि में निषिक्त वीर्य का ही मनुष्य, पशु आदि रूपों में परिमाण कितने चमत्कार की बात है? अनेक प्रकार के रसों का संवहन करनेवाली नाड़ियों तथा नेत्र, श्रोत्र, घ्राण आदि के परिमाण भी कितनी विलक्षणता से युक्त हैं? क्या बिना सर्वनिर्माता, अचिन्त्य-शक्ति परमेश्वर का अस्तित्व माने इसे केवल आकस्मिक विकाश-मात्र मान लेने से काम चल सकेगा?

फिर उसमें से चेतनता का भी विकाश कैसे हुआ? यदि यह भूतों का गुण है, तो जैसे समस्त वस्तुओं का स्वभाव प्रयोग से निश्चित किया जाता है, वैसे ही यह जबतक प्रयोग से सफल न हो, तबतक कैसे मान्य हो सकता है? भूतों के ही संप्रयोग से चैतन्य-प्रादुर्भाव कर लिया जाय, तभी चैतन्य भूत-धर्म है—यह बात मानी जा सकती है। 'भूतों के रहने पर ही चैतन्य रहता है' इतने मात्र से चैतन्य-भूतधर्म नहीं कहा जा सकता। काष्ठ आदि पार्थिव या जलीय पदार्थों के संसर्ग से अग्नि में दाहकता और प्रकाशकता की अभिव्यक्ति होती है, तथापि दाहकता और प्रकाशकता काष्ठ आदि का धर्म नहीं समझा जाता। इसी तरह यद्यपि देह में ही चैतन्य का प्रादुर्भाव होता है, तथापि देह का धर्म नहीं है। अन्वय (साहचर्य) मात्र देखकर दो वस्तुओं के बीच धर्मधर्मिभाव का निर्माण नहीं किया जा सकता, जबतक कि 'व्यतिरेक' भी न मिले। आकाश का अन्वय या साहचर्य घट आदि के साथ है, तथापि आकाश एवं घट का धर्मधर्मिभाव नहीं कहा जा सकता।

कारण स्पष्ट है, भला कहीं आकाश के भी अभाव की कल्पना हो सकती है? यही कारण है कि आकाश से घट की व्यतिरेक-व्याप्ति नहीं बनती। इसी प्रकार यद्यपि देह के रहने पर ही चैतन्य का उपलम्भ होता है और उसके न रहने पर नहीं होता, परन्तु देह के न रहने पर जो चैतन्य का अनुपलम्भ है, वह चैतन्य के न रहने से है अथवा चैतन्य के रहने पर ही अभिव्यञ्जक के अभाव से चैतन्य की अनभिव्यक्तिमात्र है? किसी भी वस्तु के उपलब्ध न होने में स्वयं उसी का अभाव या उसके अभिव्यञ्जक का अभाव ये ही दो कारण होते हैं। गोत्व आदि जातियाँ यद्यपि नित्य एवं व्यापक हैं, तथापि गो-व्यक्ति के न रहने पर विद्यमान गोत्व की भी (व्यक्तिरूप अभिव्यञ्जक के न रहने से) अभिव्यक्ति नहीं होती। अतएव उसका उपलम्भ भी नहीं होता।

इसी तरह अनन्त सत्तत्त्व के रहते हुए भी अभिव्यञ्जक घट आदि के न रहने मात्र से उसकी उपलब्धि नहीं होती। ठीक इसी प्रकार नित्यात्म चैतन्य के विद्यमान रहते हुए भी अभिव्यञ्जकरूप समुचित देहादि-संघात के न रहने से उसकी अभिव्यक्ति मात्र नहीं होती। अतएव स्वप्न में प्रबोधकालिक देह के न रहने पर भी किसी काल्पनिक मानव या व्याघ्रादि-संबंधी अन्य शरीरों द्वारा नाना प्रकार के व्यवहार होते हैं। इन सब कारणों से स्पष्ट है कि चैतन्य भूतधर्म नहीं है। किन्तु जैसे गृह आदि संघात से भिन्न उसका भोक्ता स्वामी होता है, वैसे ही देहादि से भिन्न नित्य, चेतनात्मा देह, इन्द्रिय, मन आदि साधनों से शुभाशुभ कर्मों का अनुष्ठान करता है और किसी सर्वज्ञ, निर्विकार, चैतन्य परमेश्वर के ही नियन्त्रण में रहकर उसकी नियति के अनुसार कर्मों के ही फलरूपमें विविध वैचित्र्य

से समन्वित देह आदि को प्राप्त करता है। ग्रीष्म आदि ऋतुओं की विचित्रता चाहे सूर्य आदि के या पृथिवी के परिभ्रमण से हो, सर्वत्र ही नियमित प्रवृत्ति के लिए सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् की अपेक्षा रहेगी ही।

फिर पाश्चात्य विद्वान् यदि ऐसा लिखें, तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि उन्होंने हमारे यहाँ के वेद-शास्त्रों का मर्म या रहस्य समझा नहीं है और न वे समझ ही सकते हैं। परन्तु आश्चर्य तो तब होता है, जब हम देखते हैं कि हमारे यहाँ के आधुनिक वेदाचार्य भी उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाते हैं। पाश्चात्य विद्वानों की एक बात में अवश्य प्रशंसा करनी पड़ती है। जिस बात के आगे उनकी बुद्धि नहीं जाती, वे स्पष्ट कह देते हैं कि इसके आगे क्या है, हम नहीं बता सकते। उनका मार्ग अन्वेषण का मार्ग है। आज वे एक बात कहते हैं, कल उसी-का खण्डन करने में उन्हें किञ्चित् भी संकोच नहीं होता। पृथिवी लगभग दो अरब वर्ष पुरानी मानी जाती है। इसपर एक विद्वान् लिखते हैं कि 'बहुत संभव है, वह इसके पहले भी रही हो, परन्तु हमारी होश उड़ाने के लिए, हमें सदा हत-बुद्धि करने के लिए तो यही संख्या आवश्यकता से अधिक है।' कुछ दिन पहले सबसे सूक्ष्म पदार्थ परमाणु माना जाता था, किन्तु अब उससे भी बढ़कर विद्युत्कण निकल आया है। इसके भी आगे कुछ पदार्थ बतलाया जाता है। तात्पर्य यह कि विज्ञान अभी अंधकार में टटोल रहा है। अपने यंत्रों द्वारा वह कभी पृथिवी के किसी स्थूल रहस्य की झलक पा जाता है और उसीके आधार पर अपने सिद्धान्तों की भित्ति खड़ी कर देता है। यदि वह अंतिम तह पर, जहाँ सूक्ष्मजंतुओं की कौन कहे, कुशाग्र से कुशाग्र बुद्धि की भी गति नहीं है, पहुँचने में असमर्थ

है, तो इसमें उसका दोष भी नहीं है; क्योंकि यह उसकी शक्ति से परे हैं। किन्तु तमाशा तो यह है कि हम अपने यहाँ के धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा प्राप्त ज्ञान को उसी अनिश्चित विज्ञान की दुम में बाँधने का प्रयत्न करते हैं।

हमारे यहाँ के एक वेदाचार्य लिखते हैं कि 'हमारे पूर्वज पहले अत्यंत असभ्य थे, नग्न रहते थे। पशुओं तथा मनुष्यों का कच्चा मांस खाते थे। लड़ना-भिड़ना ही उनका काम था। पशु ही उनके गुरु थे। उन्हींसे इन्होंने गुह्याच्छादन सीखा। ये पशुचर्म ओढ़ते थे और गदहों की सवारी करते थे। आगे चलकर संघटन तथा प्रजातन्त्र-शासन की स्थापना हुई। सभ्यता का विकास हुआ और ब्राह्मण आदि भेद नियत हुए। यज्ञ-विद्या (केमिस्ट्री) का आविष्कार हुआ। ये लोग अनीश्वरवादी तथा नास्तिक थे। इनका अभिमान था कि हम विज्ञान के आधार पर नवीन सूर्य, चन्द्रमा आदि बना सकते हैं। विज्ञान से ही विज्ञान का विस्तार हुआ। "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः" इस मंत्र में यही बात कही गयी है। आगे उनमें स्पर्धा हुई और सद्वाद, असद्वाद आदि दस मत चल पड़े। फिर उन में से तुषित जाति से उत्पन्न एक महापुरुष ने उन वादों का खण्डनकर 'ईश्वरवाद' की स्थापना की। यह तुषित जाति शूद्र थी, जिसका उस समय वही महत्त्व था, जो कि आज दक्षिण भारत में शूद्रों का है। इस जाति में उत्पन्न वही महापुरुष ब्रह्म को जानने के कारण 'ब्रह्मा' नाम से प्रसिद्ध हुआ। वही स्वयंभू भी कहा गया और उसी ने वेदों का निर्माण किया।'

इस विकाशवादी इतिहास में अपने यहाँ के युगों की कल्पना तो हवा हो गयी। इसके अनुसार पहले तो तमोयुग था, कलियुग था। उस हिसाब से अब सतयुग होना चाहिए।

सके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात यह है कि यदि यही सिद्धान्त ान्य है, तब फिर वेदों की अनादिता, अपौरुषेयता तथा नित्यता हाँ रही ? यहाँ यह प्रश्न भी उठता है कि आखिर वेद हैं क्या ? छ लोग ईश्वरीय ज्ञान को ही वेद बतलाते हैं। किन्तु यह ईश्वरीय ान यदि प्रसिद्ध ऋग्वेद आदि से भिन्न है, तो कौन-सा है ? यदि ह अप्रत्यक्ष है, तो वह हम लोगों के किस काम का है और सकी मान्यता का भी क्या अर्थ रहा ? कुछ लोग ज्ञान को ही वेद हते हैं। किन्तु साधारण ज्ञान से तो समस्त संसार के ही यवहार होते हैं। इसमें भी वेद और उसकी मान्यता का ोई प्रश्न नहीं होता। यदि यथार्थ ज्ञान को वेद कहा ाय, तो यथार्थ ज्ञान है कौन और वह उत्पन्न कैसे होता है ? सी प्रसंग में तो वेदप्रामाण्य पर विचार चल रहा है। छ अर्वाचीनों की राय में 'विद् सत्तायाम्', 'विद्, ज्ञाने' और विद् लाभे' इन तीन धातुओं से वेद शब्द की निष्पत्ति होती है। इसलिए सत्ता, ज्ञान एवं रस को ही वेद कहना चाहिए। नका कहना है कि ये ही तीनों पदार्थ सम्पूर्ण विश्व के मूल हैं। अतएव वेदत्रयी से ही विश्व की उत्पत्ति होती है। इनके सद्धान्तों के अनुसार प्राचीन, अर्वाचीन, दार्शनिकों ने आचार्य-रंपरा से जिस वेद-राशि को वेद मान रखा है, वेदतत्त्व उससे पृथक् ही हैं।

वे ही वेदाचार्य लिखते हैं—'हम आश्चर्यचकित होकर देख रहे हैं कि हिमालय से कन्याकुमारीपर्यन्त, अटक से कटक तक के सभी विद्वान् उपलब्ध ऋग्वेद आदि ग्रंथों को वेद समझ रहे हैं। यही शब्द-संग्रह उनकी विशाल दृष्टि में वेदपदार्थ है। उनकी दृष्टि में पुस्तकों में उपलब्ध शब्दात्मक मन्त्रों से अतिरिक्त ऐसा कोई भी वेद पदार्थ नहीं है, जो विश्व का उपादान बन सकता हो।'

है, तो इसमें उसका दोष भी नहीं है; क्योंकि यह उसकी शक्ति से परे हैं। किन्तु तमाशा तो यह है कि हम अपने यहाँ के धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा प्राप्त ज्ञान को उसी अनिश्चित विज्ञान की दुम में बाँधने का प्रयत्न करते हैं।

हमारे यहाँ के एक वेदाचार्य लिखते हैं कि 'हमारे पूर्वज पहले अत्यंत असभ्य थे, नग्न रहते थे। पशुओं तथा मनुष्यों का कच्चा मांस खाते थे। लड़ना-भिड़ना ही उनका काम था। पशु ही उनके गुरु थे। उन्हींसे इन्होंने गुह्याच्छादन सीखा। ये पशुचर्म ओढ़ते थे और गदहों की सवारी करते थे। आगे चलकर संघटन तथा प्रजातन्त्र-शासन की स्थापना हुई। सभ्यता का विकास हुआ और ब्राह्मण आदि भेद नियत हुए। यज्ञ-विद्या (केमेस्ट्री) का आविष्कार हुआ। ये लोग अनीश्वरवादी तथा नास्तिक थे। इनका अभिमान था कि हम विज्ञान के आधार पर नवीन सूर्य, चन्द्रमा आदि बना सकते हैं। विज्ञान से ही विज्ञान का विस्तार हुआ। "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः" इस मंत्र में यही बात कही गयी है। आगे उनमें स्पर्धा हुई और सद्वाद, असद्वाद आदि दस मत चल पड़े। फिर उन में से तुषित जाति से उत्पन्न एक महापुरुष ने उन वादों का खण्डनकर 'ईश्वरवाद' की स्थापना की। यह तुषित जाति शूद्र थी, जिसका उस समय वही महत्त्व था, जो कि आज दक्षिण भारत में शूद्रों का है। इस जाति में उत्पन्न वही महापुरुष ब्रह्म को जानने के कारण 'ब्रह्मा' नाम से प्रसिद्ध हुआ। वही स्वयंभू भी कहा गया और उसी ने वेदों का निर्माण किया।'

इस विकाशवादी इतिहास में अपने यहाँ के युगों की कल्पना तो हवा हो गयी। इसके अनुसार पहले तो तमोयुग था, कलियुग था। उस हिसाब से अब सतयुग होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात यह है कि यदि यही सिद्धान्त मान्य है, तब फिर वेदों की अनादिता, अपौरुषेयता तथा नित्यता कहाँ रही ? यहाँ यह प्रश्न भी उठता है कि आखिर वेद हैं क्या ? कुछ लोग ईश्वरीय ज्ञान को ही वेद बतलाते हैं। किन्तु यह ईश्वरीय ज्ञान यदि प्रसिद्ध ऋग्वेद आदि से भिन्न है, तो कौन-सा है ? यदि वह अप्रत्यक्ष है, तो वह हम लोगों के किस काम का है और उसकी मान्यता का भी क्या अर्थ रहा ? कुछ लोग ज्ञान को ही वेद कहते हैं। किन्तु साधारण ज्ञान से तो समस्त संसार के ही व्यवहार होते हैं। इसमें भी वेद और उसकी मान्यता का कोई प्रश्न नहीं होता। यदि यथार्थ ज्ञान को वेद कहा जाय, तो यथार्थ ज्ञान है कौन और वह उत्पन्न कैसे होता है ? इसी प्रसंग में तो वेदप्रामाण्य पर विचार चल रहा है। कुछ अर्वाचीनों की राय में 'विद् सत्तायाम्', 'विद्, ज्ञाने' और 'विद् लाभे' इन तीन धातुओं से वेद शब्द की निष्पत्ति होती है। इसलिए सत्ता, ज्ञान एवं रस को ही वेद कहना चाहिए। उनका कहना है कि ये ही तीनों पदार्थ सम्पूर्ण विश्व के मूल हैं। अतएव वेदत्रयी से ही विश्व की उत्पत्ति होती है। इनके सिद्धान्तों के अनुसार प्राचीन, अर्वाचीन, दार्शनिकों ने आचार्य-परंपरा से जिस वेद-राशि को वेद मान रखा है, वेदतत्त्व उससे पृथक् ही हैं।

वे ही वेदाचार्य लिखते हैं—'हम आश्चर्यचकित होकर देख रहे हैं कि हिमालय से कन्याकुमारीपर्यन्त, अटक से कटक तक के सभी विद्वान् उपलब्ध ऋग्वेद आदि ग्रंथों को वेद समझ रहे हैं। यही शब्द-संग्रह उनकी विशाल दृष्टि में वेदपदार्थ हैं। उनकी दृष्टि में पुस्तकों में उपलब्ध शब्दात्मक मन्त्रों से अतिरिक्त ऐसा कोई भी वेद पदार्थ नहीं है, जो विश्व का उपादान बन सकता हो।'

आपके मत में 'ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व के बिना किसी तत्त्व की सृष्टि ही नहीं होती। यही "अनन्त वै वेदाः" का रहस्य है। "विद्यते, वेत्ति, विदन्ति" इन व्युत्पत्तियों के अनुसार सत्ता, चेतना और आनन्द ही वेदशब्द से सूचित होते हैं। सत्तोपलब्धि ऋक्, चेतनोपलब्धि यजुः और आनन्दोपलब्धि साम हैं[1]।

आपकी राय में प्रसिद्ध वेद में उपपत्ति (विज्ञान)-प्रधान वचन ही श्रुति या वेद है। यही परम प्रमाण है। विधायक-निषेधक वेद-भाग तो वेद या श्रुति नहीं, प्रत्युत धर्म-पुस्तक या स्मृति है। इसलिए विधि-प्रतिषेधात्मक 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इत्यादि वचन स्मृति के ठहरते हैं। उपपत्ति-प्रधान वाक्यों का संग्रह विद्या-पुस्तक है, यही वेद-शास्त्र कहलाता है। "वेद-शास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्" इस मनु के वेद-शास्त्र से विज्ञान-शास्त्र ही अभिप्रेत है। 'श्रुति तु वेदो विज्ञेयः प्रमाणं परमं श्रुतिः" इत्यादि स्थानों में श्रुति शब्द से उपपति वाक्य विज्ञान-शास्त्र ही गृहीत[2] है।

'धर्म शास्त्रैकसमधिगम्य है। कार्य-अकार्य की व्यवस्था में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण हैं' इत्यादि वचनों से विदित होता है कि शब्द-राशि ही शास्त्र है। 'वेदशब्देभ्य एवादौ" "शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्" "शास्त्रयोनित्वात्" "इत्यादि श्रुति-सूत्रों से भी आचार्य-परम्परा से अधीयमान शब्द-राशि को ही वेद कहा जाता है। 'आपस्तम्ब' भी मन्त्र और ब्राह्मण को ही वेद कहते हैं--"मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। उदयनाचार्य आदि शिष्ट पुरुषों ने भी वेद का यही लक्षण किया है। "अनुपलभ्यमानमूलान्तरत्वे सति महाजन-

१. वेदाचार्य पं० मोतिलालजी, ईशावास्य, प्रथम खण्ड, पृ० १३६-१३७।
२. वेदाचार्य पं० मोतीलालजी, ईशावास्य, प्रथम खण्ड, १३७-३६।

परिगृहीतवाक्यत्वं वेदत्वम्।" अर्थात् जिसका मूल कोई दूसरा प्रमाण न मिलता हो और जो शिष्ट-परिगृहीत हो, वही वाक्य-समूह वेद है।

अन्य विद्वानों ने भी कहा है कि शब्द एवं शब्दमूलक अर्थापत्ति आदि प्रमाणों द्वारा जिसका अर्थ अवगत हो, जिसके पढ़ने से पारलौकिक सुख उत्पन्न हो एवं जो जीवों से बना हुआ न हो, वह प्रमाणरूप शब्दराशि ही वेद है। प्रत्यक्ष आदि सिद्ध अर्थ को प्रतिपादन करनेवाले अर्थवाद आदि का भी परम तात्पर्य विध्यर्थ की स्तुति में ही है। अतः विधि-वाक्य विना उनका यह अर्थ अवगत नहीं हो सकता—"शब्दातिरिक्तं शब्दोपजीवि प्रमाणातिरिक्तञ्च यत्प्रमाणं तज्जन्य-प्रमितिविषयानतिरिक्तार्थको यो यस्तदन्यत्वे सति आमुष्मिकसुख-जनकोच्चारणकत्वे सति जन्यज्ञानाजन्यो य प्रमाणशब्दस्तत्त्वं वेदत्वम्।"

यदि आदित्य वेद हों या सत्, चित् एवं रस वेद हों, तो उनका प्रमाणकोटि में प्रवेश कैसे हो सकता है; क्योंकि प्रमा के करण को ही प्रमाण कहा जा सकता है। अन्यथा अपरिगणित प्रमाण हो जाते हैं। वैसे तो उपासना के लिए शब्द एवं अर्थ का अभेद-सिद्धान्त मान्य है। आदित्यादि में त्रयी-दृष्टि भी उपासना के लिए संगत है। जैसे योषित में अग्नि-बुद्धि, पृथिवी में ऋक्-बुद्धि, अग्नि में साम-बुद्धि की जाती है, वैसे ही वाक्, प्राण में भी ऋक्-साम की बुद्धि उपासनार्थ मान्य है।

यदि प्रमाणभूत ऋक् आदि शब्द-राशि से भिन्न चाहे जो कुछ भी हो, वह वेद है, तो फिर प्रत्यक्ष आदि से सिद्ध न होनेवाले धर्म, ब्रह्म तथा नाना प्रकार के पदार्थ किंवा आदित्य आदि का वेद होना भी किस प्रमाण से सिद्ध हो सकता है? जिन

शब्द-राशियों के आधार पर इन सब बातों को सिद्ध किया जाता है, उनका ही प्रामाण्य क्यों और कैसे होगा ? क्या वे तर्क-शास्त्र की तरह युक्ति सिद्ध अर्थप्रतिपादन करते हैं ? यदि यह मान्य है, तो याग-विशेष एवं फलविशेष का कार्य-कारणभाव किस युक्ति से सिद्ध होगा ? पुरुष-निर्मित ग्रन्थों में भ्रम, प्रमाद आदि दूषणों से दूषित होने की शंका रहती ही है । फिर जब उसमें वेद-निर्माताओं के विषय में अनेक प्रकार के विवाद हों, तब तो कहना ही क्या ? वेदों का कोई भी कर्ता नहीं है, वे अपौरुषेय हैं । कोई हिरण्यगर्भ, कोई प्रजापति, कोई भिन्न-भिन्न ऋषियों, कोई गड़ेरियों, तो कोई भाण्ड, धूर्त एवं निशाचरों को ही वेदों का निर्माता बतलाते हैं । जिनका कोई विश्वस्त और आप्त कर्ता निर्णीत नहीं हो पाता, उन वेदों का प्रामाण्य कोई भी बुद्धिमान् कैसे मानेगा ? फिर उनके आधार पर किन्हीं भी तत्त्वों और सिद्धान्तों का व्यवस्थापन तर्कसम्मत कैसे हो सकेगा ?

'वेदापौरुषेयत्वाधिकरण' में महर्षि जैमिनि ने 'वेदांश्चैके-सन्निकर्षं पुरुषाख्या, अनित्यदर्शनाच्च, उक्तं तु शब्दपूर्वकत्वम्, आख्याः प्रवचनात्" इत्यादि सूत्रों में आचार्यपरम्परा से अधीयमान शब्दराशि को ही वेद मानकर उनकी अपौरुषेयता सिद्ध की है । "तच्चोदकेषु मंत्राख्याः शेषे ब्राह्मणशब्दः" इत्यादि स्थलों में प्रमाणभूत शब्द-विशेष-राशि को ही वेद कहा गया है । महाभारत आदि के समान वाक्य होने के कारण भी वेदों की पौरुषेयता का संदेह किया जाता है । 'काठक' आदि समाख्या से भी वेदों का कठ आदि ऋषियों से बनाया जाना मानना पड़ता है । प्रवचन तो अनेक पुरुषों से होता है, अतः प्रवचन-संबंध से 'काठक' आदि संज्ञा नहीं हो सकती । इन कारणों से वेदों की अपौरुषेयता पर संदेहकर समाधान किया गया है कि यदि वेदों का कोई कर्ता होता,

तो अध्येताओं की परम्परा से बुद्ध आदि के समान अवश्य ही उसका स्मरण होता। उसी विश्वास से सभी लोग वेदोक्त धर्म का अनुष्ठान करते, क्योंकि अन्य किसी प्रमाण से स्वर्ग और अग्निहोत्र आदि का कार्य-कारणभाव निश्चित ही नहीं हो सकता। यदि वेदों का कोई कर्ता होता तो अर्वाचीन लोग उसे किसी भी तरह न भूलते। इस तरह स्मृति योग्य होते हुए भी स्मरण न होने से शश-विषाण आदि की भाँति वेदों का कर्ता अत्यन्त असत् है।

जो लोग वेदों की पौरुषेयता मानते हैं, वे भी परम्परा से कर्ता का स्मरण नहीं करते। किन्तु वाक्यत्व-हेतु से 'सामान्यतो दृष्ट' अनुमान द्वारा कर्ता का अनुमानकर स्वाभिमत कर्ता सिद्ध कर लेते हैं। 'अमुक कर्ता है' इस प्रकार परम्परा से कर्ता का स्मरण नहीं होता। यदि मनु आदि के समान वेदों का कर्ता स्मृतिपथ में आता, तो 'कौन कर्ता है' यह विवाद ही नहीं उठता। मनुस्मृति, महाभारत या शाक्य-ग्रन्थों में विशिष्ट कर्ता के विषय में विवाद नहीं होता।

वेदाध्ययन आचार्यपूर्वक ही है। जैसे गुरुओं ने अध्ययन किया है, वैसे ही अध्येता अध्ययन करना चाहते हैं। कोई भी वेदों का स्वतन्त्र और पहला अध्येता नहीं है। कोई भी वेदों का कर्ता निश्चित नहीं है। प्रत्युत वेदों की नित्यता ही सिद्ध होती है। इस तरह वेदों की ही शाश्वता एवं मान्यता सिद्ध है।

वेद ही सार्वदेशिक कहे जा सकते हैं, क्योंकि वे किसी देश-विशेष की भाषा में नहीं हैं। जैसे परमेश्वर सर्वसाधारण है, वैसे ही उनका वेद भी सर्वसाधारण की भाषा में ही है। अन्यान्य धर्म-ग्रंथ भिन्न-भिन्न देशों की विभिन्न भाषाओं में हैं। कहा जा सकता है कि वेद भी तो आर्यों की मातृभाषा संस्कृत में ही हैं। फिर वे भी सार्वदेशिक कैसे हो सकते हैं? किन्तु यह कहना संगत नहीं है;

क्योंकि संस्कृत भाषा देव-भाषा है, वह मानुषी भाषा नहीं है। इसीलिए वाल्मीकीय रामायण के सुन्दरकाण्ड में संस्कृता वाक् का मानुषी वाक् से पृथक् उल्लेख है। श्रीहनुमान्‌जी सोचते हैं कि मुझे अवश्य ही मानुषी वाक् बोलनी चाहिए, दूसरी तरह से महाभागा श्रीजानकीजी को समझाया ही नहीं जा सकता। यदि मैं ब्राह्मण की तरह संस्कृत वाणी बोलूँगा, तो सीतामाता रावण समझकर मुझसे भी भयभीत होंगी—

> "अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत्।
> मया सान्त्वयितुं शक्या नान्यथेयमनिन्दिता॥
> यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
> रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥"

द्विजातियों की भी भाषा संस्कृत नहीं है, वह देवभाषा ही है। ब्राह्मण इसलिए संस्कृत वाणी बोलते थे कि उन्हें शास्त्रों का अध्ययन करते करते वैसा अभ्यास पड़ जाता था। इसीलिए नैषध में लिखा है कि भिन्न-भिन्न देश के राजाओं के संस्कृत भाषा बोलने के कारण देवताओं की पहचान नहीं हुई 'सौवर्गवर्गो न नरैरचिह्नि।" इसके अतिरिक्त वेद देवभाषा संस्कृतवाणी में भी नहीं हैं। इसीलिए शब्दों के लौकिक तथा वैदिक दो प्रकार के संस्कार होते हैं। लौकिक संस्कार लोक तथा वेद दोनों में ही बराबर हैं। वे व्याकरण आदि सूत्रों के अनुसार ही होते हैं। इसीलिए शाब्दिकों का कहना है—"छन्दसि दृष्टानुविधिः" अर्थात् छन्द में दृष्ट लक्ष्य के अनुसार ही संस्कार मान्य हैं। व्याकरण में वैदिक-प्रक्रिया भिन्न है, अतः वहाँ लक्ष्य का ही प्राधान्य है, संस्कार का नहीं।

वैदिक मन्त्र शब्द, स्वर और छन्दों से नियन्त्रित होते हैं, लौकिक नहीं। वैदिक वाक्यों का स्वरूप और अर्थ निरुक्त और

प्रातिशाख्य से नियमित हैं; संस्कृत वैसी नहीं है। अतः वेद-भाषा संस्कृत भाषा से विलक्षण है। यह दूसरी बात है कि उसके साथ कुछ अधिक तुल्यता मिल जाय। इसलिए वेद किसीके पक्षपाती नहीं हैं।

जैसे भगवान् सर्वत्र समान हैं; वैसे ही उनका वैदिक धर्म भी साक्षात् या परम्परया प्राणिमात्र का परम उपकारी है। किन्तु पूर्वकथनानुसार अधिकार-विशेष का निर्णय उसका असाधारण गुण है। जैसे कोई औषधि किसीके लिए हितकर तो किसी—के लिए अहितकर होती है; किन्हीं औषधों का किन्हीं यन्त्रों तथा पात्रों में सुपरिणाम और उन्हींका दूसरे यन्त्रों तथा दूसरे पात्रों में दुष्परिणाम होता है, वैसे ही विचित्र-शक्तिसम्पन्न उन वैदिक शब्दों तथा कुछ कर्मों का कहीं सुपरिणाम तो कहीं दुष्परिणाम भी हो जाता है। इसी स्थिति के आधार पर वेदों के उच्चारण, श्रवण और अग्निहोत्र आदि कर्मों में शुद्ध द्विजातियों को ही अधिकार है। अशौचग्रस्तों, पतितों तथा व्रात्य त्रैवर्णिकों का उक्त कर्मों में अधिकार नहीं है। अधिकार-विवेचन में पक्षपात-शून्य हो केवल हितकामना से ही ये नियम हैं। राजसूय में केवल क्षत्रिय का अधिकार है, ब्राह्मण-वैश्य का नहीं। ऐसे ही वैश्य-स्तोम में केवल वैश्यों का ही अधिकार है। इसी तरह किसी-में रथकार का, तो किसीमें स्थपति का ही अधिकार है। ब्राह्मण के लिए मद्य-बिन्दुके पान से ही मरणान्त प्रायश्चित्त है, औरों को वैसा नहीं। ब्राह्मण को सर्वत्याग, क्षत्रियों को साम्राज्य, और गृहस्थों को द्रव्य-दान में पूर्ण स्वधर्म, है तो सर्वमान्य संन्यासी को द्रव्य-दान में पाप। स्व-धर्म से विमुख ब्राह्मण को भी नरक और स्वधर्मनिष्ठ अन्त्यज को भी दिव्य-लोक की प्राप्ति, यह सब

वस्तुस्थिति का अनुसरणमात्र है। माता शिशु के हाथ से ईख छीन लेती है, किन्तु मिश्री दे देती है, तो क्या वहाँ द्वेष है?

कहा जा सकता है कि 'श्रवण आदि में अनधिकारियों के लिए वेद उनका श्रवण आदि के माध्यम से उपकार न करता हुआ विषम व्यवहार करता है।' पर यह सुचिन्तित कथन नहीं है, क्योंकि धनुष आदि धारण करने में असमर्थों के लिए धनुष-धारण का निषेध और कटु औषधों से भीरु लोगों के लिए उन औषधों का निषेध विषमता का मूल नहीं होता। इसी तरह अनधिकारियों के लिए भी निषेध अनुचित नहीं है। इसके अतिरिक्त जैसे योग्यता-सम्पादन के अनन्तर बालकों का भी अधिकार हो जाता है, वैसे ही स्वधर्मानुष्ठान द्वारा जन्मान्तर में द्विजत्व-सम्पादन से यहाँ भी अधिकार हो ही जाता है। किन्तु जैसे जड़, अंध, नपुंसक, बधिर, उन्मत्त, मूक आदि लोगों में श्रवण आदि की लौकिक सामर्थ्य नहीं होती, वैसे ही अलौकिक-सामर्थ्य भी उनमें नहीं रहती। यह अलौकिक सामर्थ्य एकमात्र शास्त्र से ही गम्य है। पुराणों द्वारा वेदार्थ-परिज्ञान, शम, दम आदि मानव के सामान्य धर्मों तथा सर्वशास्त्रफल, भगवद्भक्ति और ज्ञान में मनुष्य-मात्र का अधिकार है और उसी के द्वारा परम कल्याण भी होता है। भगवन्नाम आदि वैदिक धर्मों से मनुष्य की तो कौन कहे, गृध्र, बन्दर, भालू तक की परम सद्गति हुई और होती है—"पाइ न केहि गति पतित-पावन, राम भज सुनु शठ मना।' अतः यह स्पष्ट है कि देश-जाति-पक्षपातशून्य होकर वह मंगल-मय विभु और उसका वेद सभी का कल्याण करनेवाला है।

इस तरह अनेक प्रकार से वेद-शास्त्र ही सर्वशास्ता परमेश्वर के विश्वानुग्राहक वचन होने से मुख्य शास्त्र हैं। सर्वमान्य एवं सार्वभौम गीता जैसे ग्रन्थों में भी वेद ही शास्त्ररूप से मान्य हैं।

सिद्धान्तानुसारी शास्त्र कौन हैं, इसका निर्णय सहज में ही हो जाता है। शास्त्र के संबंध में गीता ने वेदों के अतिरिक्त और किसीकी भी चर्चा नहीं की है। यथा—"ऋक्-साम-यजुरेव च", "वेदानां सामवेदोऽस्मि", "त्रैगुण्यविषया वेदाः", "नाहं वेदैर्न तपसा", "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।" इन वचनों में वेदों की ही चर्चा है। गीता में आनेवाले ब्रह्मर्षि, देवर्षि, राजर्षि आदि महापुरुष भी वैदिक ही थे। गीता के उपदेष्टा और श्रोता के चरित्रों पर ध्यान दें, तो वैदिक आचार-व्यवहार ही लक्षित होता है। गीता जिस महाभारत का सर्वस्व है, उसे देखने से भी वेद और वैदिक-सभ्यता की ही प्रशंसा मिलती है। भारत और गीता के निर्माता भगवान् व्यास भी वेदों और वैदिक-सभ्यता के ही पालक और पोषक प्रतीत होते हैं। इन सहज विवेचनों से स्पष्ट होता है कि वेद और वेद से अविरुद्ध स्मृति, इतिहास, पुराण आदि सद्ग्रन्थ ही शास्त्र हैं और इन शास्त्रों से प्रतिपादित एवं अविरुद्ध मार्ग ही सन्मार्ग है। इस दृष्टि से शास्त्रोक्त एवं शास्त्र से अविरुद्ध भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, वर्णाश्रम-धर्म, राजधर्म, समाज-धर्म ये सभी सन्मार्ग हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस् की प्राप्ति का शास्त्रकथित या शास्त्राविरोधी उपाय ही सन्मार्ग है। अपनी देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार और उनकी हलचलों को शास्त्रीय शृंखला में नियन्त्रितकर शास्त्राविरुद्ध मार्ग से अपने उपादेय की ओर अग्रसर होनेवाले सभी वर्ण और आश्रम के लोग ही साधु हैं। साधुओं के परित्राण, दुष्टों के विनाश एवं धर्म के संस्थापन के लिए ही भगवान् का अवतार होता है। आचार्य श्रीशंकर भगवत्पाद ने यहाँ 'साधु' शब्द का अर्थ सन्मार्गस्थ बतलाया है। अतः सन्मार्ग पर जो कोई भी स्थित है, वही साधु है। निर्दोष, सत्य, सुन्दर एवं कल्याणमय वैदिक मार्ग ही सन्मार्ग

वस्तुस्थिति का अनुसरणमात्र है। माता शिशु के हाथ से ईख छीन लेती है, किन्तु मिश्री दे देती है, तो क्या वहाँ द्वेष है?

कहा जा सकता है कि 'श्रवण आदि में अनधिकारियों के लिए वेद उनका श्रवण आदि के माध्यम से उपकार न करता हुआ विषम व्यवहार करता है।' पर यह सुचिन्तित कथन नहीं है, क्योंकि धनुष आदि धारण करने में असमर्थों के लिए धनुष-धारण का निषेध और कटु औषधों से भीरु लोगों के लिए उन औषधों का निषेध विषमता का मूल नहीं होता। इसी तरह अनधिकारियों के लिए भी निषेध अनुचित नहीं है। इसके अतिरिक्त जैसे योग्यता-सम्पादन के अनन्तर बालकों का भी अधिकार हो जाता है, वैसे ही स्वधर्मानुष्ठान द्वारा जन्मान्तर में द्विजत्व-सम्पादन से यहाँ भी अधिकार हो ही जाता है। किन्तु जैसे जड़, अंध, नपुंसक, बधिर, उन्मत्त, मूक आदि लोगों में श्रवण आदि की लौकिक सामर्थ्य नहीं होती, वैसे ही अलौकिक-सामर्थ्य भी सबमें नहीं रहती। यह अलौकिक सामर्थ्य एकमात्र शास्त्र से ही गम्य है। पुराणों द्वारा वेदार्थ-परिज्ञान, शम, दम आदि मानव के सामान्य धर्मों तथा सर्वशास्त्रफल, भगवद्भक्ति और ज्ञान में मनुष्य-मात्र का अधिकार है और उसीके द्वारा परम कल्याण भी होता है। भगवन्नाम आदि वैदिक धर्मों से मनुष्य की तो कौन कहे, गृध्र, बन्दर, भालू तक की परम सद्गति हुई और होती है—"पाइ न केहि गति पतित-पावन, राम भज सुनु शठ मना।' अतः यह स्पष्ट है कि देश-जाति-पक्षपातशून्य होकर वह मंगल-मय विभु और उसका वेद सभीका कल्याण करनेवाला है।

इस तरह अनेक प्रकार से वेद-शास्त्र ही सर्वशास्ता परमेश्वर के विश्वानुग्राहक वचन होने से मुख्य शास्त्र हैं। सर्वमान्य एवं सार्वभौम गीता जैसे ग्रन्थों में भी वेद ही शास्त्ररूप से मान्य हैं।

सिद्धान्तानुसारी शास्त्र कौन हैं, इसका निर्णय सहज में ही हो जाता है। शास्त्र के संबंध में गीता ने वेदों के अतिरिक्त और किसीकी भी चर्चा नहीं की है। यथा—"ऋक्-साम-यजुरेव च", "वेदानां सामवेदोऽस्मि", "त्रैगुण्यविषया वेदाः", "नाहं वेदैर्न तपसा", "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।" इन वचनों में वेदों की ही चर्चा है। गीता में आनेवाले ब्रह्मर्षि, देवर्षि, राजर्षि आदि महापुरुष भी वैदिक ही थे। गीता के उपदेष्टा और श्रोता के चरित्रों पर ध्यान दें, तो वैदिक आचार-व्यवहार ही लक्षित होता है। गीता जिस महाभारत का सर्वस्व है, उसे देखने से भी वेद और वैदिक-सभ्यता की ही प्रशंसा मिलती है। भारत और गीता के निर्माता भगवान व्यास भी वेदों और वैदिक-सभ्यता के ही पालक और पोषक प्रतीत होते हैं। इन सहज विवेचनों से स्पष्ट होता है कि वेद और वेद से अविरुद्ध स्मृति, इतिहास, पुराण आदि सद्ग्रन्थ ही शास्त्र हैं और इन शास्त्रों से प्रतिपादित एवं अविरुद्ध मार्ग ही सन्मार्ग हैं। इस दृष्टि से शास्त्रोक्त एवं शास्त्र से अविरुद्ध भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, वर्णाश्रम-धर्म, राजधर्म, समाज-धर्म ये सभी सन्मार्ग हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस् की प्राप्ति का शास्त्रकथित या शास्त्राविरोधी उपाय ही सन्मार्ग है। अपनी देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार और उनकी हलचलों को शास्त्रीय शृंखला में नियन्त्रितकर शास्त्राविरुद्ध मार्ग से अपने उपादेय की ओर अग्रसर होनेवालें सभी वर्ण और आश्रम के लोग ही साधु हैं। साधुओं के परित्राण, दुष्टों के विनाश एवं धर्म के संस्थापन के लिए ही भगवान् का अवतार होता है। आचार्य श्रीशंकर भगवत्पाद ने यहाँ 'साधु' शब्द का अर्थ सन्मार्गस्थ बतलाया है। अतः सन्मार्ग पर जो कोई भी स्थित है, वही साधु है। निर्दोष, सत्य, सुन्दर एवं कल्याणमय वैदिक मार्ग ही सन्मार्ग

है। अतएव भगवान् ने कर्तव्य एवं अकर्तव्य को जानने के लिए शास्त्र का ही आश्रयण करना बतलाया है।

शास्त्र क्या है, इस विषय में नवीन व्याख्याताओं का सिद्धान्त यही है कि 'भिन्न-भिन्न देश, काल और अवस्थाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न समाज या समाज के सञ्चालक पुरुषों द्वारा बनाये गये नियम ही शास्त्र हैं। इस शास्त्रविधि का पालन ही व्यष्टि, समष्टिरूप सम्पूर्ण जगत् के संरक्षण का मूल है।' गीता को सार्वभौम ग्रंथ बनाने के लिए व्यग्र कुछ आधुनिक लोग गीतोक्त 'शास्त्र' का भी यही अर्थ करते हैं। उनकी दृष्टि में 'भारत के हिन्दुओं में ही नहीं, प्रत्युत कुछ परिगणित लोगों में प्रचलित वेद ही गीतोक्त शास्त्र हैं। किन्तु ऐसा कहना गीता की महत्ता घटाना और उसे संकीर्ण बनाना है। वे लोग यह नहीं समझते कि जो सिद्धान्त बहुतों में प्रचलित हो, वही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त नहीं समझा जा सकता। संसार में जितना देहात्मवाद प्रचलित है, उतना देह-भिन्न जीव, परमेश्वर तथा धर्म-सम्बन्धी वादों का प्रचार न कभी हुआ और न हो सकता है। फिर क्या सार्वभौममात्र होने से ही देहात्मवाद को महत्त्वपूर्ण वाद मान लिया जाय ? धर्म, ईश्वर को मानना और उसके लिए प्रयत्न करना बहुत ही कम लोगों में देखा जाता है। फिर क्या संकीर्णता के भय से इन सत्य तत्त्वों का भी अपलाप किया जा सकता है ? काल-क्रम से सात्त्विक, राजस, तामस सभी भावों का संकोच-विकास होता ही रहता है। इसी प्रकार वैदिक-भावनाओं एवं मान्यताओं का आज संकोच हो जाने पर भी कभी विश्व के सभी, भगवान् एवं उनके सन्मार्ग की जिज्ञासा रखनेवालों का विकास रहा और फिर भी रहेगा।

शास्त्र की उपर्युक्त आधुनिक परिभाषा यद्यपि आपाततः व्यापक और रमणीय प्रतीत होती है, तथापि थोड़ी-सी गम्भीरता

के साथ विवेचन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि कोई मनुष्य या उनका समूह, जो सर्वदर्शी नहीं है, लौकिक कर्तव्यों के उसे निर्णय में भी जब हिमालय जैसी गलती कर सकता है, तो फिर लोक-परलोक तथा उनके साधन लौकिक-अलौकिक अनेक उपायों का यथार्थ ज्ञान कैसे हो सकता है ? निष्कर्ष यह कि अपने-अपने वर्ण एवं आश्रम के अधिकारानुसार श्रौत-स्मार्त एवं तद्विरुद्ध मार्ग पर चलनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वनस्थ, संन्यासी -अधिक क्या, संसार के सभी स्त्री-पुरुष साधु हैं। शास्त्रानुमोदित सन्मार्ग पर आरूढ़ रहनेवाले इन साधुओं की रक्षा करने के लिए ही भगवान् का अवतार है। दुष्कृतियों का विनाश और धर्म-संस्थापन भी इन्हींके परित्राण में उपयुक्त हो जाता है। इस दृष्टि से भी वेद ही गीता-सम्मत शास्त्र ठहरता है।

'तर्क अप्रधान तथा शास्त्र प्रधान है, यह कोई सर्वमान्य निष्कर्ष नहीं हो सकता। सर्वसाधारण को तो कोई शास्त्रप्रणेता परमेश्वर उपलब्ध नहीं होता"—यह कहना कोई आश्चर्यजनक नहीं। क्योंकि जैसे लोक-संस्कार न होने से प्राणी लौकिक वस्तु को नहीं देख सकता, वैसे ही शास्त्र-संस्कार न होने पर वह शास्त्रीय वस्तु को भी देख नहीं सकता। जैसे दिव्यांजन द्वारा सुसंस्कृत चक्षुवाले पुरुष को भूगर्भ में छिपे हुए रत्न आदि का विज्ञान होता है, वैसे ही शास्त्रसंस्कारवाले ही शास्त्रीय वस्तु को निर्विवाद देख सकते हैं।

ईश्वर, जीव, जगत्, धर्म एवं तत्त्व—इन पाँच विषयों का जहाँ सम्यक् निरूपण हो, वही शास्त्र है। अथवा 'शिष्यते हितमुपदिश्यतेऽनेनेति शास्त्रम्' जिससे हित का उपदेश हो, वही शास्त्र

वस्तुस्थिति का अनुसरणमात्र है। माता शिशु के हाथ से ईख छीन लेती है, किन्तु मिश्री दे देती है, तो क्या वहाँ द्वेष है?

कहा जा सकता है कि 'श्रवण आदि में अनधिकारियों के लिए वेद उनका श्रवण आदि के माध्यम से उपकार न करता हुआ विषम व्यवहार करता है।' पर यह सुचिन्तित कथन नहीं है, क्योंकि धनुष आदि धारण करने में असमर्थों के लिए धनुष-धारण का निषेध और कटु औषधों से भीरु लोगों के लिए उन औषधों का निषेध विषमता का मूल नहीं होता। इसी तरह अनधिकारियों के लिए भी निषेध अनुचित नहीं है। इसके अतिरिक्त जैसे योग्यता-सम्पादन के अनन्तर बालकों का भी अधिकार हो जाता है, वैसे ही स्वधर्मानुष्ठान द्वारा जन्मान्तर में द्विजत्व-सम्पादन से यहाँ भी अधिकार हो ही जाता है। किन्तु जैसे जड़, अंध, नपुंसक, बधिर, उन्मत्त, मूक आदि लोगों में श्रवण आदि की लौकिक सामर्थ्य नहीं होती, वैसे ही अलौकिक-सामर्थ्य भी सबमें नहीं रहती। यह अलौकिक सामर्थ्य एकमात्र शास्त्र से ही गम्य है। पुराणों द्वारा वेदार्थ-परिज्ञान, शम, दम आदि मात्र के सामान्य धर्मों तथा सर्वशास्त्रफल, भगवद्भक्ति और ज्ञान में मनुष्य-मात्र का अधिकार है और उसीके द्वारा परम कल्याण भी होता है। भगवन्नाम आदि वैदिक धर्मों से मनुष्य की तो कौन कहे, गृध्र, बन्दर, भालू तक की परम सद्गति हुई और होती है—"पाइ न केहि गति पतित-पावन, राम भज सुनु शठ मना।" अतः यह स्पष्ट है कि देश-जाति-पक्षपातशून्य होकर वह मंगल-मय विभु और उसका वेद सभीका कल्याण करनेवाला है।

इस तरह अनेक प्रकार से वेद-शास्त्र ही सर्वशास्ता परमेश्वर के विश्वानुग्राहक वचन होने से मुख्य शास्त्र हैं। सर्वमान्य एवं सार्वभौम गीता जैसे ग्रन्थों में भी वेद ही शास्त्ररूप से मान्य हैं।

सिद्धान्तानुसारी शास्त्र कौन हैं, इसका निर्णय सहज में ही हो जाता है। शास्त्र के संबंध में गीता ने वेदों के अतिरिक्त और किसीकी भी चर्चा नहीं की है। यथा—"ऋक्-साम-यजुरेव च", "वेदानां सामवेदोऽस्मि", "त्रैगुण्यविषया वेदाः", "नाहं वेदैर्न तपसा", "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।" इन वचनों में वेदों की ही चर्चा है। गीता में आनेवाले ब्रह्मर्षि, देवर्षि, राजर्षि आदि महापुरुष भी वैदिक ही थे। गीता के उपदेष्टा और श्रोता के चरित्रों पर ध्यान दें, तो वैदिक आचार-व्यवहार ही लक्षित होता है। गीता जिस महाभारत का सर्वस्व है, उसे देखने से भी वेद और वैदिक-सभ्यता की ही प्रशंसा मिलती है। भारत और गीता के निर्माता भगवान् व्यास भी वेदों और वैदिक-सभ्यता के ही पालक और पोषक प्रतीत होते हैं। इन सहज विवेचनों से स्पष्ट होता है कि वेद और वेद से अविरुद्ध स्मृति, इतिहास, पुराण आदि सद्ग्रन्थ ही शास्त्र हैं और इन शास्त्रों से प्रतिपादित एवं अविरुद्ध मार्ग ही सन्मार्ग है। इस दृष्टि से शास्त्रोक्त एवं शास्त्र से अविरुद्ध भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, वर्णाश्रम-धर्म, राजधर्म, समाज-धर्म ये सभी सन्मार्ग हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस् की प्राप्ति का शास्त्रकथित या शास्त्राविरोधी उपाय ही सन्मार्ग है। अपनी देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार और उनकी हलचलों को शास्त्रीय शृंखला में नियन्त्रितकर शास्त्राविरुद्ध मार्ग से अपने उपादेय की ओर अग्रसर होनेवाले सभी वर्ण और आश्रम के लोग ही साधु हैं। साधुओं के परित्राण, दुष्टों के विनाश एवं धर्म के संस्थापन के लिए ही भगवान् का अवतार होता है। आचार्य श्रीशंकर भगवत्पाद ने यहाँ 'साधु' शब्द का अर्थ सन्मार्गस्थ बतलाया है। अतः सन्मार्ग पर जो कोई भी स्थित है, वही साधु है। निर्दोष, सत्य, सुन्दर एवं कल्याणमय वैदिक मार्ग ही सन्मार्ग

है। अतएव भगवान् ने कर्तव्य एवं अकर्तव्य को जानने के लिए शास्त्र का ही आश्रयण करना बतलाया है।

शास्त्र क्या है, इस विषय में नवीन व्याख्याताओं का सिद्धान्त यही है कि 'भिन्न-भिन्न देश, काल और अवस्थाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न समाज या समाज के सञ्चालक पुरुषों द्वारा बनाये गये नियम ही शास्त्र हैं। इस शास्त्रविधि का पालन ही व्यष्टि, समष्टिरूप सम्पूर्ण जगत् के संरक्षण का मूल है।' गीता को सार्वभौम ग्रंथ बनाने के लिए व्यग्र कुछ आधुनिक लोग गीतोक्त 'शास्त्र' का भी यही अर्थ करते हैं। उनकी दृष्टि में 'भारत के हिन्दुओं में ही नहीं, प्रत्युत कुछ परिगणित लोगों में प्रचलित वेद ही गीतोक्त शास्त्र हैं। किन्तु ऐसा कहना गीता की महत्ता घटाना और उसे संकीर्ण बनाना है। वे लोग यह नहीं समझते कि जो सिद्धान्त बहुतों में प्रचलित हो, वही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त नहीं समझा जा सकता। संसार में जितना देहात्मवाद प्रचलित है, उतना देह-भिन्न जीव, परमेश्वर तथा धर्म-सम्बन्धी वादों का प्रचार न कभी हुआ और न हो सकता है। फिर क्या सार्वभौममात्र होने से ही देहात्मवाद को महत्त्वपूर्ण वाद मान लिया जाय? धर्म, ईश्वर को मानना और उसके लिए प्रयत्न करना बहुत ही कम लोगों में देखा जाता है। फिर क्या संकीर्णता के भय से इन सत्य तत्त्वों का भी अपलाप किया जा सकता है? काल-क्रम से सात्त्विक, राजस, तामस सभी भावों का संकोच-विकास होता ही रहता है। इसी प्रकार वैदिक-भावनाओं एवं मान्यताओं का आज संकोच हो जाने पर भी कभी विश्व के सभी, भगवान् एवं उनके सन्मार्ग की जिज्ञासा रखनेवालों का विकास रहा और फिर भी रहेगा।

शास्त्र की उपर्युक्त आधुनिक परिभाषा यद्यपि आपाततः व्यापक और रमणीय प्रतीत होती है, तथापि थोड़ी-सी गम्भीरता

के साथ विवेचन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि कोई मनुष्य या उनका समूह, जो सर्वदर्शी नहीं है, लौकिक कर्तव्यों के उसे निर्णय में भी जब हिमालय जैसी गलती कर सकता है, तो फिर लोक-परलोक तथा उनके साधन लौकिक-अलौकिक अनेक उपायों का यथार्थ ज्ञान कैसे हो सकता है ? निष्कर्ष यह कि अपने-अपने वर्ण एवं आश्रम के अधिकारानुसार श्रौत-स्मार्त एवं तद्विरुद्ध मार्ग पर चलनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वनस्थ, संन्यासी - अधिक क्या, संसार के सभी स्त्री-पुरुष साधु हैं। शास्त्रानुमोदित सन्मार्ग पर आरूढ़ रहनेवाले इन साधुओं की रक्षा करने के लिए ही भगवान् का अवतार है। दुष्कृतियों का विनाश और धर्म-संस्थापन भी इन्हींके परित्राण में उपयुक्त हो जाता है। इस दृष्टि से भी वेद ही गीता-सम्मत शास्त्र ठहरता है।

'तर्क अप्रधान तथा शास्त्र प्रधान है, यह कोई सर्वमान्य निष्कर्ष नहीं हो सकता। सर्वसाधारण को तो कोई शास्त्रप्रणेता परमेश्वर उपलब्ध नहीं होता"—यह कहना कोई आश्चर्यजनक नहीं। क्योंकि जैसे लोक-संस्कार न होने से प्राणी लौकिक वस्तु को नहीं देख सकता, वैसे ही शास्त्र-संस्कार न होने पर वह शास्त्रीय वस्तु को भी देख नहीं सकता। जैसे दिव्यांजन द्वारा सुसंस्कृत चक्षुवाले पुरुष को भूगर्भ में छिपे हुए रत्न आदि का विज्ञान होता है, वैसे ही शास्त्रसंस्कारवाले ही शास्त्रीय वस्तु को निर्विवाद देख सकते हैं।

ईश्वर, जीव, जगत्, धर्म एवं तत्त्व—इन पाँच विषयों का जहाँ सम्यक् निरूपण हो, वही शास्त्र है। अथवा 'शिष्यते हितमुपदिश्यतेऽनेनेति शास्त्रम्' जिससे हित का उपदेश हो, वही शास्त्र

है। वैसे तो अर्थ, काम आदि का उपदेश भी हितोपदेश है; अतएव अर्थशास्त्र, कामशास्त्र आदि भी प्रख्यात ही हैं। किन्तु हित वस्तुतः धर्म और ब्रह्म ही है। अतः धर्म, ब्रह्म तथा तदुपयुक्त पदार्थों का सम्यक् निर्णय जहाँ हो, वही शास्त्र है। विवेकियों में ही शास्त्र का आदर एवं पालन होता है। अविवेकियों में तो अपने-अपने मनोरथों के अनुसार भिन्न-भिन्न तर्कों का ही सम्मान है। पूर्वोक्त पाँचों विषयों में से अपनी इच्छा के अनुसार किसीका ऊह किया जाता है, तो किसीका त्याग। इसी कारण तार्किकों में मतभेद भी है। 'सुन्दोपसुन्दन्याय'[1] से परस्पर व्याघात होने के कारण दोनों का ही खण्डन हो जाता है।

कुछ लोग बड़े गर्व से कहते हैं कि 'हम तो शास्त्र-फास्त्र कुछ नहीं मानते।' किन्तु क्या वे लोग सर्वज्ञ होकर ऐसा कहते हैं अथवा असर्वज्ञ होकर ? प्रथम पक्ष तो ऐसे लोगों के लिए, जिनकी बुद्धि का कुछ ठिकाना नहीं, सर्वथा असम्भव है। द्वितीय-पक्ष में भी छिछलापन बहुत स्पष्ट है। 'सर्वशास्ता का वचन नहीं मानेंगे' ऐसा कहनेवाला सिवा बालक के और कौन देखा गया है ? जिस देश में या जिसके वचन में शास्त्रत्व-निर्णय है, उसमें बुद्धिमानों की अवश्य ही श्रद्धा है। केवल किसी एक के न मानने से क्या हो सकता है ? यद्यपि कहा जा सकता है कि 'अकेले ही नहीं, किन्तु बहुत-से ऐसे हैं, जो शास्त्र को नहीं मानते। अतः जैसे शास्त्र माननेवालों का पक्ष है, वैसे ही

---

१. सुन्द एवं उपसुन्द नाम के दो अत्यन्त प्रबल दैत्य थे। एक रूपवती स्त्री पर दोनों आसक्त होकर आपस में ही कट मरे, यही सुन्दोपसुन्द न्याय है।

शास्त्र न माननेवालों का भी एक पक्ष है।' किन्तु क्या बहुमत से ही किसी अर्थ की सिद्धि हो जाती है? अभियुक्तों का तो कहना है कि एक भी वेद-रहस्यज्ञ जिसे धर्म बतलाता है, वही धर्म है; दशसहस्र अज्ञों का कथन भी धर्म में प्रमाण नहीं हो सकता—

"एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्धि कर्हिचित्।
स धर्म इति विज्ञेयो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥"

जैसे सहस्रों अन्धों का मूल्य बाह्य वस्तु के कथन और स्वरूपनिर्देश की दृष्टि से एक चक्षुष्मान् के भी बराबर नहीं है, वही स्थिति धर्माधर्म के विषय में सहस्रों अज्ञों की है। प्रमाणनिरपेक्ष कथन जैसे एक का है, वैसे ही सहस्रों का भी। इसलिए जो स्वयं असर्वज्ञ हैं और शास्त्रों को नहीं मानते, उनका कोई पक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि पक्षान्तर होने में असर्वज्ञता ही प्रतिबन्धक है। लोक में बहुमत के ढकोसले में सिवा प्रतारणा के और कुछ नहीं है। सदा ही, सर्वत्र कुछ इने-गिने व्यक्तियों तथा पत्र-पत्रिकाओं के प्रभाव से बहुमत बनाया जाता है। इसलिए बहुमत की कोई निष्ठा नहीं। लाठी लेकर हाँकनेवाले के पीछे भेंड़ और भैंस के समान, जन-समूह किसी भी प्रभावशाली व्यक्ति के पीछे चल पड़ता है। जो सिद्धान्त आज बहुमत से मान्य है, वही कल असान्य भी हो जाता है। आज का बहुमत कबतक स्थिर रहेगा, यह कहा नहीं जा सकता। भिन्न-भिन्न देशों में जिन कतिपय व्यक्तियों का साथ देकर जन-समूह ने उनका बल बढ़ाया और विजय करायी, अन्य प्रभावशाली नेताओं को पाकर उसी जनसमूह ने उन्हीं लोगों को फाँसी पर भी लटकवा दिया। क्या रोगस्वरूप तथा औषध-उपचार आदि के सम्बन्ध में भी बहुमत का कोई मूल्य हो सकता है? यहाँ तो प्रत्यक्ष ही है कि एक विज्ञ चिकित्सक के सामने सहस्रों अज्ञ व्यक्तियों का कुछ भी

मूल्य नहीं। असर्वज्ञता जीवों का स्वभाव है—"सर्वः सर्वं न जानाति सर्वज्ञो नैव कश्चन।" सभी असर्वज्ञ किसी सर्वज्ञ की अपेक्षा रखते हैं। जबतक सर्वज्ञता पूर्ण न हो, तबतक यथार्थ ज्ञान एवं उसकी वृद्धि के लिए सर्वज्ञ की अपेक्षा युक्त हो है। अतएव सर्वज्ञ परमेश्वर ही सर्व-शासक है। उनका शासन ही अकृत्रिम वचनरूप वेद हैं; क्योंकि वे अनुसंधानपूर्वक (बुद्धि-पूर्वक) नहीं बनाये गये हैं और उनका वक्ता भी सर्वज्ञ है।

यद्यपि पौरुषेय ग्रंथ के बुद्धिपूर्वक निर्माण से ही उसका महत्त्व एवं मान्यता होती है, तथापि बुद्धिपूर्वक निर्माण में बुद्धि के भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों से दूषित होने की आशंका रहती है। इसके विपरीत अकृत्रिम, अतएव अबुद्धिपूर्वक वाक्यों में उक्त दोषों की शंका ही नहीं रहती। फिर जब उनका वक्ता प्रथम सर्वज्ञ है, तब तो कहना ही क्या है? यद्यपि भगवान् सर्वज्ञ हैं, अतः यदि परमेश्वर ने बुद्धिपूर्वक भी वेद कहा हो, तो भी कोई हानि नहीं; तथापि आस्तिकों का यही अभिनिवेश है कि वेदों के निर्माण में परमेश्वर का स्वातंत्र्य नहीं है।

कहा जाता है कि 'परमेश्वरके निःश्वासरूप वेदों में वैसा महत्त्व नहीं है जैसा कि गीता में; क्योंकि निःश्वास तो सुषुप्ति, स्वप्न, प्रबोध, सावधानी, असावधानी सभी दशाओं में चलते रहते हैं। किन्तु गीता का तो प्रबोध-काल में तथा सावधान एवं योग-युक्त होकर ही भगवान ने उपदेश किया है, पर यह ठीक नहीं।' महाभारत-युद्ध की समाप्ति होने पर अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थना पूर्वक प्रश्न किया था—'भगवान, आपने संग्राम-आरंभ के पूर्व कुछ उपदेश किया था, वह संग्राम की व्यग्रता से मुझे विस्मृत हो गया। अब कृपया मुझे उसी तत्त्व का उपदेश कीजिये।' भगवान् ने कहा—'अर्जुन! मैंने योगयुक्त होकर

तुम्हारी हितकामना से उस तत्त्व का उपदेश किया था—"स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने।" अब, उस प्रकार से तो नहीं, पर संक्षेप में कुछ कहता हूं' यह कहकर भगवान् ने 'अनुगीता' का उपदेश किया है। सर्वज्ञ, तथापि योग-युक्त भगवान् के मुख-सरोज से निकली गीता-सुधा एक ओर और प्रबोधोन्मुख भगवान् का निःश्वासस्वरूप वेद दूसरी ओर। एक दृष्टि से गीता का ही महत्त्व वेदों की अपेक्षा अधिक ठहरता है। किन्तु विवेकियों ने भगवान् की सर्वज्ञता एवं योगयुक्तता का उपयोग वेद-शास्त्र एवं उपनिषदों के सार अन्वेषण करने में ही किया है।

अतएव उन्होंने उपनिषदों को गौ मानकर अर्जुन को वत्स एवं गोपालनंदन कृष्ण को सचमुच दोग्धा गोपाल बनाकर वेद तथा उपनिषदों के सारभूत गीतामृत को लोकोत्तर दुग्ध का रूपक दे दिया गया है। इस दृष्टि से भी गीता का महत्त्वपूर्ण सम्मान है, कारण गौ की अपेक्षा दुग्ध का, ईख की अपेक्षा उसके सर्वस्व सिता, शर्करा आदि का महत्त्व अधिक होता ही है। पुनः सर्वज्ञ एवं योग-युक्त द्वारा मथित एवं निष्कासित गीतामृत का जितना ही महत्त्व समझा जाय, उतना ही कम है। तथापि यह भी ध्यान में रखने योग्य बात है कि वेद किसीके बुद्धिपूर्वक निर्मित नहीं हैं। इसीलिए उनका महत्त्व इतना अधिक है कि गीता की मान्यता भी वेद-मूलक होने में ही है। यद्यपि गीता सर्वज्ञ, सावधान परमेश्वर की ही कृति है, किन्तु यदि वह वेदविरुद्ध हो, तो कदापि उसकी मान्यता नहीं हो सकती। भगवान् बुद्ध परमेश्वर के ही अवतार समझे जाते हैं, किन्तु वेदविरुद्ध होने के कारण ही आस्तिकों में उनका सम्मान नहीं है।

इस तरह पुरुषों से स्वतन्त्रता ही ग्रंथों के प्रामाण्य में मूल हो जाया करती है, अतः प्रामाण्य-परीक्षण के लिए वेदों में

पुरुष-स्वातन्त्र्य का वारण बड़े प्रयत्न से किया जाता है। कहा गया है—"यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता।" सर्वज्ञ परमेश्वर भी वेदों के निर्माण में स्वतन्त्र नहीं है। किन्तु सुप्त-प्रतिबुद्ध न्याय से (सोकर जगा हुआ छात्र जिस प्रकार विगत दिवस के पाठ का, अधीत विषयों का स्मरण करता है, उसी प्रकार) परमेश्वर पूर्वकल्प की वेद-आनुपूर्वी का स्मरणकर कल्पान्तर में उपदेश करते हैं। इसीलिए परमेश्वर वेदों के स्मर्ता या वक्ता कहे जाते हैं। जैसे पुरुष निःश्वासों का निर्माता नहीं समझा जाता, वैसे ही अपने निःश्वासरूप वेदों के भी निर्माता भगवान् नहीं हैं। वे केवल उनके आविर्भाव के निमित्त हैं। समर्थ एवम् सर्वज्ञों के कोई भी कार्य अनेक उद्देश्यों के लिए होते हैं। पुराणों से परिज्ञात होता है कि बुद्धदेव परमेश्वर के अवतार ही थे। वेदों से अनधिकारियों की प्रवृत्ति हटाने के लिए यज्ञ-यागादि के व्याज से बढ़ी हुई हिंसा, मद्यपान आदि पापों का निराकरण करने के लिए ही वेद और यज्ञ आदि का उन्होंने खण्डन किया था। आस्तिकों की तो स्थिति यह है कि वे वेद के सामने वेदवेद्य भगवान् को भी नहीं मानते।

जिस प्रकार पहले से विद्यमान निःश्वास का पुरुष के विना प्रयत्न के प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार नियत आनुपूर्वीवाले वेदों की भी निरायास उत्पत्ति होती है। पुरुषनिःश्वास बुद्धि की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि स्वप्न या सुषुप्ति में जिस समय बुद्धि या उसकी क्रियाशीलता का अभाव हो जाता है, उस समय भी श्वास-प्रश्वासों का प्रवाह चलता दीखता है। ठीक इसी प्रकार वेदों के प्रादुर्भाव में भी बुद्धि का सम्बन्ध अनपेक्षित है। इसीलिए बुद्धि के गुण या दोष का भी वेद में सम्पर्क तक नहीं है। अतएव वेद निरपेक्ष रूप से ही प्रमाण हैं। पुरुष-

निःश्वास के समान जो बिना बुद्धि एवं प्रयत्न के ही अभिव्यक्त हो, वही ग्रन्थ स्वतःप्रमाण माना जा सकता है। इन्हीं भावों का सूचन "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यत् ऋग्वेदो यजुर्वेदः" इस श्रुति में मिलता है। इसमें वेदों को परमेश्वर का निःश्वास बतलाया है।

वेदों के विरुद्ध भगवान् की भी आज्ञा न मानना वैसी ही आस्तिकता है, जैसी कि गुरु की आज्ञा के विरुद्ध गोविंद की आज्ञा त्यागना। यह भगवान् का अपमान नहीं, प्रत्युत सम्मान है, कारण जीवों को वेदों तथा गुरुओं के द्वारा ही तो भगवान् का बोध होता है। यदि उनमें दृढ आस्था न होगी, तो फिर भगवान् में ही वह आस्था कितने दिनों तक टिक सकेगी? वालुका की भीत के समान वेद-शास्त्रविहीन ईश्वर-श्रद्धा को गिरते विलम्ब न लगेगा। अतः जब वेद-शास्त्रों तथा गुरुओं से ही भगवान् का अस्तित्व एवं उनकी उपादेयता ज्ञात होती है, तब उनमें अधिक दृढ़ श्रद्धा आवश्यक ही है। रामायण, भागवत, भारत आदि ग्रन्थों के ही आधार पर राम, कृष्ण, विष्णु, शिव आदि भगवत्स्वरूपों का बोध होता है। ये न हों, तो उनकी उपादेयता को कौन कहे, अस्तित्व भी संकटग्रस्त हो जाता है। अतः जिनके द्वारा भगवान् की ख्याति और मान्यता है, उन्हें न मानना ही उनका अपमान है। शिव के रुष्ट होने पर गुरु रक्षक है, पर गुरु के रुष्ट होने पर कोई भी रक्षक नहीं है—"शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन।" श्रीपार्वतीजी कहती हैं—

"तजो न नारद कर उपदेशू। आप कहैं शतबार महेशू॥
गुरु के बचन प्रतीत न जेहीं। सपनेहुँ शुभगति सुमति कि तेहीं॥"

वेद साक्षात् भगवान् के अवतार ही हैं, स्वरूप ही हैं। "स्वयं-

मेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम"—पुरुषोत्तम भगवान् का बोध सिवा वेदों के और किसी तरह नहीं है। "वेदो नारायणः साक्षात्", "वेदस्य चेश्वरीयत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः"—भागवत के इन पद्यों से भी वेद को साक्षात् भगवद्वीर्य कहा गया है। भगवान् भी "लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ" इस गीता-वचन में 'मया' इस अंश से अपने वेदस्वरूप की ही इङ्गना कर रहे हैं, 'वेदरूप से मैंने प्रथम ही दो निष्ठाओं का वर्णन किया है।' इतना ही नहीं, प्रत्युत भगवान् के अस्तित्व एवं उपादेयता को प्रकाश करनेवाला वेद-स्वरूप भगवान् से भी श्रेष्ठ है।

प्रकाश्य से अधिक प्रकाशक का महत्त्व प्रसिद्ध ही है। भगवान् के स्वप्रकाश चिदंश का ही वेदरूप में प्रादुर्भाव हुआ है। यही समस्त शब्द-ब्रह्म का उत्पत्तिस्थान है। वैयाकरण इसीसे प्रपञ्च की सृष्टि मानते हैं—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दरूपं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥"

तभी वेद-मूल और वेदसारभूत प्रणव आदि भगवन्नामों का भगवान् के साथ अभेद कहा गया है। भगवन्नाम भगवान् से भी श्रेष्ठ है। श्री गोस्वामीजी ने कहा है—

"राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥
राम भालु कपि कटक बटोरा। सेतु हेतु श्रम कीन न थोरा॥
नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मन माँहीं॥
कहहुँ कहां लगि नाम बड़ाई। राम न सकहिं नाम गुण गाई॥"

इस तरह वेद भगवान् से उद्भूत और उन्हींके स्वरूप हैं। वे उन्हींके अस्तित्व एवं उपादेयता को सिद्ध करते हैं। अतः उनके विरुद्ध भगवान् की भी बात न मानना ही आस्तिकता

एवं बुद्धिमानी है। एक बार जब भीष्मजी पिंड-प्रदान करने लगे, तो उनके पिता श्रीशन्तनुजी का हाथ स्पष्ट पिण्ड-ग्रहण के लिए व्यक्त हुआ। इसपर भीष्मजी ने वेदज्ञों से प्रश्न किया कि 'क्या श्राद्ध में हाथ पर पिण्ड-प्रदान वैध हैं ?' ब्राह्मणों ने कहा—'नहीं, कुशाओं पर ही पिण्ड-प्रदान की शास्त्रीय विधि है।' फिर भीष्मजी ने वैसा ही किया। श्रीशन्तनु उनकी अटल शास्त्रनिष्ठा से प्रसन्न हो उन्हें आशीर्वाद देकर चले गये। इस तरह वेदों के निर्माण में किसीका स्वातन्त्र्य न होना उनके प्रमाण्य का साधक ही है और प्रयत्न एवं बुद्धिनिरपेक्ष वेदों का प्रादुर्भाव उनकी स्वाभाविकता एवं अकृत्रिमता का व्यंजक है। अतः सर्वज्ञ की समाहित बुद्धि से बने हुए ग्रन्थ की भी अपेक्षा प्रयत्न एवं बुद्धि-निरपेक्ष श्वासवत् स्वाभाविक वेदों का अधिक महत्त्व है।

यही कारण है कि आस्तिकों के यहाँ गीता सर्वज्ञ, समाहित, कृष्णप्रोक्त है—इतने से ही संतोष एवं गीता का माहात्म्य नहीं है, प्रत्युत उसका महत्त्व इसमें है कि समाहित, सर्वज्ञ श्रीकृष्ण परमात्मारूप गोपाल के द्वारा वेद-शीर्ष उपनिषद्रूप गौओं के दुग्धामृतरूप में उसका प्रादुर्भाव हुआ है।

वैष्णवों के परमधन भागवत की भी महत्ता वेदरूप कल्पद्रुम के सुमधुर फल होने के ही नाते बढ़ी। श्रीमद्भागवत फल ही नहीं, मधुर एवं परिपक्व फल है। वह फल भी कल्पतरु का, जो स्वयं सर्वाभीष्टदायक है। वह कल्पवृक्ष भी साधारण भोगदायक देवतरु नहीं, अपितु वेद-कल्पतरु है। इस कल्पतरु से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—सभी प्रकार के पुरुषार्थ अनायास प्राप्त हो सकते हैं। उस अद्भुत लोकोत्तर कल्पद्रुम का सारतम, परिपक्व एवं स्वयं गलित फल श्रीमद्भागवत है। वह भी शुक-तुण्ड स्पृष्ट-होने से अतिमधुर है। श्रीशुक भी प्राकृत नहीं,

परमहंस, महामुनीन्द्र-कुलतिलक एवं श्रीव्रजेन्द्रनन्दन एवं श्रीवृषभानुनन्दिनी के कृपामृत से परिपुष्ट शुक हैं। उनके मुखामृत-द्रव से संस्पृष्ट यह भागवत फल है। यहाँ भी वेदसार एवं वेदज्ञ-संबद्ध होने से ही श्रीमद्भागवत का माहात्म्य बढ़ा। यही भागवत के माहात्म्य में स्पष्ट किया गया है। जैसे ईख में मधुरिमा विस्तृत है; फिर भी उसीसे निकली हुई शर्करा, सिता, कन्द आदि के माधुर्य की विचित्रता मान्य होती है, वैसे ही वेदों का ही सारसमूह होने के कारण श्रीमद्भागवत का महत्त्व विलक्षण है।

"वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना॥"

अर्थात् 'वेदवेद्य परमात्मा जब श्रीरामरूप में प्रकट हुए' इत्यादि वचनों के अनुसार रामायण, भारत आदि समस्त आर्ष-ग्रन्थ वेद से ही महत्त्वास्पद होते हैं।

अग्नि की उष्णता और जल की द्रवता स्वाभाविक धर्म हैं। ब्रह्मा भी उनके निर्माता नहीं माने जाते। यही कारण है कि अग्नि कभी शीत और जल कभी उष्ण नहीं होता। यदि निर्माता के अधीन उनका निर्माण हो, तो स्वतंत्र होने के कारण निर्माता वैसा भी बना सकता है। इसी तरह भगवान् के निःश्वासभूत वेद स्वाभाविक हैं, कृत्रिम नहीं। भगवान् वेदों के स्मर्ता ही हैं, यह बात पराशरजी ने भी कही है—

न कश्चिद्वेदकर्ताऽस्ति वेदस्मर्ता प्रजापतिः।
तथैव धर्मं स्मरति मनुः कल्पान्तरान्तरे॥

वेद का एकदेश आयुर्वेद है। उसके विवेच्य विषयभूत योग्य एवं अयोग्य पदार्थों के गुण-दोषों का ज्ञान किसी जीव को सहस्रों कल्पों में भी पूर्ण नहीं हो सकता। जब एक नगण्य के तृण

के विचित्र गुणों का सहज में ज्ञान नहीं होता, तब फिर अनन्त तृण एवं उनके अनन्त संप्रयोग-विप्रयोग और उनसे उद्भूत एवं अभिभूत होनेवाली विचित्र शक्तियाँ किसी अल्पज्ञ को कैसे विदित हो सकती हैं ? एक तृण कोई लें, तो उसमें न जाने कितने रोगों को उत्पन्न और विनष्ट करने की शक्ति है। फिर दो चार औषधियों के संयोग आदि से कितनी शक्तियाँ संकुचित एवं विकसित होती हैं—यह जानना जीव के लिए अन्वय-व्यतिरेक आदि युक्तियों से सैकड़ों कल्पों में भी संभव न होगा। एक विष के ही शक्तिपरीक्षण में सहस्रों प्राणियों की हत्या हो जायगी, फिर भी ठीक-ठीक परिणाम ज्ञात नहीं होगा। इसी तरह योग्य एवं अयोग्य अनेकविध पदार्थों के ज्ञान में पुरुष की योग्यता नहीं है। अतः इन सब विषयों का जिस शास्त्र से बोध होता है, वह अपौरुषेय ही है।

कुछ लोग कहते हैं कि यह विश्व अपने आप ही उत्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति के लिए परमेश्वर को ढूँढ़ना व्यर्थ है, किन्तु क्या इसका अर्थ यह है कि प्रपंच अपनी उत्पत्ति में स्वयं ही कारण है ? यदि हाँ, तो क्या यह विश्व अपनी उत्पत्ति के समय था या नहीं ? स्वतंत्रता विद्यमान की होती है या अविद्यमान की ? यदि सृष्टि के पहले प्रपंच का अस्तित्व हो, तो फिर सृष्टि की वार्ता ही क्या ? जब उस समय प्रपंच अविद्यमान हो, तभी सृष्टि का प्रसंग उठता है फिर उसके किसी कारण की भी आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है। यदि कालाधीन नित्य निरवयव परमाणुओं के संयोग-वियोग से सृष्टि एवं प्रलय कर स्वीकार लिया जाय, तो जब काल में यह स्वातंत्र्य माना गया तो, नामान्तर से ईश्वर का ही अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया। क्योंकि परमेश्वर का सर्व-प्रथम लक्षण स्वतंत्रता ही है। सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् के बिना

अन्यत्र स्वतंत्रता बन ही नहीं सकती। जो सर्वज्ञ एवं सर्वबोधक हैं, वही शास्त्र को कह सकता है। उसीका नित्य बचन वेद है।

कुछ लोग तो पूर्वकथनानुसार परमाणुओं या विद्युत्कणों की स्वाभाविक हलचल, संघर्ष एवं एकत्रीभवन से पृथिव्यादि-क्रम से विश्व का विकास मानते हैं, परन्तु कुछ लोग संयोग, वियोग, संघर्ष, एकभ भवन आदि के नियामक रूपमें परमेश्वर को माननेके लिए बाध्य होते हैं। क्योंकि बिना किसी सर्वनियामक के अकस्मात् विघटन या अकस्मात् संघटन कैसे संभव होगा? ऐसे लोग ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी वेद-शास्त्र एवं वैदिक सृष्टि-क्रम को अमान्य समझते हैं। उनका कहना है कि किसी विशिष्टशक्ति परमेश्वर ने ही इन भूगोलों एवं खगोलों को बनाकर गेंद के समान फेंक दिया है। वे जिस संकल्प से, जिस वेग से फेंके गये, वैसे ही भ्रमण करते हैं; क्योंकि जब लोक में कोई भी स्थूल एवं गूढ़ पदार्थ निराधार नहीं होता, तो पृथ्वी आदि की निराधारता कैसे कही जा सकती है। अतः जैसे पार्थिव प्रपंच का आधार पृथ्वी है, वैसे ही श्रौत-क्रम के अनुसार पृथ्वी का आधार जल है। साधारण रूप से जल का आधार पृथ्वी ही देखी जाती है, तथापि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर स्पष्ट विदित होता है कि काष्ठ, नाव आदि पार्थिव पदार्थ भी जल के आश्रित हैं। इसी भावना से पृथ्वी का जल में होना संभव है। जैसे दुग्ध में ही दधिभाव होने पर कठोरता आ जाती है, वैसे ही जल में पृथ्वी-भाव आता है। उपनिषदों में भी यह दृष्टान्त आया है कि जैसे माँड़ में जमने से कठोरता हो जाती है, वैसे ही जल का ही गन्धयुक्त घनीभाव पृथ्वी है। जैसे दधि में ऊपर का अंश कठोर और नीचे का अंश द्रुत होता है, वैसे ही पृथ्वी के ऊपर का अंश कठोर है और नीचे का अंश नरम या द्रुत। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जल का ही परि-

णाम पृथ्वी है। जल में गुरुता या लघुता एवं पतलापन या गाढ़ापन देखा जाता है। यमुना का जल कुछ गाढ़ा एवं गङ्गा का कुछ हलका होता है। यद्यपि जल में भी गुरुता होती है, अतः वह पृथ्वी के ही आश्रित समझा जाता है, तथापि बादलों में रहनेवाले जल में कितना सूक्ष्म अंश होता है। वायु के सहारे तुषार देखे जाते हैं एवं सूर्य की किरणों के सहारे जलों का आकर्षण होता है। इसी दृष्टि से श्रौत-क्रमानुसार जल का भी तेज के सहारे रहना सिद्ध हो जाता है। वायु में तेज की मन्दता देखने से तथा वायु के गुण स्पर्श की अग्नि में अनुस्यूति होने से तेज को भी वायु के सहारे माना जा सकता है। ऐसे ही आकाश में ही वायु की हलचल हो सकती है और आकाश का शब्द गुणवायु में रहता है। इसीलिए वायु का कारण एवं आधार आकाश माना गया। कार्यों में कारण के कुछ गुणों का प्रवेश रहता है। अतः आकाश का शब्द-गुण वायु में, वायु का स्पर्श-गुण तेज में, तेज का रूप-गुण जल में और जल का रस-गुण पृथ्वी में उपलब्ध होता है। कारण के गुण कार्य में प्रविष्ट होते हैं, पर कार्य के गुण कारण में नहीं। अतएव कारण में सूक्ष्मता एवं कार्य में स्थूलता होती है। इसीलिए शब्दादि पञ्च गुणों से युक्त पृथ्वी कार्य और गन्ध-गुणरहित अतएव सूक्ष्म जल कारण है। जैसे तेज एवं आकाश में सूक्ष्मता, व्यापकता और कारणता निर्णीत है, वैसे ही जल में भी पृथ्वी की अपेक्षा व्यापकता, सूक्ष्मता एवं कारणता मानना युक्त है।

पृथ्वी में गाढ़ापन, स्थूलता तथा कठोरता है, तो जल में हलकापन एवं सूक्ष्मता है। किरणों से जिस जलीय अंश का आकर्षण होता है, उस में और अधिक सूक्ष्मता और हलकापन होता है। आकाश में यह सूक्ष्मता और बढ़ जाती है। कुछ लोग आकाश को कारण मानने में सङ्कोच करते हैं। किन्तु वे यह

अन्यत्र स्वतंत्रता बन ही नहीं सकती। जो सर्वज्ञ एवं सर्वबोधक है, वही शास्त्र को कह सकता है। उसीका नित्य बचन वेद है।

कुछ लोग तो पूर्वकथनानुसार परमाणुओं या विद्युत्कणों की स्वाभाविक हलचल, संघर्ष एवं एकत्रीभवन से पृथिव्यादि-क्रम से विश्व का विकास मानते हैं, परन्तु कुछ लोग संयोग, वियोग, संघर्ष, एकभ भवन आदि के नियामक रूपमें परमेश्वर को माननेके लिए बाध्य होते हैं। क्योंकि बिना किसी सर्वनियामक के अकस्मात् विघटन या अकस्मात् संघटन कैसे संभव होगा ? ऐसे लोग ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी वेद-शास्त्र एवं वैदिक सृष्टि-क्रम को अमान्य समझते हैं। उनका कहना है कि किसी विशिष्टशक्ति परमेश्वर ने ही इन भूगोलों एवं खगोलों को बनाकर गेंद के समान फेंक दिया है। वे जिस संकल्प से, जिस वेग से फेंके गये, वैसे ही भ्रमण करते हैं; क्योंकि जब लोक में कोई भी स्थूल एवं गूढ़ पदार्थ निराधार नहीं होता, तो पृथ्वी आदि की निराधारता कैसे कही जा सकती है। अतः जैसे पार्थिव प्रपंच का आधार पृथ्वी है, वैसे ही श्रौत-क्रम के अनुसार पृथ्वी का आधार जल है। साधारण रूप से जल का आधार पृथ्वी ही देखी जाती है, तथापि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर स्पष्ट विदित होता है कि काष्ठ, नाव आदि पार्थिव पदार्थ भी जल के आश्रित हैं। इसी भावना से पृथ्वी का जल में होना संभव है। जैसे दुग्ध में ही दधिभाव होने पर कठोरता आ जाती है, वैसे ही जल में पृथ्वी-भाव आता है। उपनिषदों में भी यह दृष्टान्त आया है कि जैसे माँड़ में जमने से कठोरता हो जाती है, वैसे ही जल का ही गन्धयुक्त घनीभाव पृथ्वी है। जैसे दधि में ऊपर का अंश कठोर और नीचे का अंश द्रुत होता है, वैसे ही पृथ्वी के ऊपर का अंश कठोर है और नीचे का अंश नरम या द्रुत। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जल का ही परि-

णाम पृथ्वी है। जल में गुरुता या लघुता एवं पतलापन या गाढ़ापन देखा जाता है। यमुना का जल कुछ गाढ़ा एवं गङ्गा का कुछ हलका होता है। यद्यपि जल में भी गुरुता होती है, अतः वह पृथ्वी के ही आश्रित समझा जाता है, तथापि बादलों में रहनेवाले जल में कितना सूक्ष्म अंश होता है। वायु के सहारे तुषार देखे जाते हैं एवं सूर्य की किरणों के सहारे जलों का आकर्षण होता है। इसी दृष्टि से श्रौत-क्रमानुसार जल का भी तेज के सहारे रहना सिद्ध हो जाता है। वायु में तेज की मन्दता देखने से तथा वायु के गुण स्पर्श की अग्नि में अनुस्यूति होने से तेज को भी वायु के सहारे माना जा सकता है। ऐसे ही आकाश में ही वायु की हलचल हो सकती है और आकाश का शब्द गुणवायु में रहता है। इसीलिए वायु का कारण एवं आधार आकाश माना गया। कार्यों में कारण के कुछ गुणों का प्रवेश रहता है। अतः आकाश का शब्द-गुण वायु में, वायु का स्पर्श-गुण तेज में, तेज का रूप-गुण जल में और जल का रस-गुण पृथ्वी में उपलब्ध होता है। कारण के गुण कार्य में प्रविष्ट होते हैं, पर कार्य के गुण कारण में नहीं। अतएव कारण में सूक्ष्मता एवं कार्य में स्थूलता होती है। इसीलिए शब्दादि पञ्च गुणों से युक्त पृथ्वी कार्य और गन्ध-गुणरहित अतएव सूक्ष्म जल कारण है। जैसे तेज एवं आकाश में सूक्ष्मता, व्यापकता और कारणता निर्णीत है, वैसे ही जल में भी पृथ्वी की अपेक्षा व्यापकता, सूक्ष्मता एवं कारणता मानना युक्त है।

पृथ्वी में गाढ़ापन, स्थूलता तथा कठोरता है, तो जल में हलकापन एवं सूक्ष्मता है। किरणों से जिस जलीय अंश का आकर्षण होता है, उस में और अधिक सूक्ष्मता और हलकापन होता है। आकाश में यह सूक्ष्मता और बढ़ जाती है। कुछ लोग आकाश को कारण मानने में सङ्कोच करते हैं। किन्तु वे यह

ध्यान में नहीं लाते कि यदि आकाश कारण नहीं, तो उसके शब्द-गुण की वायु, तेज और जलादि में उपलब्धि कैसे हो सकती है? अतः आकाश को वायु का कारण मानना युक्त ही है। अनुभव में भी आता है कि अवकाश में हलचल और उससे उष्णता, उससे स्वेद और उस से मैल उत्पन्न होते हैं। ऐसे ही आकाश से वायु आदि क्रम से सबकी उत्पत्ति होती है। कुछ लोगों का कहना है 'शब्द आकाश का गुण ही नहीं, वह तो वायु का कार्य है।' किन्तु जैसे अन्यान्य वायवीय विकार त्वगिन्द्रिय से गृहीत होते हैं; वैसे ही शब्द भी त्वगिन्द्रिय से उपलब्ध होना चाहिए। पर शब्द का ग्रहण वायवीय त्वगिन्द्रिय से भिन्न आकाशीय श्रोत्रेन्द्रिय से ही होता है। प्रायः सर्वत्र ही ग्राह्य-ग्राहकभाव सजातीय में ही हुआ करता है। पार्थिव गन्ध का ग्रहण पार्थिव घ्राण से ही होता है। तेज के गुण रूप का उपलम्भ तैज नेत्रेन्द्रिय से ही होता है। इस से स्पष्ट है कि आकाशीय श्रोत्र से उपलब्ध होनेवाला शब्द आकाश का ही गुण है। अतएव शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध ये पाँचों गुण आकाश आदि पञ्चभूतों के असाधारण समझे जाते हैं और इन्हीं पाँचो भूतों के पाँचों गुणों को जानने के लिए श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बनी हैं।

स्थूल का आधार सूक्ष्म ही होता है। सूक्ष्म जल स्थूल पृथ्वी का आधार है। स्थूल जल का सूक्ष्म तेज और उसका आधार उससे भी सूक्ष्म वायु है। वायु से भी सूक्ष्म आकाश वायु का आधार है। जो जितना सूक्ष्म है, उसे उतने ही कम आधार की अपेक्षा होती है। इसी कारण सर्वापेक्षया परम सूक्ष्म, स्वप्रकाश परम तत्त्व को किसी भी आधार की अपेक्षा नहीं पड़ती। वह निराधार होता है। ऐसे ही उत्तरोत्तर आधारों में विशेषों की कमी रहती है। अन्तिम आधार में पूर्ण स्वच्छता, सूक्ष्मता, निराधारता,

निर्विशेषता सिद्ध होती है। इस तरह सूक्ष्म व्यापक तथा स्वच्छ को कारण एवं आधार मानने से सबमें व्यापक सबसे सूक्ष्म एवं स्वच्छ, स्वप्रकाश, सत् परमार्थ तत्त्व सिद्ध हो जाता है।

कहा जाता है कि 'वैदिकों ने जितनी पृथ्वी और संसार का निर्णय किया है, आधुनिक वैज्ञानिकों ने उससे कहीं अधिक लोकों का पता लगाया है। रात्रि में जिन अपरिगणित ताराओं से नभोमण्डल दीप्त होता है, वे सभी लोक हैं।' किन्तु उपनिषदों और पुराणों का आशय न समझने से ही यह भ्रम फैलता है। उपनिषदों के पृथ्वी, जल आदि ऐसे व्यापक हैं कि उनमें सबका अन्तर्भाव हो जाता है।

गन्धगुणवाला द्रव्य पृथ्वी एवं रसगुणवाला जल है। जितने भर भी गोल हैं, सभी गन्धगुण पृथ्वी के मिश्रण से बने हैं। इस तरह पृथ्वी में सबका संग्रह हो जाता है। ऐसे ही पृथ्वी से सैकड़ों गुना अधिक रसगुणवाला जल है। पुराणों में अपरिगणित या अनन्त ब्रह्माण्डों का वर्णन आता है; परन्तु उपनिषदें इसकी चर्चा नहीं करतीं। कारण यह है कि उनके मत में एक या अनेक ब्रह्माण्डों में सर्वत्र ही गन्ध-गुणवाली पृथ्वी एवं रस-गुणवाले जल को समझ लेना चाहिए। पुराणों के अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के अभिमानी और स्वामी उपनिषद् के महाविराट् हैं। पुराणों के अनन्त हिरण्यगर्भों का समष्टि उपनिषदों का महाहिरण्यगर्भ है। तारागण चाहे मेरुशृङ्ग के आधार पर हों, चाहे वायुविशेष के सहारे ही भ्रमण करते हों, पर आ जाते हैं ये सभी एक ही ब्रह्माण्ड के भीतर। ऐसे ही अनन्त ब्रह्माण्ड जिस प्रकृति के गर्भ में विद्यमान हैं, वह प्रकृति ही स्वयं जिन भगवान् के समाश्रित है, वह सच्चिदानन्द परम तत्त्व अपार एवं अनन्त है। खगोल जल के सहारे या

वायु के सहारे रहें, सबका अन्तिम आधार परमेश्वर मानना ही पड़ता है।

एक मत यह भी है कि 'सभी खगोल वायु के सहारे हैं। जैसे वेगवान् वायु में वृक्ष, जल एवं बड़े-बड़े मत्स्य उड़ सकते हैं, वैसे ही महावेगवान् बलवान् वायु में ही खगोलों का भ्रमण है। पुराणों की कल्पना है कि भूधर, सागर, कानन, समस्त पृथ्वी की स्थिति दिग्गज, कूर्म, वराह, शेष आदि पर है। सर्वत्र ही जो सबका अन्तिम आधार और स्वयं निराधार हो, वही स्वयं प्रकाशमान रूप सत् परमात्मा है।

परमेश्वर का सङ्कल्प अव्याहत है। अनीश्वरवादी भी यद्यपि भूगोलों का भ्रमण मानते हैं, परन्तु वे लोग इन सब कार्यों के लिए परमेश्वर की आवश्यकता नहीं समझते। उनके मतों में सभी गोलों में कोई स्वभावसिद्ध आकर्षक शक्ति है, जिसमें वे सब परस्पर आकृष्ट होकर भ्रमण करते हैं।' परन्तु यह विचार अत्यन्त तर्क-शून्य है, क्योंकि इसमें 'अन्योन्याश्रय' दोष है। परस्पर आकर्षण से स्थिति या भ्रमण नितान्त असम्भव है, अन्योन्याश्रय कार्य लोक में नहीं बनते—"अन्योन्याश्रयाणि कार्याणि लोके नैव प्रकल्प्यन्ते।" चुम्बक के सहारे उसमें आकर्षित होकर लोहा रहता है, परन्तु चुम्बक लोह के सहारे नहीं टिकता। उसे अपना कोई दूसरा ही सहारा रखना पड़ता है। ईंटों के डाट बनते हैं, उनमें परस्पर के सहारे स्थित होते हुए भी सबका अन्तिम आधार भित्ति को मानना ही पड़ता है।

यदि इन गोलों में स्वतः या एक दूसरे के सहारे स्थित रहने की भिन्न शक्तियाँ मानी जायँ, तो लाघवात् एक ही ऐसी दिव्य शक्ति से सम्पन्न परमेश्वर क्यों न मान लिया जाय? जिससे समस्त व्यवहार उपपन्न हो जायँ। पृथक्-पृथक् पदार्थों के भिन्न-

स्वभाव की शक्तियों को स्वतन्त्र मानने की अपेक्षा सर्वशक्तियों के अधिष्ठातृस्वरूप परमेश्वर के मानने से सरलतापूर्वक व्यवहार चल सकता है। अतः कुछ लोग ईश्वर मानकर कहते हैं कि 'उसके बनाये हुए भूगोलों एवं खगोलों की गेंद उसके सङ्कल्प से स्थित है। उसमें भी भूगोल आदि भ्रमणशील हैं और सूर्यगोल स्थिर हैं। भूगोल में प्रथम तृण आदि उत्पन्न हुए; फिर कृमि, दंश आदि; फिर पक्षी, सर्प आदि अण्डज; उसके अनन्तर मृग, व्याघ्र आदि; फिर पशु एवं मर्कटों की उत्पत्ति हुई; उसके पीछे बहुत प्रकार के बहुदेशनिवासी मनुष्य उत्पन्न हुए। उनमें भी क्रम से ज्ञान की वृद्धि हुई है। पूर्व-पूर्व के लोग मूर्ख थे, ज्ञान का पूर्ण विकास होने पर सर्वज्ञ होंगे, तभी शास्त्र की भी सिद्धि होगी। बालक पहले अज्ञानघन होता है, उत्तरोत्तर उसमें ज्ञान की वृद्धि होती है। इसीलिए "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्" यह सिद्धान्त है। अतएव उत्तरोत्तर पुरुषों के वचनों का प्रामाण्य है। पूर्व-पूर्व वेद आदि वचनों का अप्रामाण्य है।'

इन महानुभावों से प्रश्न होता है कि क्या यह आपका सिद्धान्त पूर्वजों को सम्मत है? अथवा भावी पुरुषों के लिए मान्य होगा? पूर्वजों के लिए सम्मत तो हो नहीं सकता, क्योंकि वे तो आपके मतानुसार आधुनिकों की अपेक्षा मूर्ख ही थे; फिर उन्हें इस सिद्धान्त का बोध ही कहाँ? यदि कहा जाय कि उत्तरोत्तर विवेकियों को यह सिद्धान्त सम्मत होगा, तो वह भी नहीं, क्योंकि उनकी अपेक्षा तो इस सिद्धान्त के संस्थापक मूर्ख ही ठहरेंगे। फिर इसपर विचार क्या किया जाय? जो स्वयं अपने को मूर्ख स्वीकारकर दूसरे को मूर्ख कहता है, उस से शास्त्रार्थ ही कैसा? जो दूसरों की दृष्टि में मूर्ख हो, उससे

कुछ कहा भी जाय, परन्तु जो दूसरों की दृष्टि तथा अपनी भी सम्मति से मूर्ख ही है, उसका कहना ही क्या? पूर्व के लोग तो गत ही हो चुके; अग्रिम शिष्य, विकास-क्रम के अनुसार, गुरुओं से भी अधिक विवेकी ही होंगे, तो फिर सिवा निर्माता के इस विकास-सिद्धान्त का उपयोग भी किसके लिए है?

कि प्रायः यह कहा जाता है 'कुछ पूर्वशिक्षित ज्ञान और कुछ काल द्वारा उपलब्ध ज्ञान, ये दोनों मिलकर बहुत हो जाते हैं।' परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जो ज्ञान काल द्वारा प्राप्त हुआ है, वह यदि शिक्षित ज्ञान के अनुरूप ही है, तो फिर शिक्षित ज्ञान के अनुसारियों में मूल पुरुषों से अधिक ज्ञान नहीं कहा जा सकता। यदि शिक्षित ज्ञान से विपरीत ही ज्ञान काल से प्राप्त होता है, तो शिक्षा ही व्यर्थ है। जब शिक्षित ज्ञान से विरोधी ज्ञान ही काल से प्राप्त होगा, तब शिक्षित के स्वरूप-नाश से भिन्न शिक्षा का और कोई भी फल नहीं उत्पन्न हो सकता। यदि शिक्षित ज्ञान के अनुसार ही ज्ञान-विस्तार मान्य हो, तो फिर उसी परम्पराप्राप्त शिक्षा को ही तो शास्त्र कहा जाता है, क्योंकि अनादि परमपुरुष परमात्मा से ही शिक्षा माननी चाहिये। प्रथम-शिक्षा-प्रवर्त्तक सर्वज्ञ परमेश्वर ही हो सकता है और उसके अनादि शिक्षा-वचन ही वेद-शास्त्र हैं।

कुछ लोगों के मन में यह बात समाती ही नहीं है कि वेद अपौरुषेय हो सकते हैं। जब लोक में कोई भी वाक्य या ग्रन्थ बिना पुरुष की बुद्धि या प्रयत्न के नहीं बन सकते, तब यह कैसे माना जा सकता है कि पुरुष के प्रयत्न तथा बुद्धि की अपेक्षा न करके ही वेदों का प्राकट्य होता है। परन्तु थोड़े ही विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'जैसे एक कार्य होता है, वैसे ही सभी हों' यह अनिवार्य नियम नहीं है। देखते ही हैं कि घर आदि

कार्य यद्यपि हस्तपाद आदि से समन्वित शरीरी द्वारा ही होता है, तथापि अङ्कुर आदि कार्य बिना देही के प्रयत्न के ही हो जाता है। सावयव एवं सादि होने से यद्यपि अङ्कुर में कार्यता का निश्चय है, तथापि वे किसी शरीरी से उत्पन्न नहीं हैं। इसी प्रकार यद्यपि वाक्यत्व, शास्त्रत्व वेदों में भी है, तथापि पुरुष के प्रयत्न या बुद्धि की अपेक्षा उन्हें रत्ती-मात्र नहीं है। जैसे अनादि-नियामक परमेश्वर और अनादि नियम्य जीवों का होना सम्भव है, वैसे ही उनकी नियमन-पद्धति-रूप वेदों का भी अनादि होना सम्भव है। अनादि परमेश्वर के ज्ञान या निःश्वास-भूत वेदों की अनादिता में सन्देह ही किसको हो सकता है?

कुछ लोग कहते हैं कि 'शास्त्रों एवं तदुक्त धर्मों को माननेवालों में कष्ट ही दिखाई देता है, अतः शास्त्र न मानना ही श्रेष्ठ है।' परन्तु यह ठीक नहीं। जहाँ शास्त्र न माननेवालों की संख्या अधिक है, वहाँ शास्त्र माननेवालों को कष्ट है और जहाँ शास्त्र माननेवालों की संख्या अधिक है, वहाँ उनके न मानने वालों को दुःख है। परन्तु बुद्धिमानों को तो यह सुनिश्चित है कि यथेष्ट चेष्टावाले वानर की अपेक्षा नर में यही विशेषता है कि वह शास्त्र मानता है और शास्त्रानुसार व्यवहार करता है। प्रमाणभूत चक्षु के बिना जैसे लोग सुख के भाजन नहीं होते, वैसे ही प्रमाणभूत शास्त्र के बिना भी प्राणियों को सुख नहीं होता। कहा जाता है कि लोक में तो विपरीत ही देखा जाता है। सशास्त्र दुःखी एवं अशास्त्र सुखी हैं। पर यह कहना विचार-शून्य है। तृप्ति को ही सुख कहा जाता है। पशुओं में भोजन और मनुष्यों में ज्ञान से तृप्ति होती है। ज्ञान शास्त्र से होता है। क्या ज्ञान सुख का प्रतिबन्धक है? कौन-सा ऐसा सुखपात्र है, जो प्रमाण-विहीन हो। आरण्यक पशुओं को भी तो सुख के

लिए श्रोत्र, चक्षु आदि प्रमाणों की अपेक्षा होती है। उनके वैगुण्य में वे भी दुःखी होते हैं। मनुष्य की यही विशेषता है कि उसमें पशु-साधारण प्रत्यक्ष, अनुमान प्रमाण हैं; साथ ही शास्त्र प्रमाण अधिक है। अतएव शास्त्रज्ञ शिक्षक है और पशु उससे शिक्षा पाता है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'यद्यपि शास्त्रज्ञ श्रेष्ठ है, तथापि शास्त्र तो दुर्लभ है। वेद में तो असम्भव बातों की भरमार है। कहीं सौ वर्ष की आयु, फिर कहीं पुराणों में सहस्र-लक्ष वर्ष की आयु मिलती है।' परन्तु यह शङ्का ही निर्मूल है। साधारण आयु सौ वर्ष की तो बतलायी ही गयी है, पाप या पुण्य की प्रबलता से उसमें न्यूनता या अधिकता भी हो सकती है। प्राण, अपान के संयम से आयु की वृद्धि एवं उनके अपव्यय से न्यूनता होती है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'वेदों में तो व्याकरण की अशुद्धियाँ बहुत हैं, फिर वे परमेश्वर की वाणी कैसे हो सकते हैं?' परन्तु यह बात भी नहीं ठहरती, क्योंकि कृत्रिम वचनों में ही शुद्ध-अशुद्ध का विचार करना युक्त है। लता की सहजसिद्ध वक्रिमा पर कौन घृणा करता है?

पाणिनि प्रभृति कृत्रिम वचनों का शासन करते हैं, अर्थात् बतलाते हैं कि यह साधु एवं यह असाधु है। परन्तु अकृत्रिम वचन होने से वेदों के सभी शब्द साधु (शुद्ध) ही हैं। इसीलिए "छन्दसि दृष्टानुविधिः" यह सूत्र है। अकृत्रिम, सर्वज्ञ भगवान् का अकृत्रिम वचन ही वेद है। कृत्रिम कार्य-कारण-सङ्घात के अभिमानी समस्त मनुष्यों को अवश्य ही वेदों का अर्थज्ञान और सम्मान करना चाहिए।

यह भी कहा जाता है कि 'जब निराकार परमेश्वर को मुख ही नहीं, तो उसे वेदों का निर्माता और कर्ता

कैसे माना जाय ?' परन्तु यह कथन तो तब सङ्गत होता, जब कि ईश्वर भी जीवों के समान ही अल्पज्ञ होते। जब परस्पर अत्यन्त विलक्षण अनन्त प्रपञ्च के निर्माता भगवान् हैं, तब विचार करने पर वे भी सबसे विलक्षण सिद्ध होते हैं, फिर वे क्या नहीं कर सकते ? कहा जा सकता है कि फिर ऐसा परमेश्वर दीखता क्यों नहीं ? परन्तु उत्तर स्पष्ट है कि वह सर्वविलक्षण है, इसीसे नहीं दीखता। प्रश्न होता है, तो क्या वह किसीको भी दीखता है ? समाधान यह है कि प्रमाता और प्रमाण के योग से प्रमेय का बोध अवश्य ही होता है।

वेदों का स्वतः-प्रामाण्य : २ :

कुछ लोगों का कहना है कि 'शब्द और अर्थ के सङ्केतरूप सम्बन्ध की कल्पना शब्द और अर्थ की सृष्टि के बाद ही हुई, चाहे वह कल्पना परमेश्वर ने की हो, या किसी जीव ने। अर्थतत्त्वज्ञानपूर्वक जिस शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसी-को प्रामाणिक जन प्रमाण मानते हैं। ऐसे ही एवं शब्द-प्रयोग-कर्ता के ज्ञान-प्रामाण्य के अधीन शब्द का प्रामाण्य होता है।

पुरुषों में भ्रम, प्रमाद, लोभ, विप्रलिप्सा आदि दोष होते ही हैं, अतः उनके वाक्यों के इन दोषों से दूषित होने की सम्भावना रहती है। फिर भी लोक में प्रमाणान्तरों से पुष्ट होने पर उसकी प्रामाणिकता हो भी सकती है। जैसे किसीने कहा कि 'अमुक वाटिका में शेर के बच्चे जिलाये हैं', तो सुननेवाला जाकर देख सकता है और ठीक होने पर ऐसे वाक्य को प्रामाणिक भी कह सकता है।

वेद तो प्रमाणान्तर से अज्ञात अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, प्रमाणान्तर से उसकी पुष्टि की सम्भावना ही नहीं। ऐसी अवस्था में उनकी प्रामाणिकता कैसे हो सकती है? कहानी सरीखे वाक्यों का प्रामाण्य ही क्या है? अतः बहुत सम्भव है कि वक्ता के भ्रम आदि दोषों से वेद अप्रामाणिक हों।

महर्षि जैमिनि ने "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धेऽर्थे तत्प्रमाणम् बादरायणस्यानपेक्षत्वात्" इस सूत्र से उक्त समस्त शङ्काओं का उन्मूलन कर दिया है।

वेद किसी समय नवीन नहीं उत्पन्न हुआ, वह नित्य है। यद्यपि स्वर्ग आदि पदार्थ अनित्य ही हैं, तथापि स्वर्गत्व आदि जातियाँ नित्य हैं और उनमें ही शब्दों की शक्ति है। अतः वैदिक शब्दों का अर्थों से नित्य सम्बन्ध है, किसीका कल्पित नहीं है।

कहा जाता है कि 'सृष्टिकाल में ईश्वर ही भिन्न-भिन्न शब्दों का भिन्न-भिन्न अर्थों के साथ सम्बन्ध-बोध कराता है। परन्तु निराकार ईश्वर किस तरह सम्बन्ध-बोध करा सकता है? यदि लीला-विग्रह धारण करके ईश्वर सम्बन्ध-बोध कराये, तो भी उसे सम्बन्ध-बोध कराने के लिए अवश्य ही कुछ ऐसे शब्दों की आवश्यकता होगी, जिनका अर्थसम्बन्ध लोग पहले से ही जानते हों। ईश्वर इङ्गित या अभिनय से सम्बन्ध-बोध करा देगा, यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इङ्गित या अभिनय सीमित होते हैं और शब्द अनन्त हैं। जिस शब्द-वारिधि का इन्द्र आदि ने भी अन्त न पाया, उसके सम्बन्धबोधनार्थ अनन्त अभिनय चाहिए। परन्तु यह सम्भव नहीं है। यदि सम्बन्ध-बोधनार्थ कुछ शब्दार्थसम्बन्धों को नित्य मानना ही है, तो सभी शब्दार्थ-सम्बन्ध को नित्य ही क्यों न माना जाय?

गोशब्द और गौ अर्थ का सम्बन्ध अनादि काल से ही चला आ रहा है, यही मानना ठीक है। जिन नवीन अर्थों का नवीन नामकरण विदित हो रहा है, उनको भले ही कृत्रिम मान लिया जाय। परन्तु जिन के सम्बन्ध का काल और कर्ता प्रमाण-सिद्ध नहीं है, उनको अनादि मान लेने में कोई भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

वेद के विधि-वाक्य उन्हीं अर्थों का बोधन करते हैं, जो दूसरे स्वतन्त्र प्रमाणों से जाने नहीं जा सकते। जैसे धर्म, स्वर्ग आदि। लौकिक-वाक्य, पुरुषाश्रित भ्रमादि दूषणों से दूषित होने के कारण अप्रामाणिक भी हो सकते हैं, परन्तु वैदिक विधि-वाक्य सर्वथा प्रामाणिक ही होते हैं। कारण यह है कि वे अपने अर्थबोधन में दूसरे प्रमाणों तथा वक्ता के ज्ञान-प्रामाण्य की अपेक्षा नहीं करते; अतः स्वतःप्रमाण नित्य हैं। लौकिक वाक्यों के समान उनका कोई भी निर्माता नहीं है। यही कारण है कि निर्माता के दोषों से वेदों के अप्रमाण होने की शङ्का ही नहीं हो सकती। यही मत भगवान् वेदव्यास और उनके शिष्य जैमिनि का है।

वाक्यों के प्रमाण न होने में दो ही कारण हो सकते हैं— एक तो निर्माता के भ्रम आदि दोष और दूसरा वाक्यार्थ में प्रबल प्रमाण से वाक्य का निश्चय। 'वेद नित्य हैं, नित्य पदार्थ निर्मित नहीं होते। जो निर्मित नहीं, उसमें निर्माता का दोष कहाँ से आयेगा? दूसरी बात यह है कि वेदोक्त अर्थ दूसरे प्रमाण का विषय ही नहीं है, अतः उसका बाध अर्थात् मिथ्यात्वनिश्चय नहीं हो सकता।

अबोधकता भी अप्रामाण्य का एक कारण है। यथा—"जर-द्गव, कम्बल और पादुकाओं से द्वार पर बैठा हुआ भद्रगीत गाता

है। उससे पुत्रकामा ब्राह्मणी ने पूछा कि हे राजन्! रुमा में नमक का क्या अर्थ है—"जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारिस्थितो गायति भद्रकाणि। तं ब्राह्मणीं पृच्छति पुत्रकामा राजन् रुमायां लवणस्य कोऽर्थः॥" ऐसे अर्थ-हीन वाक्य भी अप्रमाण हैं। पर वेदों में ऐसी अबोधकता भी नहीं है। यह सन्देह भी किया जाता है कि जब अभ्युदय और निःश्रेयस् का साधन धर्म है और धर्म भी अनुष्ठान के द्वारा ही स्वर्गादि अभ्युदय का साधन होता है और अनुष्ठान (भावना) का ज्ञान प्रत्येक क्रियापद से हो जाता है जो सभी वाक्यों में होते हैं, क्योंकि बिना क्रिया-पद के वाक्य की पूर्ति नहीं होती; तब बिना प्रेरणा, आज्ञा (विधि) के भी अन्य क्रिया-पदों से ईप्सित ज्ञान हो सकता है। जैसे—'अग्निहोत्र होम से स्वर्ग होता है' ऐसे क्रियापद वाले वाक्यों से ज्ञान हो जाता है कि यागादि धर्म, स्वर्ग आदि अभ्युदय के साधन हैं, फिर वाक्य में विधि की क्या आवश्यकता है ?

यदि कहा जाय कि धर्म में पुरुष की प्रवृत्ति कराने के लिए 'यजेत' 'जुहुयात्' (यज्ञ करे, होम करे) आदि विधि-वाक्य की आवश्यकता पड़ती है, सो भी ठीक नहीं। बिना यागादि-धर्म में रुचि हुए विधि-वाक्य पुरुष को बलात्कार से यागादि में प्रवृत्त नहीं कर सकते। अन्य वाक्यों की भाँति विधि का भी इतना ही कार्य है कि 'याग स्वर्ग का साधन है, अतः करना चाहिये' इस बात का बोध करा दे। ऐसे ज्ञान से यदि पुरुष की याग करने की इच्छा होती है, तभी वह याग में प्रवृत्त होता है। यदि ये सभी कार्य विधि-व्यतिरिक्त आख्यात (क्रियापद) उक्त वाक्यों से भी हों, तो फिर विधि की क्या आवश्यकता है।

यदि कहा जाय कि "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" इत्यादि-

निवृत्ति-सिद्धि के लिए विधि-वाक्य अपेक्षित हैं, सो भी ठीक नहीं। ये सब कार्य प्रतिषेध-बोधक 'न' से हो जायँगे। 'ब्राह्मण-वध अनिष्ट का साधन है, 'नहीं करना चाहिए' ऐसा ज्ञान होने पर भी निवृत्ति तो पुरुष की इच्छा के ही अधीन है। तब अग्नि-होत्र आदि धर्म को वैदिक-वाक्य-बोधित अर्थ कहने में क्या हानि है?

बात यह है कि 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे) इत्यादि वाक्यों में यदि विधि न हो तो यह अर्थ करना होगा कि "स्वर्गकामनावाला यज्ञ करता है"। अर्थात् अनुष्ठानरूप भावना का साध्य कार्य याग हुआ और वह याग परिश्रम और द्रव्य-साध्य होने के कारण दुःखरूप ही है। ऐसी स्थिति में प्राणियों की दुःखमय याग में प्रवृत्ति कैसे होगी? यदि विधियुक्त वाक्य होगा, तो विधि से प्रेरणा का बोध होगा और प्रेरणा से प्रयत्न-रूपी भावना पुरुष से उत्पन्न होगी। वह भावना दुःखात्मक याग को छोड़कर ईप्सित सुख-मय स्वर्ग को ही अपना लक्ष्य बनायेगी।

वह याग जब साधन-रूप से भावना के साथ सम्बद्ध होता है, तब विधिवाक्य का यह अर्थ हो जाता है कि याग से स्वर्ग को उत्पन्न करो। ऐसी स्थिति में 'यह भावना स्वर्ग को प्राप्त करानेवाली है' ऐसा ज्ञान होने पर पुरुष की प्रवृत्ति अवश्य होगी। इस भाँति याग की भावना में पुरुषों की प्रवृत्ति होने के लिए ही विधि की आवश्यकता होती है, क्योंकि विधि से ही याग में स्वर्ग-साधनता तथा धर्मरूपता सिद्ध होती है, तभी विधिवाक्य धर्म में प्रमाण कहे जाते हैं।

पूर्वोक्त सूत्र में 'अनुपलब्धेऽर्थे' इस अंश से यह विवक्षित है कि अस्मरण अनुभव से गृहीत अर्थ का ही ग्राहक है, अतः स्मरण

है। उससे पुत्रकामा ब्राह्मणी ने पूछा कि हे राजन्! रुमा में नमक का क्या अर्थ है—"जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारिस्थितो गायति भद्रकाणि। तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा राजन् रुमायां लवणस्य कोऽर्थः॥" ऐसे अर्थ-हीन वाक्य भी अप्रमाण हैं। पर वेदों में ऐसी अबोधकता भी नहीं है। यह सन्देह भी किया जाता है कि जब अभ्युदय और निःश्रेयस् का साधन धर्म है और धर्म भी अनुष्ठान के द्वारा ही स्वर्गादि अभ्युदय का साधन होता है और अनुष्ठान (भावना) का ज्ञान प्रत्येक क्रियापद से हो जाता है जो सभी वाक्यों में होते हैं, क्योंकि बिना क्रिया-पद के वाक्य की पूर्ति नहीं होती; तब बिना प्रेरणा, आज्ञा (विधि) के भी अन्य क्रिया-पदों से ईप्सित ज्ञान हो सकता है। जैसे—'अग्निहोत्र होम से स्वर्ग होता है' ऐसे क्रियापद वाले वाक्यों से ज्ञान हो जाता है कि यागादि धर्म, स्वर्ग आदि अभ्युदय के साधन हैं, फिर वाक्य में विधि की क्या आवश्यकता है?

यदि कहा जाय कि धर्म में पुरुष की प्रवृत्ति कराने के लिए 'यजेत' 'जुहुयात्' (यज्ञ करे, होम करे) आदि विधि-वाक्य की आवश्यकता पड़ती है, सो भी ठीक नहीं। बिना यागादि-धर्म में रुचि हुए विधि-वाक्य पुरुष को बलात्कार से यागादि में प्रवृत्त नहीं कर सकते। अन्य वाक्यों की भाँति विधि का भी इतना ही कार्य है कि 'याग स्वर्ग का साधन है, अतः करना चाहिये' इस बात का बोध करा दे। ऐसे ज्ञान से यदि पुरुष की याग करने की इच्छा होती है, तभी वह याग में प्रवृत्त होता है। यदि ये सभी कार्य विधि-व्यतिरिक्त आख्यात (क्रियापद) उक्त वाक्यों से भी हों, तो फिर विधि की क्या आवश्यकता है।

यदि कहा जाय कि "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" इत्यादि-

निवृत्ति-सिद्धि के लिए विधि-वाक्य अपेक्षित हैं, सो भी ठीक नहीं। ये सब कार्य प्रतिषेध-बोधक 'न' से हो जायँगे। 'ब्राह्मण-वध अनिष्ट का साधन है, 'नहीं करना चाहिए' ऐसा ज्ञान होने पर भी निवृत्ति तो पुरुष की इच्छा के ही अधीन है। तब अग्नि-होत्र आदि धर्म को वैदिक-वाक्य-बोधित अर्थ कहने में क्या हानि है ?

बात यह है कि 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे) इत्यादि वाक्यों में यदि विधि न हो तो यह अर्थ करना होगा कि "स्वर्गकामनावाला यज्ञ करता है"। अर्थात् अनुष्ठानरूप भावना का साध्य कार्य याग हुआ और वह याग परिश्रम और द्रव्य-साध्य होने के कारण दुःखरूप ही है। ऐसी स्थिति में प्राणियों की दुःखमय याग में प्रवृत्ति कैसे होगी ? यदि विधियुक्त वाक्य होगा, तो विधि से प्रेरणा का बोध होगा और प्रेरणा से प्रयत्न-रूपी भावना पुरुष से उत्पन्न होगी। वह भावना दुःखात्मक याग को छोड़कर ईप्सित सुख-मय स्वर्ग को ही अपना लक्ष्य बनायेगी।

वह याग जब साधन-रूप से भावना के साथ सम्बद्ध होता है, तब विधिवाक्य का यह अर्थ हो जाता है कि याग से स्वर्ग को उत्पन्न करो। ऐसी स्थिति में 'यह भावना स्वर्ग को प्राप्त करानेवाली है' ऐसा ज्ञान होने पर पुरुष की प्रवृत्ति अवश्य होगी। इस भाँति याग की भावना में पुरुषों की प्रवृत्ति होने के लिए ही विधि की आवश्यकता होती है, क्योंकि विधि से ही याग में स्वर्ग-साधनता तथा धर्मरूपता सिद्ध होती है, तभी विधिवाक्य धर्म में प्रमाण कहे जाते हैं।

पूर्वोक्त सूत्र में 'अनुपलब्धेऽर्थे' इस अंश से यह विवक्षित है कि प्रमाण अनुभव से गृहीत अर्थ का ही ग्राहक है, अतः स्मरण

है। उससे पुत्रकामा ब्राह्मणी ने पूछा कि हे राजन्! रुमा में नमक का क्या अर्थ है—"जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारिस्थितो गायति भद्रकाणि। तं ब्राह्मणीं पृच्छति पुत्रकामा राजन् रुमायां लवणस्य कोऽर्थः॥" ऐसे अर्थ-हीन वाक्य भी अप्रमाण हैं। पर वेदों में ऐसी अबोधकता भी नहीं है। यह सन्देह भी किया जाता है कि जब अभ्युदय और निःश्रेयस् का साधन धर्म है और धर्म भी अनुष्ठान के द्वारा ही स्वर्गादि अभ्युदय का साधन होता है और अनुष्ठान (भावना) का ज्ञान प्रत्येक क्रियापद से हो जाता है जो सभी वाक्यों में होते हैं, क्योंकि बिना क्रिया-पद के वाक्य की पूर्ति नहीं होती; तब बिना प्रेरणा, आज्ञा (विधि) के भी अन्य क्रिया-पदों से ईप्सित ज्ञान हो सकता है। जैसे—'अग्निहोत्र होम से स्वर्ग होता है' ऐसे क्रियापद वाले वाक्यों से ज्ञान हो जाता है कि यागादि धर्म, स्वर्ग आदि अभ्युदय के साधन हैं, फिर वाक्य में विधि की क्या आवश्यकता है?

यदि कहा जाय कि धर्म में पुरुष की प्रवृत्ति कराने के लिए 'यजेत' 'जुहुयात्' (यज्ञ करे, होम करे) आदि विधि-वाक्य की आवश्यकता पड़ती है, सो भी ठीक नहीं। बिना यागादि-धर्म में रुचि हुए विधि-वाक्य पुरुष को बलात्कार से यागादि में प्रवृत्त नहीं कर सकते। अन्य वाक्यों की भाँति विधि का भी इतना ही कार्य है कि 'याग स्वर्ग का साधन है, अतः करना चाहिये' इस बात का बोध करा दे। ऐसे ज्ञान से यदि पुरुष की याग करने की इच्छा होती है, तभी वह याग में प्रवृत्त होता है। यदि ये सभी कार्य विधि-व्यतिरिक्त आख्यात (क्रियापद) उक्त वाक्यों से भी हों, तो फिर विधि की क्या आवश्यकता है।

यदि कहा जाय कि "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" इत्यादि-

निवृत्ति-सिद्धि के लिए विधि-वाक्य अपेक्षित हैं, सो भी ठीक नहीं। ये सब कार्य प्रतिषेध-बोधक 'न' से हो जायँगे। 'ब्राह्मण-वध अनिष्ट का साधन है, 'नहीं करना चाहिए' ऐसा ज्ञान होने पर भी निवृत्ति तो पुरुष की इच्छा के ही अधीन है। तब अग्नि-होत्र आदि धर्म को वैदिक-वाक्य-बोधित अर्थ कहने में क्या हानि है ?

बात यह है कि 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे) इत्यादि वाक्यों में यदि विधि न हो तो यह अर्थ करना होगा कि "स्वर्गकामनावाला यज्ञ करता है"। अर्थात् अनुष्ठानरूप भावना का साध्य कार्य याग हुआ और वह याग परिश्रम और द्रव्य-साध्य होने के कारण दुःखरूप ही है। ऐसी स्थिति में प्राणियों की दुःखमय याग में प्रवृत्ति कैसे होगी ? यदि विधियुक्त वाक्य होगा, तो विधि से प्रेरणा का बोध होगा और प्रेरणा से प्रयत्न-रूपी भावना पुरुष से उत्पन्न होगी। वह भावना दुःखात्मक याग को छोड़कर ईप्सित सुख-मय स्वर्ग को ही अपना लक्ष्य बनायेगी।

वह याग जब साधन-रूप से भावना के साथ सम्बद्ध होता है, तब विधिवाक्य का यह अर्थ हो जाता है कि याग से स्वर्ग को उत्पन्न करो। ऐसी स्थिति में 'यह भावना स्वर्ग को प्राप्त करानेवाली है' ऐसा ज्ञान होने पर पुरुष की प्रवृत्ति अवश्य होगी। इस भाँति याग की भावना में पुरुषों की प्रवृत्ति होने के लिए ही विधि की आवश्यकता होती है, क्योंकि विधि से ही याग में स्वर्ग-साधनता तथा धर्मरूपता सिद्ध होती है, तभी विधिवाक्य धर्म में प्रमाण कहे जाते हैं।

पूर्वोक्त सूत्र में 'अनुपलब्धेऽर्थे' इस अंश से यह विवक्षित है कि अस्मरण अनुभव से गृहीत अर्थ का ही ग्राहक है, अतः स्मरण

स्वतःप्रमाण नहीं है। परन्तु यह विधिवाक्य उस प्रकार का नहीं है, किन्तु जो अर्थ प्रमाणान्तर से अविज्ञात है उस अर्थ का ग्राहक होने से स्वतन्त्र रूप से प्रमाण होता है।

ये ही विधि-वाक्य, उसका अर्थभाग भावना आदि और उस-का मूल स्वर्ग आदि यदि कोई वस्तु हों, तभी वेद के विधिभाग धर्म आदि में प्रमाण हो सकते हैं। यदि ये सब मिथ्या हैं, तो विधि का प्रामाण्य सम्भव नहीं है। इसी अभिप्राय से बौद्धों के निरालम्बनवाद का भी शबरस्वामी ने खण्डन किया है।

विधि-वाक्यों की धर्म में प्रामाण्य-सिद्धि के लिए स्फोटवाद का भी वार्तिककार ने खण्डन किया है, क्योंकि अर्थावबोध स्फोट से भी उत्पन्न हो सकता था, फिर मन्त्रों में पदादि का ऊह कैसे बन सकता? एक देवता के मन्त्र से जब अन्य देवता का कार्य यागों में किया जाता है, तो पूर्व देवता का नाम छोड़कर उसी मन्त्र में दूसरे देवता का नाम जोड़ लिया जाता है। मन्त्र जैसा का तैसा ही रहता है। इसी नाम बदलने को 'ऊह' कहते हैं।

"अग्नये त्वा जुष्टं चरुं निर्वपामि" इस मन्त्र का सौरयाग में विनियोग होने से 'अग्नये' इस पद के स्थान में 'सूर्याय' पद जोड़ा जाता है।

इस प्रकार घट आदि अर्थ के अनित्य होने से घट आदि शब्दों का अर्थ अनित्य ही होगा, तो यह मानना पड़ेगा कि सृष्टि के अनन्तर किसीने शब्दों और अर्थों का सङ्केत किया होगा और वैदिक शब्दों को भी उस सङ्केत करनेवाले पुरुष की अपेक्षा होगी। अतः वेद का अनपेक्षत्व-रूप स्वतः-प्रामाण्य बाधित होगा, अतः घटत्वादि रूप जाति को नित्य मानकर वही घटादि शब्दों का अर्थ है—यह निश्चित किया गया है।

इस तरह नित्य शब्द का नित्य अर्थ के साथ स्वाभाविक

सम्बन्ध है, वह कृत्रिम नहीं है। अतः सङ्केतकार की अपेक्षा न होने से वेदों का स्वतःप्रामाण्य ही सिद्ध होगा। जाति ही मीमांसकों की आकृति है। बौद्ध लोग जाति-पदार्थ नहीं मानते हैं। बौद्ध अन्यापोहरूप ही जाति मानते हैं। इसीलिए अपोह-वाद का भी निरास करके जाति को भावरूप कहा गया है।

बौद्धमत में घटादि-पदार्थ परमाणु-पुञ्जमात्र ही है। जैसे, वन वृक्ष-समुदाय से अलग नहीं होता, वैसे ही अवयवों से पृथक् अवयवी भी नहीं होता। इस मत का खण्डन करके कहा गया है कि यदि परमाणुओं का समुदाय ही घट हो, तो परमाणु के अप्रत्यक्ष होने से घट आदि को भी अप्रत्यक्ष ही कहना पड़ेगा। फिर इस प्रकार व्यवहार का चलना ही असम्भव हो जायगा। इतना ही नहीं, शब्दों का इन अदृश्य अर्थों में सङ्केत-ग्रह कैसे होगा? इस प्रकार शब्द का प्रामाण्य-वाद ही बाधित हो जायगा। इसीलिए वनादि दृष्टान्त से वैषम्य दिखलाकर वनवाद-प्रकरण में वार्त्तिककार ने घट आदि रूप अवयवी सिद्ध किया है। ईश्वरेच्छारूप सङ्केतवाले पक्ष में भी वेद-प्रामाण्य सन्दिग्ध हो सकता था, इसीलिए वेदकार स्वरूप से ईश्वर का निराकरण किया गया।

इसी तरह चित्रादि यागों के फल पशु, वृष्टि आदि प्रत्यक्ष ही हैं। कभी चित्रादि याग करने पर भी पशु आदि फल नहीं मिलते। अतः ऐसी विधियों का प्रामाण्य बाधित होगा—इस शङ्का का समाधान चित्राक्षेपपरिहार-प्रकरण में कर्तृ-क्रिया-वैगुण्य आदि के द्वारा किया गया है। इसी तरह "स एवं यज्ञायुधी आत्मा अञ्जसा स्वर्गं लोकं याति" इत्यादि वचनों से मालूम पड़ता है कि यज्ञायुधवाला यजमान स्वर्ग जाता। है परन्तु यजमान को यहीं जल जाना है। इस तरह एक वैदिक वाक्य

के अप्रामाण्य होने से उसके साम्य से सभी वेद का अप्रामाण्य हो सकता है। इसका समाधान देहादि से भिन्न आत्मा सिद्ध करके किया गया है।

इसी भाँति 'अनपेक्षत्वात्' इस अंश में भी दो बातें विवक्षित हैं। एक तो यह कि ज्ञानों की प्रमाणता स्वतः ही है, कारण यह बात गुण या संवाद से नहीं है। अर्थ के अनुसार ही प्रमाणों का प्रामाण्य होता है। प्रमाण अपने विषय के साथ उसकी प्रमाणता को भी ग्रहण कर लेता है और अर्थप्रामाण्य के अधीन ही प्रामाण्यव्यवहार होता है। अप्रमाणता स्वतः नहीं, किन्तु परतः है; क्यों कि अर्थान्यथात्व ही अप्रामाण्य है और वह बाधकज्ञान, कारणदोषज्ञान और विसंवादज्ञान से ही गृहीत होता है। जैसे रज्जु में सर्पज्ञान का अप्रामाण्य दीपकादिसापेक्ष रज्जुज्ञान आदि से ही होता है।

दूसरी बात यह है कि लौकिक वाक्यों का प्रामाण्य वक्ताओं के यथार्थ ज्ञान के अधीन होता है, अतः लौकिक वाक्यों में किसीका प्रामाण्य और किसीका अप्रामाण्य भी हुआ करता है। पर वेदों का कोई कर्ता नहीं है, अतः उनमें वक्ता के अज्ञान आदि दोषों से अप्रमाणता की शङ्का भी करना युक्त नहीं है।

साङ्ख्य-योग के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः-मान्य होता है, क्योंकि जो सामर्थ्य जिसमें स्वाभाविक नहीं है, वह अन्य से नहीं हो सकती। कहा जा सकता है कि 'उनके अनुसार वेद का प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों ही स्वाभाविक होंगे। फिर दोनों में से किसी एक का निर्णय न होने से वेद का अप्रामाण्य ही ठहरेगा।' पर यह कथन ठीक नहीं। साङ्ख्य आदि दार्शनिकों के अनुसार गुड़ में मिष्टता के तुल्य वेद में प्रामाण्य स्वाभाविक है। अनादिशिष्ट

परम्परा से परिगृहीत होने के कारण प्रामाण्यग्रह सुकर है। शिष्ट-परम्परा से वेद में अप्रामाण्य वैसे ही अगृहीत है, जैसे गुड़ में तिक्तता। अतः शिष्ट-परिग्रह से अप्रामाण्य प्रत्याख्यात है।

यदि कहा जाय कि 'वेद के स्वाभाविक प्रामाण्य में क्या प्रमाण है?' तो उत्तर यही होगा कि स्वभाव पर आक्षेप वैसेही नहीं हो सकता, जैसे गुड़ की स्वाभाविक मधुरता पर कोई आपत्ति नहीं उठायी जा सकती। जैसे गुड़ की मधुरता अनादि-प्रत्यक्ष-परम्परा से मान्य है, वैसे ही वेद का प्रामाण्य भी अनादि शिष्टपरम्परा से निश्चित है। जैसे, गुड़ की तिक्तता कोई नहीं मानता है, वैसे ही वेद की अप्रामाणिकता भी अनादि शिष्ट-परम्परा की स्वीकृति के विरुद्ध है। मानवधर्मशास्त्र की प्रवृत्ति 'आसीदिदं तमोभूतम्' इत्यादि पद्यों से साङ्ख्य या वेदान्त मत के अनुसार है। मनु वेदों का स्वतःप्रामाण्य मानते हैं।

न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः नहीं ज्ञात होते। बात यह है कि ज्ञान दो प्रकार का होता है—प्रमाण एवं अप्रमाण। कारणों के गुणानुसार ज्ञान में यथार्थतारूप प्रमाणता होती है। कारणों के दोषानुसार यथार्थतारूप अप्रामाणिकता होती है। अर्थात् जिस ज्ञान के कारण रोगादि दोषों से दूषित होते हैं, वह अप्रमाण होता है।

कहा जा सकता है कि 'इस मत के अनुसार वेद पौरुषेय या ईश्वरनिर्मित हैं;—पुरुषों में भ्रम-प्रमाद आदि दोष होते ही हैं। फिर वेद से उत्पन्न ज्ञान में वेदकार पुरुष के दोष से अप्रमाणता ही होगी।' परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि भ्रम आदि दोष जीवों के ही स्वाभाविक हैं, ईश्वर के नहीं।

उक्त मत में परमेश्वर के ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि नित्य

होते हैं। परमेश्वर सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् है। जगदीश्वर ही वेद के कर्ता हैं, तो फिर वेद की प्रमाणता में सन्देह ही कैसे हो सकता है? यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'श्रद्धा, विश्वास को छोड़कर ईश्वर में क्या प्रमाण है, क्योंकि इस समय उक्त प्रकार का कोई सर्वज्ञ पुरुष दृष्टिगोचर नहीं होता है। अनुमान से भी वैसे पुरुष की सिद्धि सम्भव नहीं, क्योंकि ऐसा करने में अन्योन्याश्रय दोष है। यदि कोई सर्वज्ञ सिद्ध होगा, तो उसके वाक्य का प्रामाण्य सिद्ध होगा और यदि वाक्य की प्रामाणिकता सिद्ध होगी, तभी उसके आधार पर सर्वज्ञ पुरुष सिद्ध होगा। अन्य पुरुषों के वाक्य पुरुषाश्रित भ्रम आदि दोषों से दूषित होंगे ही। यदि किसी नित्य आगम से ईश्वर की सिद्धि करें, तब तो वैसे वेद को भी नित्य माना जा सकता है। फिर वेदकार की कल्पना ही व्यर्थ है। यदि परमेश्वर सर्वज्ञ हो, तो भी उनको कोई सर्वज्ञ ही समझ सकता है। कारण यह है कि जो सब विषय को नहीं जानेगा, वह सर्वज्ञता भी कैसे जान सकेगा? जो पुरुष घट को जानता है, वह घटज्ञ को जान सकता है। इसी प्रकार जो सर्वको जानेगा, वही सर्वज्ञ को जान सकेगा। इस तरह सर्वज्ञों की परम्परा कहीं समाप्त नहीं होगी और इस प्रकार अनवस्था दोष होगा और अनवस्था-भय से सर्वज्ञता भी समाप्त मानी जायगी। यदि ईश्वर की सर्वज्ञता जानने के लिए अन्य सवज्ञ की कल्पना करें, तो उसकी सर्वज्ञता जानने के लिए अन्य सर्वज्ञ की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार उसकी सर्वज्ञता अज्ञात रहेगी, क्योंकि जो भी उस का सर्वज्ञता जानेगा, उस सर्वज्ञ ही कहना पड़ेगा। यदि वह अन्तिम सर्वज्ञ नहीं, तो उसीके समान पूर्व-पूर्व पुरुषों की भी सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होगी। फिर मूलपुरुष ईश्वर की भी सर्वज्ञता सिद्ध नहीं

हुई, तो उस से निर्मित वेदों का प्रामाण्य भी कैसे होगा ? यदि श्रद्धामात्र से कोई सर्वज्ञ मानता है, तब तो फिर बुद्ध ने क्या अपराध किया है जो वे सर्वज्ञ न माने जायँ ? यही बात वार्तिककार ने भी कही है—

"सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः ।
निराकरणवच्छक्या न चासीदिति कल्पना ॥
कल्पनीयाश्च सर्वज्ञा भवेयुर्बहवस्तव ।
य एव स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञं न बुद्ध्यते ॥
सर्वज्ञोऽनवबुद्धश्च योनैव स्यान्न तं प्रति ।
तद्वाक्यानां प्रमाणत्वं मूलाज्ञानेऽन्यवाक्यवत् ॥

इन सब बातों का उत्तर नैयायिकों की ओर से दिया जा सकता है कि उक्त आपत्तियों से एक-एक वस्तु का पृथक्-पृथक् ज्ञान-रूप सर्वज्ञता न भी कहीं हो, तो भी कोई हर्ज नहीं । कारण यह है कि कीट-पतङ्ग आदि के ज्ञान का कोई उपयोग नहीं है, परन्तु तत्त्वज्ञता, धर्मज्ञता तो ईश्वर में है ही ।

"कोटिसङ्ख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ।
सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यति ॥"

फिर भी कहा जा सकता है कि जिस युक्ति से सर्वज्ञता का खण्डन हुआ, उसी तरह अतीन्द्रियार्थदर्शिता का भी खण्डन हो सकता है । तत्त्व एवं धर्म का स्वरूप चर्मचक्षुओं के लिए दुर्ग्राह्य है ही । फिर जो स्वयं धर्मज्ञ या तत्त्वज्ञ नहीं है, वह ईश्वर की धर्मज्ञता को भी कैसे जानेगा ? इन्हीं युक्तियों से बुद्ध आदि आगमों की भी प्रामाणिकता खण्डित हो जाती है । भला, जहाँ मन्दराचल डूब जाता है, वहाँ परमाणु के डूबने का प्रश्न ही क्या है ?

यदि नैयायिक वेदों को अपौरुषेय मानता है, तो प्रथम

उसके सिद्धान्त की हानि हुई। दूसरे अपौरुषेय होने के कारण वेद का वक्ता न होने से वक्ता के गुण के आधार पर वेदों का प्रामाण्य भी नहीं सिद्ध होगा।'

उपर्युक्त सारा वक्तव्य युक्तियुक्त नहीं है। जब अल्पज्ञ एवं आप्तजन से प्रणीत लौकिक वाक्य का भी प्रामाण्य मान्य होता है, तो समस्त आप्तों में शिरोमणि, नित्य, सर्वज्ञ भगवान् से प्रणीत वेद में तो कैमुतिक न्याय से ही प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। सर्वज्ञता की सिद्धि 'न्यायकुसुमाञ्जलि', 'बौद्धधिक्कार' आदि ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से है। यदि आकाश आदि की तरह वेद ईश्वर-प्रणीत न भी हों, तो भी वेदों के प्रामाण्य में कोई बाधा नहीं पड़ती है, यह आगे कहा जायगा है। यहाँ तो केवल प्रामाण्य पर विचार चल रहा है, ईश्वर या उसकी सर्वज्ञता के खण्डन-मण्डन का यहाँ अवसर नहीं है। इस पर अत्यन्त पर्याप्त विचार किया गया है। हरएक व्यक्ति अपनी अपेक्षा अपने शिक्षक की बहुज्ञता का अनुमान करके ही उससे शिक्षा-ग्रहण करता है। यदि वह भी शिक्षक की बहुज्ञता को न जाने, तो शिक्षा लेने में प्रवृत्त ही क्यों होगा? यदि वह शिक्षक की बहुज्ञता को जान लेने से ही बहुज्ञ हो गया, तो फिर शिक्षा-ग्रहण में प्रवृत्त क्यों होगा? इस प्रकार सर्वज्ञता के ज्ञान के सम्बन्ध में भी कहा-सुना जा सकता है।

बौद्धमत में ज्ञानों का अप्रामाण्य स्वतः होता है, परन्तु प्रामाण्य परतः होता है। उनके अनुसार प्रामाण्य, अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः नहीं हो सकते। बिना किसी अन्य कारण की अपेक्षा किये ज्ञान का अन्धकार-प्रकाश के तुल्य परस्पर विरुद्ध प्रामाण्य, अप्रामाण्य दोनों नहीं हो सकते। जैसे वह्नि में शैत्य एवं औष्ण्य दोनों नहीं माने जा सकते, वैसे ही ज्ञान में

प्रामाण्य-अप्रमाण्य दोनों ही स्वतः नहीं कहे जा सकते। यह भी नहीं कहा जा सकता कि किसी खास ज्ञान का प्रामाण्य माना जाय और किसी खास का अप्रामाण्य, क्योंकि जब दोनों व्यक्तियों में ज्ञानत्व से भिन्न (अन्योन्यव्यावृत्त) कोई रूप उपलब्ध नहीं होता; तब फिर कैसे कहा जाय कि एक ज्ञान प्रमाण है और दूसरा अप्रमाण। यदि किसी अन्य कारण से ऐसा होता, तब तो प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य को स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। अतएव ज्ञान का स्वतः-प्रामाण्य एवं स्वतः-अप्रामाण्य नहीं कहा जा सकता। स्वभाव या तो आकाश के व्यापकत्व का सा नित्य होता है अथवा जल की शीतलता एवं अग्नि की उष्णता के तुल्य। यह तत्त्व जिसमें रहता है उसीके कारण से उत्पन्न होता है। ज्ञानत्व रूप धर्म तो प्रमाण, अप्रमाण—दोनों ही तरह के ज्ञानों में रहता है, अतः ज्ञानत्व के आधार पर किसी ज्ञान की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता की व्यवस्था नहीं हो सकती। एक ही ज्ञान में प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों ही मानने से साङ्कर्य दोष भी होगा।

'प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य'—दोनों ही परतः होंगे—न्याय-दर्शन का यह मत भी ठीक नहीं। इस तरह तो ज्ञान को निःस्वभाव ही मानना पड़ेगा। यहाँ विकल्प होगा कि उत्पन्न ज्ञान गुण-दोष-निर्णय के पहले किसी विषय का प्रकाश करता है या नहीं करता? यदि प्रथम विकल्प माना जाय, तब तो ज्ञान का स्वतःप्रामाण्य ही हुआ। यदि द्वितीय विकल्प माना जाय, तब अप्रामाण्य ही स्वतः हुआ। यदि प्रामाण्य, अप्रामाण्य दोनों को ही गुण-दोष के पराधीन कहा जाय, तब तो गुण-दोष-निर्णय के पहले अनवधारणात्मक अथवा निःस्वभाव ही ज्ञान ठहरेगा। विचार करने पर यह बात जँचती नहीं। यह हो

उसके सिद्धान्त की हानि हुई। दूसरे अपौरुषेय होने के कारण वेद का वक्ता न होने से वक्ता के गुण के आधार पर वेदों का प्रामाण्य भी नहीं सिद्ध होगा।'

उपर्युक्त सारा वक्तव्य युक्तियुक्त नहीं है। जब अल्पज्ञ एवं आप्तजन से प्रणीत लौकिक वाक्य का भी प्रामाण्य मान्य होता है, तो समस्त आप्तों में शिरोमणि, नित्य, सर्वज्ञ भगवान् से प्रणीत वेद में तो कैमुतिक न्याय से ही प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। सर्वज्ञता की सिद्धि 'न्यायकुसुमाञ्जलि', 'बौद्धधिक्कार' आदि ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से है। यदि आकाश आदि की तरह वेद ईश्वर-प्रणीत न भी हों, तो भी वदों के प्रामाण्य में कोई बाधा नहीं पड़ती है, यह आगे कहा जायगा है। यहाँ तो केवल प्रामाण्य पर विचार चल रहा है, ईश्वर या उसकी सर्वज्ञता के खण्डन-मण्डन का यहाँ अवसर नहीं है। इस पर अत्यन्त पर्याप्त विचार किया गया है। हरएक व्यक्ति अपनी अपेक्षा अपने शिक्षक की बहुज्ञता का अनुमान करके ही उससे शिक्षा-ग्रहण करता है। यदि वह भी शिक्षक की बहुज्ञता को न जाने, तो शिक्षा लेने में प्रवृत्त ही क्यों होगा? यदि वह शिक्षक की बहुज्ञता को जान लेने से ही बहुज्ञ हो गया, तो फिर शिक्षा-ग्रहण में प्रवृत्त क्यों होगा? इस प्रकार सर्वज्ञता के ज्ञान के सम्बन्ध में भी कहा-सुना जा सकता है।

बौद्धमत में ज्ञानों का अप्रामाण्य स्वतः होता है, परन्तु प्रामाण्य परतः होता है। उनके अनुसार प्रामाण्य, अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः नहीं हो सकते। बिना किसी अन्य कारण की अपेक्षा किये ज्ञान का अन्धकार-प्रकाश के तुल्य परस्पर विरुद्ध प्रामाण्य, अप्रामाण्य दोनों नहीं हो सकते। जैसे वह्नि में शैत्य एवं औष्ण्य दोनों नहीं माने जा सकते, वैसे ही ज्ञान में

प्रामाण्य-अप्रमाण्य दोनों ही स्वतः नहीं कहे जा सकते। यह भी नहीं कहा जा सकता कि किसी खास ज्ञान का प्रामाण्य माना जाय और किसी खास का अप्रामाण्य, क्योंकि जब दोनों व्यक्तियों में ज्ञानत्व से भिन्न (अन्योन्यव्यावृत्त) कोई रूप उपलब्ध नहीं होता; तब फिर कैसे कहा जाय कि एक ज्ञान प्रमाण है और दूसरा अप्रमाण। यदि किसी अन्य कारण से ऐसा होता, तब तो प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य को स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। अतएव ज्ञान का स्वतः-प्रामाण्य एवं स्वतः-अप्रामाण्य नहीं कहा जा सकता। स्वभाव या तो आकाश के व्यापकत्व का सा नित्य होता है अथवा जल की शीतलता एवं अग्नि की उष्णता के तुल्य। यह तत्त्व जिसमें रहता है उसीके कारण से उत्पन्न होता है। ज्ञानत्व रूप धर्म तो प्रमाण, अप्रमाण—दोनों ही तरह के ज्ञानों में रहता है, अतः ज्ञानत्व के आधार पर किसी ज्ञान की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता की व्यवस्था नहीं हो सकती। एक ही ज्ञान में प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों ही मानने से साङ्कर्य दोष भी होगा।

'प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य'—दोनों ही परतः होंगे—न्याय-दर्शन का यह मत भी ठीक नहीं। इस तरह तो ज्ञान को निःस्वभाव ही मानना पड़ेगा। यहाँ विकल्प होगा कि उत्पन्न ज्ञान गुण-दोष-निर्णय के पहले किसी विषय का प्रकाश करता है या नहीं करता? यदि प्रथम विकल्प माना जाय, तब तो ज्ञान का स्वतःप्रामाण्य ही हुआ। यदि द्वितीय विकल्प माना जाय, तब अप्रामाण्य ही स्वतः हुआ। यदि प्रामाण्य, अप्रामाण्य दोनों को ही गुण-दोष के पराधीन कहा जाय, तब तो गुण-दोष-निर्णय के पहले अनवधारणात्मक अथवा निःस्वभाव ही ज्ञान ठहरेगा। विचार करने पर यह बात जँचती नहीं। यह हो

नहीं सकता कि ज्ञान अर्थ का निर्धारण न करे। 'ज्ञान निर्विषय होता है' यह कहना भी युक्तिसङ्गत नहीं है। बात यह है कि ज्ञान, इच्छा आदि न्याय-मत में कभी निर्विषय नहीं हो सकते। अतः बौद्ध कहता है कि अप्रामाण्य और कुछ नहीं, बल्कि प्रामाण्याभाव ही है। अभाव अवस्तु ही होता है। वह दोष आदि किसीसे उत्पन्न नहीं होता। इसलिए दोष के आधार पर अप्रामाण्य का निर्णय नहीं होता। इसलिए अप्रामाण्य स्वतः होता है, प्रामाण्य परतः होता है, क्योंकि वह वस्तु है। वह गुण-जन्य होता है, अतः गुण-निर्णय के अधीन ज्ञान के प्रामाण्य का निर्णय होता है। इसके अतिरिक्त सर्प का ज्ञान कभी सर्प से होता है और कभी असर्पभूत रस्सी से भी सर्प का ज्ञान हो जाता है। अतः ज्ञानत्व-मात्र से उसके प्रामाण्य का निर्णय नहीं हो सकता। अतः गुण-संवाद, ज्ञानान्तरसङ्गति अर्थक्रिया में से किसी एक के ज्ञान से ही ज्ञान की यथार्थतारूप प्रमाणता निर्णीत हो सकती है। इसीलिए प्रामाण्य परतः ही होता है, स्वतः कभी नहीं होता। यदि ज्ञान की प्रामाणिकता स्वाभाविक हो, तो स्वप्नादि ज्ञानों की भी प्रमाणता ही माननी पड़ेगी।

यह कहना भी ठीक नहीं। स्वप्नादि-ज्ञान की अप्रामाणिकता कारण-दोष से निश्चित होती है, क्योंकि अप्रामाणिकता, अभाव-रूप होने से किसीका कार्य नहीं। यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि बौद्धमत में तो फिर सभी ज्ञानों का स्वाभाविक ही अप्रामाण्य होगा। इस तरह कोई भी ज्ञान प्रमाण न ठहरेगा। परन्तु यह बात भी युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि बौद्ध मत में सभी ज्ञानों का स्वाभाविक अप्रामाण्य ही होता है, किन्तु प्रामाण्य उसका अपवाद होता है।

प्रामाण्य कारणसापेक्ष होता है। स्वप्नादिज्ञानों के प्रामाण्य का कोई कारण नहीं है, अतः अनपेक्षित स्वाभाविक अप्रामाण्य ही स्थिर रहता है।

प्रश्न होता है कि प्रामाण्य का क्या कारण है, जिसके अभाव से स्वप्नादि ज्ञानों का प्रामाण्य नहीं होता। परन्तु इसका समाधान यह है कि ज्ञान के कारण इन्द्रिय आदि में रहनेवाले सन्निकर्ष आदि गुण ही प्रामाण्य का उपजनन करते हैं। स्वप्नादि ज्ञानों में इन्द्रियसन्निकर्ष आदि गुण नहीं हैं, अतः उनका प्रामाण्य नहीं उत्पन्न हुआ।

यह गुणाभाव भी दो प्रकार का होता है। कहीं इन्द्रिय आदि के रहने पर भी उसके दोषों से गुणों का अपसारण होता है। जैसे शुक्ति में, रजत आदि भ्रमात्मक ज्ञान के स्थल पर इन्द्रियादि हैं भी; तो भी शुक्तिगत चाकचिक्यादि दोषों से इन्द्रिय-सम्बन्ध नहीं होने पाता। कहीं पर ज्ञान-साधन इन्द्रिय लिङ्गादि गुणों के आश्रय न रहने से गुणाभाव रहता है। जैसे, स्वप्नादि ज्ञान में; वहाँ सन्निकर्ष आदि गुणों के आश्रय इन्द्रिय आदि ही नहीं हैं।

शङ्का हो सकती है कि 'यदि अप्रामाण्य दोष के कारण नहीं होता, तो दोषों का ज्ञान होने पर अप्रामाण्य का बोध कैसे होता है ?' पर इसका समाधान यही है कि दोषों के द्वारा गुणों का निराकरण हो जाता है, अतः प्रामाण्य के कारण गुणों के न होने से प्रामाण्य की उत्पत्ति नहीं होती, अतः अनवोदित अप्रामाण्य ही शुक्ति-रजत, स्वप्न आदि ज्ञानों में स्थिर रहता है।

इस प्रकार अप्रामाण्य-स्थिति का कारण अपवाद का अभाव है। अपवाद के अभाव का कारण गुणाभाव है। निष्कर्ष यह कि गुणाभाव ही अप्रामाण्य का कारण है, दोष तो अन्यथा-

सिद्ध हैं। उन अन्यथासिद्ध दोषों में ही मीमांसकों को अप्रामाण्य की कारणता का भ्रम होता है।

वस्तुतः ज्ञानों का अप्रामाण्य औत्सर्गिक ही होता है। इसके अतिरिक्त अप्रामाण्य-सामान्य के साथ दोषों का अन्वय-व्यतिरेक भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अज्ञान-लक्षण अप्रामाण्य में कोई दोष नहीं है। जैसे, अनर्थक शब्दों से ज्ञान न होना ही उनकी अप्रामाणिकता है। वहाँ कोई दोष कारण कहा जाय, सो भी नहीं। असल में, पहले से व्यवहार में न उतरने के कारण उन शब्दों से अर्थ का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इस बौद्धमत के अनुसार स्वप्नादि ज्ञानों के तुल्य वेद से उत्पन्न ज्ञानों में भी अप्रामाणिकता स्वाभाविक ही है। प्रामाण्य के उत्पन्न होने का कोई कारण है नहीं, क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं, अतः वहाँ कारण-भूत वक्ता के गुण की सम्भावना ही नहीं है। साथ ही वेद ऐसे अर्थों का बोधक है, जिसका प्रमाणान्तर से संवाद भी नहीं हो सकता। वेद अविद्यमान एवं अदृष्ट भव्य अर्थ का बोधक है, अतः अर्थक्रिया का भी कोई प्रश्न नहीं उठता। इससे स्पष्ट है कि प्रामाण्य-कारण न मिलने से स्वाभाविक अप्रामाणिकता अनवोदित ही रहती है। यदि पौरुषेय हों, तो भी भ्रम, प्रमाद आदि से दूषित होने से वेद अप्रमाण ही रहेंगे।

मीमांसकों ने बौद्धों के उक्त मत का पूर्ण रूप से खण्डन करके सिद्ध किया है कि विज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः होता है—

> "स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
> नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते॥"

आत्मलाभे च भावानां कारणापेक्षता भवेत्।
लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु ॥"

—श्लोकवार्त्तिक।

यदि ज्ञान में अपने विषय की यथार्थता निर्धारण करने की स्वतः शक्ति न होगी, तो वह दूसरे से कैसे उत्पन्न होगी। फिर तो कभी भी अर्थ-निर्धारण ही न होने से जगत् की अन्धता ही प्रसक्त होगी। अतः समस्त प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः है, क्योंकि यदि उनमें अपने विषय की सत्यता के निश्चय कराने की शक्ति न हो, तो वह शक्ति और कहाँ से आ सकती है? फिर तो किसी को किसी अर्थ का निर्णय ही न होगा। यदि कहा जाय कि 'प्रमाणों के गुणनिश्चय से प्रामाण्य निश्चित होगा', तो प्रश्न उठेगा, कि वे गुण कौन हैं? यदि विशुद्धि या निर्मलता को गुण माना जाय, तो फिर यह मलरूप दोष का अभाव ही हुआ। निर्मलता कोई गुण नहीं है। यदि इस दोषाभाव को ही गुण मान लिया जाय, तब भी यह दोषाभावरूप गुण अपौरुषेय वेद में मिलता ही है।

अतः यदि प्रामाण्य को गुणाधीन भी मानें, तो कोई क्षति नहीं है; क्योंकि जब वेद किसीसे उत्पन्न नहीं है, तो पुरुषाश्रित दोषों का अभाव स्वाभाविक ही है। अतः उन की स्वतः-प्रमाणता में कोई क्षति नहीं है।

विवेचन करने पर गुण से प्रामाण्य की सिद्धि दुर्घट है, क्योंकि यदि विज्ञान की यथार्थविषयता (सम्बन्ध आदि) गुण के अधीन हैं, तो प्रामाण्य-कारणभूत गुणों की अवगति से घटादि विषयों की यथार्थता ज्ञात होगी। फिर तो गुणज्ञान के प्रामाण्य में भी वही विपत्ति उठ सकती है। वस्तुस्थिति तो यह है कि विषय की यथार्थता या अर्थतथात्व ही ज्ञान का प्रामाण्य है।

यदि प्रामाण्य का निर्णय गुणों के अधीन माना जाय, तब तो दोष-युक्त चक्षुओं से, 'पीतः शङ्खः' ऐसे ज्ञान में कोई भी सत्य अंश नहीं होना चाहिए। परन्तु ऐसा है नहीं। वहाँ भी शङ्खादिक सत्य अंश है, अतः स्वकारणनिमित्त ही ज्ञान में यथार्थता है। अप्रमाणता दोष से होती है, वह दूसरी वस्तु है। 'पीतः शङ्खः' ऐसे ज्ञानों में शङ्खज्ञान स्वकारण इन्द्रिय से जन्य है, अतः वह अंश सत्य है, और पीतता का ज्ञान पित्तरूप दोष से हुआ, अतः वह अंश मिथ्या है।

यदि ऐसा मान लिया जाय कि गुणरूप कारण से उत्पन्न होनेवाली प्रमा (यथार्थ ज्ञान) होती है, तो भी स्वतःप्रमाण ही कहना युक्त है। अर्थात् अपने विषय का निश्चय कराने में वह यथार्थज्ञान किसी अन्य गुणादि की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि हर एक पदार्थ को अपनी उत्पत्ति में दण्ड, चक्र, कुलालादि कारणों की अपेक्षा होती है, पर जलानयनादि में उन की अपेक्षा नहीं होती। वैसे ही ज्ञान भी भले ही उत्पत्ति में गुण और इन्द्रियादि की अपेक्षा करे, परन्तु उत्पन्न होने के बाद अपने विषय की सत्यता का निश्चय कराने में उसे किसी हेतु की अपेक्षा नहीं है। विषयसत्यता के निश्चय को ही यथार्थता या प्रमाणता कहते हैं। अब उसमें किसी कारण की अपेक्षा नहीं है, अतः स्वतःप्रमाणता निश्चित हो गयी।

परतःप्रामाण्य-पक्ष सम्मत नहीं है, इसलिये स्वतः-प्रामाण्य मानना अनिवार्य है, क्योंकि यदि ज्ञान उत्पन्न होकर भी, अपने विषय की यथार्थता के निश्चय के लिए स्वकारण इन्द्रियादिकों के गुणनिश्चय की अपेक्षा करेगा, तब तो फिर गुणनिश्चय के लिए निश्चायक प्रमाणान्तर की भी अपेक्षा होगी। कारण यह कि जब वह गुण स्वयं ही प्रमाण से निश्चित नहीं है, तब व

ज्ञान की यथार्थता (प्रामाण्य) का साधन कैसे होगा ? अतः गुण के निश्चय के लिए प्रमाणान्तर की आवश्यकता होगी। फिर गुणनिश्चायक प्रमाण को भी अपने प्रामाण्य के लिए वैसे ही गुण और तत्साधन प्रमाणान्तर की अपेक्षा अनिवार्य होगी। इस भाँति सहस्रों जन्मों में भी कोई अर्थ निश्चित न होगा, अतः प्रामाण्य का उच्छेद ही हो जायगा। इसलिए यदि प्रामाण्य मानना है, तो स्वतःप्रामाण्य ही मानना युक्त है।

इस पर कहा जा सकता है कि 'प्रामाण्य के स्वतस्त्व मानने में भी—उसी प्रकार अनवस्था है, क्योंकि प्रामाण्य (विषय-सत्यत्व का निश्चय) तभी हो सकेगा, जब प्रामाण्य के बाधक दोषों का अभाव ज्ञात हो, और दोषाभाव निश्चय में प्रमाणता तभी होगी, जब उसके भी बाधक दोषों का अभाव निश्चित हो। उस अभावनिश्चय की भी प्रमाणता उसी तरह दोषाभाव निश्चय के अधीन है। इसलिए जैसे प्रमाणता के परतः होने के कारण गुणों की निश्चयपरम्परा में अनवस्था थी, वैसे ही प्रमाणता के स्वतः होने पर भी दोषाभाव के निश्चयों की अनन्त परम्परा होगी।'

किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाणता के स्वतः होने में तभी अनवस्था हो सकती है, जब प्रमाणता-निश्चय में दोषाभाव-निश्चय की अपेक्षा होती। यहाँ तो दोष का निश्चय ही प्रमाणता के निश्चय का बाधक है। दोषों के ज्ञान से ही प्रमाणता का बाध और अप्रमाणता की सिद्धि होती है। जब तक दोष का ज्ञान नहीं होता, तब तक अप्रमाणता ज्ञान का स्पर्श ही नहीं कर सकती। अतः प्रमाणता स्वाभाविक ही है। इस भाँति स्वतः-प्रामाण्य-पक्ष में अनवस्था को अवकाश ही नहीं है।

अग्नि में उष्णता तथा जल में शीतलता स्वाभाविक है,

यदि प्रामाण्य का निर्णय गुणों के अधीन माना जाय, तब तो दोष-युक्त चक्षुओं से, 'पीतः शङ्खः' ऐसे ज्ञान में कोई भी सत्य अंश नहीं होना चाहिए। परन्तु ऐसा है नहीं। वहाँ भी शङ्खादिक सत्य अंश है, अतः स्वकारणनिमित्त ही ज्ञान में यथार्थता है। अप्रमाणता दोष से होती है, वह दूसरी वस्तु है। 'पीतः शङ्खः' ऐसे ज्ञानों में शङ्खज्ञान स्वकारण इन्द्रिय से जन्य है, अतः वह अंश सत्य है, और पीतता का ज्ञान पित्तरूप दोष से हुआ, अतः वह अंश मिथ्या है।

यदि ऐसा मान लिया जाय कि गुणरूप कारण से उत्पन्न होनेवाली प्रमा (यथार्थ ज्ञान) होती है, तो भी स्वतःप्रमाण ही कहना युक्त है। अर्थात् अपने विषय का निश्चय कराने में वह यथार्थज्ञान किसी अन्य गुणादि की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि हर एक पदार्थ को अपनी उत्पत्ति में दण्ड, चक्र, कुलालादि कारणों की अपेक्षा होती है, पर जलानयनादि में उन की अपेक्षा नहीं होती। वैसे ही ज्ञान भी भले ही उत्पत्ति में गुण और इन्द्रियादि की अपेक्षा करे, परन्तु उत्पन्न होने के बाद अपने विषय की सत्यता का निश्चय कराने में उसे किसी हेतु की अपेक्षा नहीं है। विषयसत्यता के निश्चय को ही यथार्थता या प्रमाणता कहते हैं। अब उसमें किसी कारण की अपेक्षा नहीं है, अतः स्वतःप्रमाणता निश्चित हो गयी।

परतःप्रामाण्य-पक्ष सम्मत नहीं है, इसलिये स्वतः-प्रामाण्य मानना अनिवार्य है, क्योंकि यदि ज्ञान उत्पन्न होकर भी, अपने विषय की यथार्थता के निश्चय के लिए स्वकारण इन्द्रियादिकों के गुणनिश्चय की अपेक्षा करेगा, तब तो फिर गुणनिश्चय के लिए निश्चायक प्रमाणान्तर की भी अपेक्षा होगी। कारण यह कि जब वह गुण स्वयं ही प्रमाण से निश्चित नहीं है, तब वह

ज्ञान की यथार्थता (प्रामाण्य) का साधन कैसे होगा ? अतः गुण के निश्चय के लिए प्रमाणान्तर की आवश्यकता होगी। फिर गुणनिश्चायक प्रमाण को भी अपने प्रामाण्य के लिए वैसे ही गुण और तत्साधन प्रमाणान्तर की अपेक्षा अनिवार्य होगी। इस भाँति सहस्रों जन्मों में भी कोई अर्थ निश्चित न होगा, अतः प्रामाण्य का उच्छेद ही हो जायगा। इसलिए यदि प्रामाण्य मानना है, तो स्वतःप्रामाण्य ही मानना युक्त है।

इस पर कहा जा सकता है कि 'प्रामाण्य के स्वतस्त्व मानने में भी—उसी प्रकार अनवस्था है, क्योंकि प्रामाण्य (विषय-सत्यत्व का निश्चय) तभी हो सकेगा, जब प्रामाण्य के बाधक दोषों का अभाव ज्ञात हो, और दोषाभाव निश्चय में प्रमाणता तभी होगी, जब उसके भी बाधक दोषों का अभाव निश्चित हो। उस अभावनिश्चय की भी प्रमाणता उसी तरह दोषाभाव निश्चय के अधीन है। इसलिए जैसे प्रमाणता के परतः होने के कारण गुणों की निश्चयपरम्परा में अनवस्था थी, वैसे ही प्रमाणता के स्वतः होने पर भी दोषाभाव के निश्चयों की अनन्त परम्परा होगी।'

किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाणता के स्वतः होने में तभी अनवस्था हो सकती है, जब प्रमाणता-निश्चय में दोषाभाव-निश्चय की अपेक्षा होती। यहाँ तो दोष का निश्चय ही प्रमाणता के निश्चय का बाधक है। दोषों के ज्ञान से ही प्रमाणता का बाध और अप्रमाणता की सिद्धि होती है। जब तक दोष का ज्ञान नहीं होता, तब तक अप्रमाणता ज्ञान का स्पर्श ही नहीं कर सकती। अतः प्रमाणता स्वाभाविक ही है। इस भाँति स्वतः-प्रामाण्य-पक्ष में अनवस्था को अवकाश ही नहीं है।

अग्नि में उष्णता तथा जल में शीतलता स्वाभाविक है,

इसी भाँति ज्ञान की प्रमाणता ज्ञान का स्वभाव (धर्म) ही है। जैसे अग्नि की स्वभावभूत उष्णता भी मणि, मन्त्र, औषध आदि से बाधित हो जाती है, वैसे ही सर्वज्ञानादि की स्वभावसिद्ध प्रमाणता भी दोष-ज्ञान से बाधित हो जाती है। 'नायं सर्पः किन्तु रज्जुरियम्' इस बाधक ज्ञान से भी सर्पज्ञान की भ्रमात्मकता स्पष्ट हो जाती है। अप्रमाणता की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है—एक दोषज्ञान से, दूसरे विषयबाध से। इसलिए ज्ञान की अप्रमाणता परतः और प्रमाणता स्वतः मानना युक्त है।

बौद्ध मत की ओर से यह कहा जाता है, कि अप्रामाण्य परतः नहीं हो सकता, क्योंकि अप्रामाण्य प्रामाण्य का अभावरूप होने से कोई वस्तु ही नहीं है। अतः अवस्तुभूत अप्रमाण में दोषजन्यता भी नहीं बन सकती। इसलिए अप्रमाणता दोषजन्य न होने से परतः नहीं कही जा सकती।

यह भी ठीक नहीं, क्योंकि संशय और विपर्यय की अप्रमाणता वस्तुरूप ही है। संशय में विरुद्ध विषयों का सम्बन्धरूप अप्रमाणता है, और विपर्यय में असत्य पदार्थ का सम्बन्धरूप अप्रमाणता है। इन में दोषजन्यता माननी ही पड़ती है और ये दोनों अप्रमाणता भी ज्ञान की बाधिका हैं।

यहाँ जो यह शङ्का की जाती है कि जैसे प्रामाण्य के परतस्त्व मानने में अनवस्था कही जाती है, वैसे ही अप्रामाण्य के परतस्त्व मानने में भी अनवस्था हो सकती है। किसी एक प्रमाण की प्रमाणता के लिए दूसरे प्रमाण की आवश्यकता और उस दूसरे प्रमाण की प्रमाणता के लिए तीसरे प्रमाण की आवश्यकता होती है। ठीक वैसे ही एक अप्रामाण्य दूसरे के अधीन और उस की सिद्धि तीसरे के अधीन होगी, क्योंकि जैसे प्रामाण्य में पराधीनता है, वैसे ही अप्रामाण्य में भी पराधीनता है। इस का

उत्तर यही है कि पराधीनतामात्र से अनवस्था नहीं हुआ करती, किन्तु अपनी समान जातिवाले दूसरों की अपेक्षा होने से अनवस्था होती है।

अतः यदि प्रमाण का प्रामाण्य दूसरे प्रमाण के अधीन, और उसका प्रामाण्य तीसरे के अधीन होगा, तब तो अनवस्था होगी। किन्तु अप्रामाण्य को तो अर्थान्यथात्व किंवा दोष के प्रमाणभूत ज्ञान ही की अपेक्षा है, अप्रमाण की नहीं। अतः एक अप्रमाण को अपने अप्रामाण्य के लिए दूसरे अप्रमाण-ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। रज्जुसर्पज्ञानादि, जो प्राथमिक ज्ञान है, वही अप्रमाण होता है। 'नायं सर्पः' इत्यादि विशेष-ज्ञान बाधक ज्ञान है। पूर्वज्ञान की अप्रमाणता का निश्चायक होता हुआ ही यह उत्तरभावी ज्ञान उत्पन्न होता है।

विषय की असत्यता को ही अप्रमाणता कहा जाता है। बाधक ज्ञान स्वतःप्रमाण होता है, अतः उससे विषय की असत्यतारूप अप्रमाणता सहज में ही सिद्ध हो जाती है। इसलिए अनवस्था की सम्भावना अप्रमाणता के परतस्त्व-पक्ष में नहीं है। यहाँ यह शङ्का होती है कि जब 'इदं रजतम्' और 'नेदं रजतम्' ये दोनों ही ज्ञान परस्पर-विरोधी हैं, तब क्या कारण है कि पूर्वज्ञान बाध्य और उत्तर ज्ञान बाधक होता है? पूर्वज्ञान ही बाधक और उत्तर ज्ञान ही बाध्य क्यों न हो? यदि पूर्वज्ञान के विषय की असत्यता का बोधक, किसी तीसरे ज्ञान की सहायता से, उत्तर ज्ञान का प्राबल्य या अपने विषय की सत्यता कही जाय, तो वैसे ही पूर्वज्ञान में भी ज्ञानान्तर की सहायता से प्रबलता कही जा सकती है। इस तरह सहायक ज्ञान भी परस्पर बाधक होने से अन्य ज्ञान की अपेक्षा करेंगे, जिससे ज्ञान की अप्रमाणता में अनवस्था अपरिहार्य ही होगी।

इसका समाधान यही है कि पूर्वज्ञान से परज्ञान का बाध इसलिए नहीं होता कि पूर्वज्ञान-काल में उत्तर ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता। यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं है कि पूर्वज्ञान उत्तरज्ञान को उत्पन्न ही न होने दें—यही बाध है; क्योंकि उत्तरज्ञान की अनुत्पत्ति तो कारण के अभाव से ही उपपन्न रहती है। फिर अनुत्पत्ति के लिए पूर्वज्ञान को हेतु मानने की क्या आवश्यकता है।

इसी तरह परज्ञान से भी पूर्वज्ञान की उत्पत्ति में प्रतिबन्ध नहीं होता, क्योंकि पूर्व पूर्वज्ञान तो उत्पन्न हो ही चुका है। यह भी नहीं कह सकते कि पूर्वज्ञान के समान किसी दूसरे ज्ञान की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक होने से ही 'नेदं रजतम्' 'नायं सर्पः' इत्यादि उत्तरज्ञान की बाधकता है, क्योंकि उत्तरज्ञान के प्रकट होने से पूर्वज्ञान की भ्रमरूपता स्वतः ही होगी। भ्रम का कारण इन्द्रिय आदि का वेष ही होगा और उस दोष की निवृत्ति से ही उत्तरज्ञान यथार्थ होगा। अतः उत्तरज्ञान के पश्चात् पूर्वज्ञान के समान किसी दूसरे भ्रमरूप ज्ञान के न उत्पन्न होने का कारण दोषाभाव ही हो सकता है। उसकी उत्पत्ति में परज्ञान को हेतु मानना सर्वथा बेकार है।

यह भी कहना उचित नहीं है कि द्वितीय ज्ञान का नाश ही दोष का हटना है और वही पूर्वज्ञान के समान ज्ञानान्तर का बाधक है। ज्ञान अपनी उत्पत्ति के तीसरे क्षण में नष्ट होता है, अतः उत्तर ज्ञान का नाश और दोष का हटना एक ही बात हुई। पर ज्ञान के अनन्तर पूर्वज्ञान के सदृश ज्ञानान्तर का उत्पन्न न होना परज्ञान के कारण ही है, परन्तु इस कथन से तो यह सिद्ध होता है कि परज्ञान ही दोष है।

जब परज्ञान के नाश को ही दोष का हटाना मान लिया,

तब तो स्पष्ट ही सिद्ध हो गया कि ज्ञान ही दोष है। परन्तु भ्रमरूप पूर्व ज्ञान के पहले बाध ज्ञान रूप दोष तो था ही नहीं तब वह भ्रम के प्रति हेतु कैसे हो सकता है? इसलिए यह पक्ष भी असंगत है। ऐसे ही यह भी कहना ठीक नहीं है कि पर ज्ञान से पूर्वज्ञान का नाश होता है, क्योंकि यदि नाशक को ही बाधक कहा जाय, तो भ्रमात्मज पूर्वज्ञान से उत्पन्न होनेवाले स्मरणाजनक संस्कार को भी, पूर्वज्ञान जा नाशक होने से बाधक कहना पड़ेगा।

और भी एक बात है कि प्रेमा भी अपने से उत्तर उत्पन्न होनेवाले आत्मविशेषगुण इच्छादि से नष्ट होती है, सो उसे भी बाध्य होने के कारण भ्रम कहना होगा। 'पूर्वज्ञान के अप्रामाण्य का निश्चय कराने से ही उत्तर ज्ञान को बाधक कहते हैं, यह पक्ष भी संगत नहीं है; क्योंकि सर्पाभाव और रज्जु को ही विषय करनेवाले ज्ञान का, जब पूर्वज्ञान विषय ही नहीं है, तब वह उसके अप्रामाण्यका निश्चायक कैसे हो सकता है?

यह भी नहीं कह सकते कि "पूर्वज्ञान भ्रम है, सर्प के अभाववान् रज्जुखण्ड में सर्प प्रकाशक-ज्ञान होने से', ऐसे अनुमान का उत्थापक उत्तर ज्ञान बाधक है।" क्योंकि ऐसा मानने पर द्वितीय ज्ञान के होने पर भी प्रकृत अनुमान के उत्थान से पहले अनपोहित होने के कारण पूर्व ज्ञान को प्रवर्तक होना चाहिए। 'यह ज्ञान भ्रम है' यह बुद्धि भी बाध नहीं है। किन्तु ग्राह्य के अभाव का निश्चय ही बाध है, यही सबका सिद्धान्त है।

इसी प्रकार प्रथम ज्ञान का प्रामाण्य यद्यपि स्वतः ही प्रसक्त था, तथापि द्वितीय ज्ञान से अपोहित हो जाता है। पूर्व धर्मों में ज्ञान के विशेषणीभूत अर्थ का अभावबोध होना ही पूर्व ज्ञान-का बाध है। इस भांति पुर्वज्ञान उत्तर ज्ञान का बाधक नहीं होता,

क्योंकि ज्ञानान्तर से गृहीत विषय के अभावबोध को ही बाध कहा जाता है। उत्तर ज्ञान न तो पूर्व ज्ञान से गृहीत अर्थ का अभावबोधन करता है, परन्तु उत्तर ज्ञान से गृहीत विषय के अभाव का बोध पूर्वज्ञान नहीं करता। अतः वह बाधरूप नहीं हो सकता।

यह भी नहीं है कि सभी पूर्वज्ञान अपने विरोधी विषयवाले उत्तर ज्ञान से बाधित होते हों। किन्तु तभी बाधित होते हैं, जब कि उत्तर ज्ञानमें, दुष्टकारणाजन्यता के बोध से 'यह ऐसा नहीं है' इस विषयान्यथात्वबोध का बोध न हो। यदि द्वितीय ज्ञान का बाधक ज्ञान विद्यमान हो, तब तो निरपवाद होकर पहला ही ज्ञान प्रमाण हो जाता है। द्वितीय ज्ञान से तृतीय ज्ञान बाधित नहीं होता, क्योंकि वही ज्ञान बाधक होता है जिसमें दोषज्ञान न हो। द्वितीय ज्ञान ऐसा नहीं है, क्योंकि तृतीय ज्ञान से द्वितीय ज्ञान की सदोषता विदित हो चुकी है।

यदि तीसरे ज्ञान में भी दोष निर्णय या बाधक ज्ञान उत्पन्न हो जाय, तो फिर द्वितीय ज्ञान से भी पूर्वज्ञान का बाध होता है। 'इदं रजतम्' यह प्रथम ज्ञान उत्पन्न हुआ। 'नेदं रजतम्' यह द्वितीय ज्ञान हुआ। 'नेदं रजतमिति मिथ्याज्ञानम्' यह तीसरा ज्ञान हुआ और 'नेदं रजतमिति न मिथ्याज्ञानम्' यह चौथा ज्ञान हुआ। चारसे ऊपर पांचवी, सातवीं संख्यावाला ज्ञान ही कार्य करेगा, अतः उन्हें तृतीय ही समझना चाहिए। षष्ठ अष्टम आदि, चतुर्थ ज्ञान के कार्य करनेवाले हैं, अतः उन्हें चतुर्थ ही मानना चाहिए। इसीलिए अप्रामाण्य-निर्णय में अनवस्था न होगी।

प्रकृत प्रसङ्ग में जो चार ज्ञान दिखलाये गये हैं, उनमें से तीसरा, चौथा तथा अन्यान्य जो भी ज्ञान होंगे, वे सब भिन्न

विषयवाले होंगे। उनमें एक ज्ञान के विषय को दूसरा ज्ञान विषय नहीं करता। अप्रामाण्य-ज्ञान तो बाधक-ज्ञान तथा कारण-दोषज्ञान से होता है और बाधक-ज्ञान साक्षात् पूर्वज्ञान को बाधता है, परन्तु कारण-दोषज्ञान पूर्वज्ञान के भ्रमत्व-ज्ञापन द्वारा ही विषयान्यथात्वरूप बाध करेगा।

ज्ञान का अप्रामाण्य परतः होता है। इसीलिए ज्ञान के कारणों में दोष के संशय से ज्ञान के अप्रामाण्य का संशय हो जाता है। अतः प्रमाण में भी स्वाभाविकी अप्रमाणता-सी प्रतीत होती है। एवं स्वतःप्रामाण्य पक्ष में भी अप्रामाण्य-संशय होता है। जैसे चक्षुरादि प्रमाणों का प्रामाण्य (सत्यज्ञान की उत्पादकता) स्वाभाविक है, वैसे ही शब्दों का प्रामाण्य स्वाभाविक है। पौरुषेय वाक्यों में अप्रामाण्य वक्ता के भ्रमादि दोषों के अधीन होता है। जहाँ वक्ता के गुणों से दोषों का अभाव-निश्चय हो जाता है, वहाँ लौकिक वाक्य में भी स्वाभाविक प्रामाण्य बना ही रहता है, उसका अपोहन नहीं होता। और जहाँ दोषाभाव निश्चित नहीं हुआ, वहाँ लौकिक वाक्यों का प्रामाण्य अपोहित हो जाता है, अतः वहाँ अप्रामाण्य होता है। यहाँ अपौरुषेय वेद का निर्माता तो कोई है ही नहीं, अतः भ्रमादि दोषों का आश्रय ही नहीं है। इसलिए वेदों के औत्सर्गिक प्रामाण्य का निराकरण नहीं हुआ। अतः वेद प्रमाण हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि 'लौकिक वाक्यों की प्रमाणता पुरुषों के यथार्थ-ज्ञानवत्त्व सत्यवक्तृत्वादि गुणों से ही मानी जाती है। वेद का वक्ता न होने से जैसे उसमें दोष नहीं, वैसेही गुण भी नहीं, अतः फिर भी वेदों का अप्रामाण्य ही रहा' परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि गुण प्रामाण्य के कारण नहीं है यह

पहले ही कहा जा चुका है। दोष का न होना ही प्रामाण्य का कारण है। लौकिक वाक्यों में वक्ता के दोष हो सकते हैं, अतः वहाँ अप्रमाणता भी हो सकती है। वेद का वक्ता कोई है ही नहीं, इसलिए बिना विवेचन के उसकी प्रमाणता अपने आप ही सिद्ध है।

यदि यह कहा जाय कि 'फिर भी दोषों के अभाव की आवश्यकता तो वेदों के प्रामाण्य के लिए अपेक्षित ही है, फिर अपने आप (स्वतः) प्रमाणता कैसे हुई ?' सो भी ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ दोषाभाव का उपयोग वेदों के प्रामाण्य में नहीं है। दोष से प्रामाण्य का अपवाद होना सम्भव है, क्योंकि दोषाभाव के ज्ञान से अपवाद का अभाव जाना जाता है। इसलिए प्रामाण्य के अपवादाभाव में ही दोषाभाव को हेतुता है, न कि प्रामाण्य में। जहाँ विपरीत बाधक-ज्ञान से साक्षात् ही पूर्वज्ञान का मिथ्यात्व (भ्रमत्व) जाना जाता है और जहाँ ज्ञान-कारण के दोषज्ञान से ज्ञान का मिथ्यात्व-निश्चय किया जाता है, उन दोनों ही स्थलों में ज्ञान के अप्रामाण्य का कारण दोष ही है। गुणों का उपयोग दोषों के अभाव में है। अतएव दोष न होने से ही वेदों में किसी प्रकार का भी अप्रामाण्य नहीं होगा। स्वाभाविक प्रामाण्य के अपवाद में कोई कारण नहीं है। अतः जब प्रत्यक्षादि प्रमाणों की तरह ज्ञान के कारण होने से पौरुषेय वाक्य में भी औत्सर्गिक प्रामाण्य का अपोहन नहीं होता, तो फिर अपौरुषेय वेदवाक्यों की, जिनमें दोषाभाव स्वतःसिद्ध है, दृढ़तर प्रमाणता को हटा ही कौन सकता है ?

यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि 'पौरुषेय वाक्यों में यदि दोषाभाव गुणों से जाना जाता है और उनकी प्रमाणता के लिए

दोषाभाव की आवश्यकता है—इस पक्ष में अनवस्था दोष आ जाता है।' सो भी ठीक नहीं है, जब गुणों को प्रामाण्य का कारण माना जाता है, तब तो उनका ज्ञान भी अपेक्षित होता है। अर्थात् ज्ञानमय होकर गुण प्रामाण्य के प्रयोजक होते हैं, इसलिए अनवस्था होती है। परन्तु जहाँ दोषाभाव को ही प्रामाण्य का प्रयोजक मानते हैं, वहाँ तो गुणों की सत्तामात्र से दोषाभाव बन जाता है; वहाँ गुणों के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। गुण अपनी सत्ता से ही दोषों को हटाकर प्रामाण्य के अपवाद को दूर कर देते हैं। प्रमाणों का प्रामाण्य स्वाभाविक हो रहता है, इसलिए अनवस्था आदि कोई भी दोष नहीं हो सकता।

वेद में तो वक्ता न होने से गुण की अपेक्षा के बिना ही दोष-भाव सिद्ध है। अतः यहाँ अपवाद की शंका भी नहीं हो सकती। पौरुषेय वाक्य तो अपनी उत्पत्ति के लिए वक्ता की अपेक्षा रखते हैं, अतः उनके प्रामाण्य में दोषाभाव की अपेक्षा होती है, पर गुणों की नहीं। नैयायिक आदि दार्शनिकों ने ईश्वरोक्त होने से वेद के प्रामाण्य-व्यवस्थापन का जो प्रयत्न किया है, वह व्यर्थ ही है, क्योंकि जैसे पौरुषेय होने से नैयायिक वेद का प्रामाण्य मानेगा, वैसे ही बौद्धादि भी अपने-अपने दर्शनों के पौरुषेय होने पर भी उनका प्रामाण्य स्थापित करेंगे। यदि पुरुषाश्रित भ्रम-प्रमादादि दूषणों से उनके प्रामाण्य को दूषित समझा जायगा, तब तो वही आपत्ति वेदों पर भी लागू होगी। फिर नैयायिकों को सिवा शपथ के और कोई अवलम्बन ही नहीं रह जायगा। इसलिए आप्तनिर्मित आगम का भी प्रामाण्य होता है। अतः यदि वेद आप्तनिर्मित नहीं हैं, तो उनका प्रामाण्य न होगा' यह कथन निर्मूल है।

यद्यपि पौरुषेय वाक्यों का भी प्रामाण्य स्वतः, अपने आप ही होता है, तथापि पुरुषाश्रित दोषों से दूषित होने की शङ्का से उसका अपवाद भी हो जाया करता है। प्रामाण्य के इसी अपवाद का निवारण करने के लिए पौरुषेय वाक्य का मूलभूत (जिस प्रमाण से वाक्यार्थज्ञानपूर्वक वाक्य का प्रयोग हुआ है) प्रमाणान्तर अवश्य ही अपेक्षित होता है। यदि पौरुषेय वाक्य का मूलभूत कोई दूसरा प्रमाण न होगा, तब तो पौरुषेय वाक्य अप्रमाणमूलक होने से भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सादि दोषमूलक ही समझे जायँगे और उनका प्रामाण्य दोषों से अवश्य ही अपोहित हो जायगा। वेद में मूलभूत कोई प्रमाण न हो, तो भी अप्रमाणमूलकता का आक्षेप नहीं किया जा सकता, क्योंकि जहाँ वाक्यों का रचयिता कोई पुरुष निश्चित रहता है, वहीं वाक्यों को अप्रमाणमूलक कहा जाता है और वहीं दोष और उनसे स्वाभाविक प्रामाण्य के अपवाद की कल्पना की जा सकती है। जिन वाक्यों या ग्रन्थों का कोई रचयिता मान्य ही नहीं, फिर उन वाक्यों में उपर्युक्त कारणों से अप्रामाण्य कैसे होगा? प्रत्युत जैसे दोषाभाव वेदों के प्रामाण्य को पुष्ट करता है, वैसे ही मूलभूत प्रमाणान्तर का अभाव भी वेदवाक्यों के प्रामाण्य को अधिक पुष्ट करेगा।

प्रमाणान्तर से सिद्ध अर्थ के बोधक प्रमाण का तो स्मृति की तरह अप्रामाण्य ही समझा जाता है। जब प्रमाणान्तरमूलकता न होगी, तभी अज्ञातज्ञापकत्वेन वेद का मुख्य प्रामाण्य सिद्ध होगा। अग्निहोत्र होम और स्वर्ग का हेतुहेतुमद्भाव प्रमाणान्तर से सर्वथा अज्ञात है, तभी "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्यादि वेदवाक्यों का अज्ञातज्ञापक होने से प्रामाण्य है।

यहाँ यह शंका उठायी जाती है कि 'मान लिया जाय कि प्रमाणों का प्रामाण्य गुण के परतन्त्र नहीं है, दोषाभावमात्र से उनका प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है। किन्तु 'प्रमाणान्तर का संवाद (सम्मति) भी प्रामाण्य का कारण नहीं है' यह कथन तो किसी भी तरह नहीं जँचता, क्योंकि यह प्रसिद्ध ही है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा पौरुषेय वाक्यादि में प्रामाण्य की दृढ़ता का कारण प्रमाणान्तर-सम्मति ही है। अर्थात् यदि दूसरे प्रमाण से मेल मिल जाय, तो प्रमाण का प्रामाण्य (सत्यता) निश्चित हो जाता है और यदि किसी प्रमाण का दूसरे प्रमाण के साथ मिलान न हुआ, तब तो उसके प्रामाण्य में सन्देह ही रहता है। शंका उठती है कि वेद में दूसरे प्रमाणों का मेल बिलकुल नहीं मिलता। फिर उनका दृढ प्रामाण्य कैसे माना जाय?' इसका उत्तर यही है कि प्रामाण्य (सत्यता) का कारण प्रमाणान्तर का संवाद कहीं भी नहीं देखा गया। जहाँ एक विषय में अनेक विज्ञानों का संमर्द होता है, वहाँ वे सब ज्ञान अन्योन्यनिरपेक्ष हो स्वतन्त्र रूपसे प्रमाण होंगे। यह नहीं कहा जा सकता कि सभी मिलकर एक के प्रामाण्य में उपकार करेंगे। ज्ञानान्तर-संवाद यदि ज्ञान के प्रामाण्य का हेतु हो, तब तो सहस्रों नैयायिकों से साधित शब्द की अनित्यता का मीमांसक खण्डन न करते और न अनेक मीमांसकों द्वारा प्रसाधित शब्द-नित्यता का नैयायिक आदि ही खण्डन करते। अर्थात् यदि दो-चार नैयायिक या मीमांसकों के ज्ञानों से एक ज्ञान का मेल मिल जाय, तो उसका दृढ़ प्रामाण्य सभीको मान लेना चाहिए और एक दार्शनिक को दूसरे दार्शनिक के सिद्धान्त का खण्डन न करना चाहिए। किन्तु देखा इससे विपरीत ही जाता है।

कहा जाय कि 'जैसे दो-चार रत्नपरीक्षकों के संवाद से ही हीरा

आदि रत्नों के गुण या दोष विदित होते हैं और उन्हींके अनुसार क्रय-विक्रयादि व्यवहार भी होते हैं। इसी तरह यदि संवाद से प्रमाणता का निश्चय न किया जायगा, तो व्यवहार कैसे होगा?' किन्तु यह ठीक नहीं। यहाँ भी अन्योन्य-संवाद अन्योन्य-प्रामाण्य का प्रयोजक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पूर्वोक्त व्यभिचार से कार्यकारण-भाव का निर्णय असम्भव है। यदि ज्ञानान्तर-संवाद ज्ञानान्तर के के प्रामाण्य में अव्यभिचरित कारण होता, तो सहस्रों नैयायिकों के ज्ञानों से संवादी शब्द की अनित्यता का खण्डन कैसे किया जाता? अतः अनवस्था और व्यभिचार के भय से विवश होकर कहना पड़ेगा कि एक ज्ञान का औत्सर्गिक, स्वतःसिद्ध प्रामाण्य ही तत्र-तत्र व्यवहार का कारण है। यहाँ यह शंका की जाती है कि 'यदि ज्ञान का प्रामाण्य किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता, तो फिर एक ही विषय को दूर से देखने पर समीप जाकर जानने को इच्छा क्यों होती है? इससे तो यही मालूम होता है कि प्रथम ज्ञान से ठीक वस्तु का निश्चय नहीं हुआ, इसीलिए दूसरे ज्ञान से सम्मति की अपेक्षा होती है।' यह कहना भी ठीक नहीं है। व्यवहार और तत्त्वनिर्णय में बहुत भेद हुआ करता है। व्यवहार बिना तत्त्वनिश्चय के भी हो सकता है। अनावृष्टि आदि अनेक विघ्नों की सम्भावना से, फललाभ में सन्देह रहने पर भी कृषि आदि व्यवहार होते ही हैं। ऐसे ही जब सैकड़ों संवादों के रहते हुए भी अप्रामाण्य हो सकता है, तब तो दो-चार रत्नपरीक्षकों के ज्ञानसंवाद से ही संतोष करना पड़ता है। अन्यथा यदि उस संवाद के संवादार्थ अन्य ज्ञानको ढूँढ़ते फिरें, तो अनवस्थादि अवश्य ही होंगे। अतः आँख मूँदकर एक ज्ञान पर विश्वास करना ही पड़ेगा। दूरस्थ

वस्तु में जो विशेषांश है, उसकी प्रमा दूर से नहीं हो सकती, अतः उस अप्रमित अंश के जानने के लिए इच्छा होती है। अतः समीप जाकर देखने की इच्छा से भी ज्ञानान्तर का संवाद प्रामाण्यका कारण नहीं हुआ। अतएव प्रमाण को अपने प्रामाण्य के लिए ज्ञानान्तर-संवाद की अपेक्षा नहीं है।

इसके सिवा जैसे गुणों को प्रमाणता के निश्चय का कारण मानने में अनवस्था दोष होता है, वैसे ही संवाद को भी यदि प्रामाण्य का हेतु मानेंगे, तो वहाँ भी एक ज्ञान की प्रमाणता के लिए दूसरे ज्ञान का संवाद और उस ज्ञान की प्रमाणता के लिए फिर तीसरे ज्ञान के संवाद की अपेक्षा होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष यहाँ भी अनिवार्य होगा।

नैयायिक तथा बौद्धों का यह कथन है कि 'विषयज्ञान का प्रामाण्य अर्थ-क्रियाकारिता से होता है और अर्थक्रिया का प्रामाण्य स्वातन्त्र्येण मान्य होना चाहिए। जैसे जलज्ञान के अनन्तर पान, अवगाहनादि कार्य देखने से जलज्ञान की यथार्थता विदित होती है। ये सब कार्य ही अर्थ-क्रिया है और उस अर्थ-क्रिया का ज्ञान अपने आप ही प्रमाण होता है। इस भाँति-अनवस्था भी नहीं है तथा परतःप्रामाण्यवाला पक्ष ही ठीक है। अतः वेदों का स्वतःप्रामाण्य कथमपि बन नहीं सकता।' किन्तु यह पक्ष भी अविचारित-रमणीय है। कारण जब अर्थक्रिया-ज्ञान में अनवस्था-परिहार के लिए स्वतःप्रामाण्य मान लिया गया, तब लाघवात् प्रथम ज्ञान में ही स्वतःप्रामाण्य पक्ष का क्यों न स्वीकार कर लिया जाय ?

यहाँ यह कहा जाता है कि 'प्रथम ज्ञान की अपेक्षा अर्थक्रिया-ज्ञान में अव्यभिचार की ही विशेषता है। अर्थात्

यद्यपि पौरुषेय वाक्यों का भी प्रामाण्य स्वतः, अपने आप ही होता है, तथापि पुरुषाश्रित दोषों से दूषित होने की शङ्का से उसका अपवाद भी हो जाया करता है। प्रामाण्य के इसी अपवाद का निवारण करने के लिए पौरुषेय वाक्य का मूलभूत (जिस प्रमाण से वाक्यार्थज्ञानपूर्वक वाक्य का प्रयोग हुआ है) प्रमाणान्तर अवश्य ही अपेक्षित होता है। यदि पौरुषेय वाक्य का मूलभूत कोई दूसरा प्रमाण न होगा, तब तो पौरुषेय वाक्य अप्रमाणमूलक होने से भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सादि दोषमूलक ही समझे जायँगे और उनका प्रामाण्य दोषों से अवश्य ही अपोहित हो जायगा। वेद में मूलभूत कोई प्रमाण न हो, तो भी अप्रमाणमूलकता का आक्षेप नहीं किया जा सकता, क्योंकि जहाँ वाक्यों का रचयिता कोई पुरुष निश्चित रहता है, वहीं वाक्यों को अप्रमाणमूलक कहा जाता है और वहीं दोष और उनसे स्वाभाविक प्रामाण्य के अपवाद की कल्पना की जा सकती है। जिन वाक्यों या ग्रन्थों का कोई रचयिता मान्य ही नहीं, फिर उन वाक्यों में उपर्युक्त कारणों से अप्रामाण्य कैसे होगा? प्रत्युत जैसे दोषाभाव वेदों के प्रामाण्य को पुष्ट करता है, वैसे ही मूलभूत प्रमाणान्तर का अभाव भी वेदवाक्यों के प्रामाण्य को अधिक पुष्ट करेगा।

प्रमाणान्तर से सिद्ध अर्थ के बोधक प्रमाण का तो स्मृति की तरह अप्रामाण्य ही समझा जाता है। जब प्रमाणान्तरमूलकता न होगी, तभी अज्ञातज्ञापकत्वेन वेद का मुख्य प्रामाण्य सिद्ध होगा। अग्निहोत्र होम और स्वर्ग का हेतुहेतुमद्भाव प्रमाणान्तर से सर्वथा अज्ञात है, तभी "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्यादि वेदवाक्यों का अज्ञातज्ञापक होने से प्रामाण्य है।

यहाँ यह शंका उठायी जाती है कि 'मान लिया जाय कि प्रमाणों का प्रामाण्य गुण के परतन्त्र नहीं है, दोषाभावमात्र से उनका प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है। किन्तु 'प्रमाणान्तर का संवाद (सम्मति) भी प्रामाण्य का कारण नहीं है' यह कथन तो किसी भी तरह नहीं जँचता, क्योंकि यह प्रसिद्ध ही है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा पौरुषेय वाक्यादि में प्रामाण्य की दृढ़ता का कारण प्रमाणान्तर-सम्मति ही है। अर्थात् यदि दूसरे प्रमाण से मेल मिल जाय, तो प्रमाण का प्रामाण्य (सत्यता) निश्चित हो जाता है और यदि किसी प्रमाण का दूसरे प्रमाण के साथ मिलान न हुआ, तब तो उसके प्रामाण्य में सन्देह ही रहता है। शंका उठती है कि वेद में दूसरे प्रमाणों का मेल बिलकुल नहीं मिलता। फिर उनका दृढ प्रामाण्य कैसे माना जाय ?' इसका उत्तर यही है कि प्रामाण्य (सत्यता) का कारण प्रमाणान्तर का संवाद कहीं भी नहीं देखा गया। जहाँ एक विषय में अनेक विज्ञानों का संमर्द होता है, वहाँ वे सब ज्ञान अन्योन्यनिरपेक्ष हो स्वतन्त्र रूपसे प्रमाण होंगे। यह नहीं कहा जा सकता कि सभी मिलकर एक के प्रामाण्य में उपकार करेंगे। ज्ञानान्तर-संवाद यदि ज्ञान के प्रामाण्य का हेतु हो, तब तो सहस्रों नैयायिकों से साधित शब्द की अनित्यता का मीमांसक खण्डन न करते और न अनेक मीमांसकों द्वारा प्रसाधित शब्द-नित्यता का नैयायिक आदि ही खण्डन करते। अर्थात् यदि दो-चार नैयायिक या मीमांसकों के ज्ञानों से एक ज्ञान का मेल मिल जाय, तो उसका दृढ़ प्रामाण्य सभीको मान लेना चाहिए और एक दार्शनिक को दूसरे दार्शनिक के सिद्धान्त का खण्डन न करना चाहिए। किन्तु देखा इससे विपरीत ही जाता है।

कहा जाय कि 'जैसे दो-चार रत्नपरीक्षकों के संवाद से ही हीरा

आदि रत्नों के गुण या दोष विदित होते हैं और उन्हींके अनुसार क्रय-विक्रयादि व्यवहार भी होते हैं। इसी तरह यदि संवाद से प्रेमाणता का निश्चय न किया जायगा, तो व्यवहार कैसे होगा?' किन्तु यह ठीक नहीं। यहाँ भी अन्योन्य-संवाद अन्योन्य-प्रामाण्य का प्रयोजक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पूर्वोक्त व्यभिचार से कार्यकारण-भाव का निर्णय असम्भव है। यदि ज्ञानान्तर-संवाद ज्ञानान्तर के के प्रामाण्य में अव्यभिचरित कारण होता, तो सहस्रों नैयायिकों के ज्ञानों से संवादी शब्द की अनित्यता का खण्डन कैसे किया जाता? अतः अनवस्था और व्यभिचार के भय से विवश होकर कहना पड़ेगा कि एक ज्ञान का औत्सर्गिक, स्वतःसिद्ध प्रामाण्य ही तत्र-तत्र व्यवहार का कारण है। यहाँ यह शंका की जाती है कि 'यदि ज्ञान का प्रामाण्य किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता, तो फिर एक ही विषय को दूर से देखने पर समीप जाकर जानने को इच्छा क्यों होती है? इससे तो यही मालूम होता है कि प्रथम ज्ञान से ठीक वस्तु का निश्चय नहीं हुआ, इसीलिए दूसरे ज्ञान से सम्मति की अपेक्षा होती है।' यह कहना भी ठीक नहीं है। व्यवहार और तत्त्वनिर्णय में बहुत भेद हुआ करता है। व्यवहार बिना तत्त्वनिश्चय के भी हो सकता है। अनावृष्टि आदि अनेक विघ्नों की सम्भावना से, फललाभ में सन्देह रहने पर भी कृषि आदि व्यवहार होते ही हैं। ऐसे ही जब सैकड़ों संवादों के रहते हुए भी अप्रामाण्य हो सकता है, तब तो दो-चार रत्नपरीक्षकों के ज्ञानसंवाद से ही संतोष करना पड़ता है। अन्यथा यदि उस संवाद के संवादार्थ अन्य ज्ञानको ढूँढ़ते फिरें, तो अनवस्थादि अवश्य ही होंगे। अतः आँख मूँदकर एक ज्ञान पर विश्वास करना ही पड़ेगा। दूरस्थ

वस्तु में जो विशेषांश है, उसकी प्रमा दूर से नहीं हो सकती, अतः उस अप्रमित अंश के जानने के लिए इच्छा होती है। अतः समीप जाकर देखने की इच्छा से भी ज्ञानान्तर का संवाद प्रामाण्यका कारण नहीं हुआ। अतएव प्रमाण को अपने प्रामाण्य के लिए ज्ञानान्तर-संवाद की अपेक्षा नहीं है।

इसके सिवा जैसे गुणों को प्रमाणता के निश्चय का कारण मानने में अनवस्था दोष होता है, वैसे ही संवाद को भी यदि प्रामाण्य का हेतु मानेंगे, तो वहाँ भी एक ज्ञान की प्रमाणता के लिए दूसरे ज्ञान का संवाद और उस ज्ञान की प्रमाणता के लिए फिर तीसरे ज्ञान के संवाद की अपेक्षा होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष यहाँ भी अनिवार्य होगा।

नैयायिक तथा बौद्धों का यह कथन है कि 'विषयज्ञान का प्रामाण्य अर्थ-क्रियाकारिता से होता है और अर्थक्रिया का प्रामाण्य स्वातन्त्र्येण मान्य होना चाहिए। जैसे जलज्ञान के अनन्तर पान, अवगाहनादि कार्य देखने से जलज्ञान की यथार्थता विदित होती है। ये सब कार्य ही अर्थ-क्रिया है और उस अर्थ-क्रिया का ज्ञान अपने आप ही प्रमाण होता है। इस भाँति-अनवस्था भी नहीं है तथा परतःप्रामाण्यवाला पक्ष ही ठीक है। अतः वेदों का स्वतःप्रामाण्य कथमपि बन नहीं सकता।' किन्तु यह पक्ष भी अविचारित-रमणीय है। कारण जब अर्थक्रिया-ज्ञान में अनवस्था-परिहार के लिए स्वतःप्रामाण्य मान लिया गया, तब लाघवात् प्रथम ज्ञान में ही स्वतःप्रामाण्य पक्ष का क्यों न स्वीकार कर लिया जाय ?

यहाँ यह कहा जाता है कि 'प्रथम ज्ञान की अपेक्षा अर्थक्रिया-ज्ञान में अव्यभिचार की ही विशेषता है। अर्थात्

पान, अवगाहनादि कार्य व्यभिचारी (झूठा) नहीं होता, जब कि प्रथम जल ज्ञान झूठा भी हो जाता है। अतः पहले ज्ञान में स्वतःप्रामाण्य नहीं, द्वितीय ज्ञान में होता है। यहाँ यह जो समझा जाता है कि स्वप्न में स्नान-पानादि कोई भी अर्थक्रिया नहीं होती, पर उन अर्थक्रियाओं का ज्ञान होता है। अतः अर्थक्रिया में भी व्यभिचार (झूठापन) है, फिर उसका स्वतःप्रामाण्य क्यों माना जाय?' सो भी ठीक नहीं; क्योंकि स्नान-पानादि मुख्य अर्थक्रिया नहीं है, किन्तु सुख-दुःख ही मुख्य अर्थक्रिया है। सुख-दुःख न रहने पर सुख-दुःख का अनुभव कदापि नहीं हो सकता। सुख-दुःख अपने-अपने अनुभव के साथ ही उत्पन्न तथा नष्ट होते हैं। यही सुख-दुःखज्ञान मुख्य अर्थक्रियाज्ञान है, उसका व्यभिचार कभी नहीं होता। अतः वे ही स्वतः प्रमाण हैं।'

इन सब आक्षेपों का समाधान यही है कि सुख-दुःखादि प्रत्यक्षरूप अर्थक्रियाज्ञान से पूर्वज्ञान का प्रामाण्य कथमपि निर्णीत नहीं होता, क्योंकि स्वप्न में होनेवाला जो मिथ्या प्रिया-सङ्गमविज्ञान है, उसमें सुखानुभव सभीको मान्य है। परन्तु क्या इतनेमात्र से वह मिथ्या प्रिया-सङ्गम-विज्ञान प्रमाण हो सकता है? यदि नहीं, तो फिर सुख-दुःखप्रत्यक्षरूप अर्थक्रिया-ज्ञान से पूर्वज्ञान की प्रमाणता कैसे हो सकती है?

इसके सिवा यदि एक ज्ञान को अपने प्रामाण्य के लिए अन्य ज्ञान के संवाद की अपेक्षा हो, तब तो श्रोत्रजन्य शब्द-विज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध ही नहीं हो सकता, क्योंकि सिवा श्रोत्र के और किसी करण से शब्द का ज्ञान होता ही नहीं। यदि यह कहा जाय कि यद्यपि श्रावण ज्ञान का उसके विजातीय

चाक्षुषादि ज्ञान से संवाद (मेल) नहीं होता, तथापि दूसरे सजातीय श्रावण ज्ञानों के साथ संवाद होने से ही उसका प्रामाण्य सिद्ध हो जायगा', तो फिर यह भी कहा जा सकता है कि वेदजन्य वेदार्थज्ञान का भी यद्यपि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से संवाद नहीं होता, तथापि भिन्नकालिक उच्चारण के पश्चात् उत्पन्न होनेवाले दूसरे वेदार्थविज्ञानों के साथ संवाद होने से प्रामाण्य बन जायगा।

एक वेदवाक्य के अनेक बार उच्चारण से अनेक बार वाक्यार्थज्ञान होता ही है। तथाच एक वाक्यार्थज्ञान का सजातीय दूसरे वाक्यार्थज्ञान से संवाद है ही। फिर प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणों के साथ संवाद न होनेमात्र से वेदों के अप्रामाण्य की शङ्का कैसे हो सकती है ? इन सब विवेचनों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रमाणों को अपनी प्रमाणता में गुण, संवाद या अर्थक्रिया के ज्ञानों में से किसीकी भी अपेक्षा नहीं होती। ऐसी स्थिति में अपौरुषेय वेदों का भी निरपेक्ष-प्रमाणत्व सिद्ध ही है।

अब, जो यह कहा जाता है कि 'जो वाक्य आप्त (सत्यवादी) से निर्मित नहीं है, ऐसे मिथ्यावादियों से निर्मित वाक्यों का प्रामाण्य नहीं देखा जाता। वेद भी यदि किसी आप्त के बनाये नहीं हैं, तो उनके अप्रामाण्य का ही अनुमान हो सकता है।' सो भी ठीक नहीं। कारण यह कि प्रमाण की सिद्धि के लिए अनुमान की अपेक्षा नहीं होती। अनुमान में दृष्टान्तों की अपेक्षा हुआ करती है। अतः वेद से भिन्न आप्त से न रचे हुए वाक्यों का प्रामाण्य अदृष्ट होने पर भी कोई हानि नहीं। यदि किसी भी प्रमाण को अपनी प्रमाणता के लिए अनुमान की अपेक्षा मानी जायगी, तब तो उस अनुमान को भी अपनी प्रमाणता

के लिए दूसरे अनुमान की अपेक्षा होगी। इस तरह अनवस्था अपरिहरणीय हो जायगी।

यहाँ यह भी शङ्का होती है कि 'यदि मान भी लिया जाय कि प्रमाणों की प्रमाणता स्वतः ही है, पर उसका ग्रहण कैसे होगा? ज्ञान जिस आकारवाला होता है, उसीका निश्चायक होता है। घटज्ञान का आकार या विषय तो घट ही है। 'मैं स्वतः प्रमाण हूँ' ऐसा आकार तो घटज्ञान का है नहीं। फिर घट के सिवा घटज्ञान से अपना प्रामाण्य कैसे निश्चित होगा, जब कि ज्ञान अपने आपको ही ग्रहण नहीं कर सकेगा? यदि ज्ञान की प्रमाणता ही अविज्ञात है, तो फिर उससे कोई भी व्यवहार कैसे हो सकेगा?' इसका समाधान यही है यद्यपि एक में ही ग्राह्य-ग्राहकभाव न बनने के कारण ज्ञान अपना ग्राहक नहीं होता, इसी कारण उसकी अप्रमाणता भी अविज्ञात ही है, तथापि अपने विषय का निश्चयरूप विज्ञान अविज्ञात रहकर ही सत्तामात्र से व्यवहार सिद्ध करेगा? व्यवहारों को अपनी सिद्धि में अपने हेतुभूत ज्ञान के ज्ञान की या ज्ञान के प्रामाण्यज्ञान की अपेक्षा नहीं होगी। फललाभ में सन्देह रहने पर भी कृषि और क्रय-विक्रयादि व्यवहारों की प्रवृत्तियाँ देखी ही जाती हैं।

हाँ, व्यवहारों के होने से यदि किसीको उन व्यवहारों के कारणभूत ज्ञानों के प्रामाण्य की जिज्ञासा हो, तो 'अमुक ज्ञान प्रमाण था, सफल प्रवृत्ति का जनक होने से, सम्प्रतिपन्न की भाँति' ऐसे अनुमानों से व्यवहारजनक ज्ञानों की प्रमाणता गृहीत हो सकती है। अनुमान से निश्चित होनेवाली यह प्रमाणता भी ज्ञान की नहीं, किन्तु विषय की सत्यता ही है। जिस ज्ञान का विषय सत्य होता है, वही ज्ञान प्रमाण कहा

जाता है। अतः विषय की सत्यतारूप प्रमाणता ही ज्ञान की प्रमाणता है।

'ज्ञान प्रमाण है' ऐसा व्यवहार भी विषय-सत्यता के ही आधार पर होता है। घटादि विषयों की सत्यतारूप प्रमाणता तो अज्ञात ज्ञान से ही निश्चित हो सकती है, क्योंकि स्वभाव से ही सभी ज्ञान अपने प्रकाश्य विषय की सत्यता के निश्चायक होते हैं। अतः 'ज्ञान प्रमाण है' ऐसे व्यवहार के लिए ज्ञान के ज्ञान की भी अपेक्षा नहीं है। फिर प्रामाण्य की बात ही क्या ?

शुक्तिका में रजतज्ञान अप्रमाणभूत ज्ञान है। वह स्वविषय-मिथ्यात्वरूप अप्रामाण्य का प्रकाश नहीं करता, क्योंकि शुक्तिका में रजत का न होना ही उस ज्ञान की अप्रमाणता है। शुक्तिका में रजतभ्रमरूप ज्ञान उसमें रजत का न होना कैसे प्रकाशित कर सकता है ? रजतज्ञान अपने विषय के अनुसार मिथ्याभूत रजत को ही ग्रहण करता है। यदि रजतज्ञान अपने विषयान्यथास्वरूप अप्रामाण्य का अपने आप ही ग्रहण करे, तब तो 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) यही उस ज्ञान का आकार होना चाहिए। परन्तु 'इदं रजतम्' इस ज्ञान का वैसा आकार नहीं है।

ज्ञानों में अपने विषयों की सत्यतारूप प्रमाणता स्वाभाविकी है। उसीका माहात्म्य है कि अप्रमाणभूत रजत-भ्रमादि ज्ञान, जबतक 'नेदं रजतम्' ज्ञान से बाध न हो तबतक, अपने प्रामाण्य का प्रकाशन करता हुआ स्वाकार के अनुरूप प्रवृत्ति तथा निवृत्ति सम्पादन करता है। यहाँतक कि कहीं 'नायं सर्पः' ऐसे बाध-ज्ञान से सर्पज्ञान का मिथ्यात्व-निश्चय हो जाने पर भी कुछ क्षणतक सर्पज्ञान का कार्य भय, कम्पादि उपद्रव बने ही

रहते हैं। सारांश यही कि ज्ञान अपने अप्रामाण्य का स्वयं ग्राहक नहीं हो सकता। अतः रजतज्ञान के अप्रामाण्य-ग्रहण के लिए और उससे होनेवाले प्रवृत्त्यादि-व्यवहार की निवृत्ति के लिए 'नेदं रजतम्' ऐसे बाधज्ञान की अपेक्षा होती है।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि ज्ञान की प्रमाणता स्वाभाविकी है और अप्रमाणता बाधकभूत दूसरे ज्ञान से होती है। जिन लोगों ने आप्तप्रणीतत्वादि हेतुओं से अनुमान द्वारा वेद का अप्रामाण्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, उनका वह प्रयत्न निष्फल है; क्योंकि अनुमान द्वारा वेद की अप्रमाणता सिद्ध ही नहीं हो सकती।

किसी भी वाक्य की अप्रमाणता के लिए वक्ता का दोषज्ञान या वाक्यार्थ का बाधज्ञान, ये ही दो हेतु अपेक्षित हैं। जब कि वेदों का कर्ता ही नहीं है, तब वक्ता के दोषों की कल्पना का कोई आधार ही नहीं रह जाता। फिर, वेदवाक्यों के अर्थ धर्म और स्वर्गादि ऐसे हैं, जिनका ज्ञान सिवा वेदों के किसी प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणों से हो ही नहीं सकता। इस भाँति जब अज्ञात-ज्ञापक वेदवाक्यों का अर्थ अनुमानादि से जाना नहीं जाता, तब उसकी असत्यतारूप अप्रमाणता भी अनुमानादिकों से कैसे जानी जायगी? जो जिसके स्वरूप को नहीं जानता, वह उसके अस्तित्व-नास्तित्व के विषय में भी क्या कह सकता है? वेदवाक्यार्थ की असत्यता ही 'वेदों का अप्रामाण्य है। जब स्वर्गादि वेदार्थ प्रत्यक्षानुमानादि द्वारा जाना ही नहीं जाता, तब उसकी असत्यता भी अनुमानादि से ज्ञात नहीं हो सकती। अतः अनुमानादि द्वारा वेदों के अप्रामाण्यापादन का यत्न व्यर्थ ही है।

अतएव नैयायिकों ने आगम से अविरुद्ध अर्थ में ही अनुमान की सामर्थ्य मानी है। आगमविरुद्ध प्रत्यक्ष तथा अनुमान स्वयं ही बाधित हो जाते हैं। जैसे किसीने स्थूलदृष्टि से निर्मल देखकर मृत मनुष्य के शिर को पवित्र कहा या किसीने "नरशिरःकपालं शुचिः प्राण्यङ्गत्वात् शङ्खशुक्तिकादिवत्"—'मनुष्य का कपाल पवित्र है, प्राणी का अङ्ग होने से, शङ्ख की तरह' ऐसा अनुमान करके उसे पवित्र कहा। किन्तु धर्मशास्त्र तो "नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं सवासा जलमाविशेत्"—'मनुष्य की सस्नेह अस्थि को स्पर्शकर सचैल स्नान करना चाहिए', इस प्रकार उसे अपवित्र और अस्पृश्य कहता है। प्रत्यक्षदर्शी और आनुमानिक के लिए तो अशुद्धि केवल मलमूत्रादि-संसर्गमात्र है और मलमूत्रादि का संसर्ग न होना ही शुद्धि है। परन्तु आगमगम्य शुद्धि और अशुद्धि कुछ और ही है, जो कि प्रत्यक्ष और अनुमान से समझी ही नहीं जा सकती। पापरूप अशुद्धि और पाप का अभावरूप शुद्धि जब प्रत्यक्ष-अनुमानादि का विषय ही नहीं है, तब शास्त्रीय अर्थ के बाध में प्रत्यक्ष-अनुमान की सामर्थ्य कैसे कही जा सकती है?

यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'जैसे वेदों का प्रामाण्य सिद्ध किया जा रहा है, वैसे ही मिथ्यावादियों के भी किन्हीं अलौकिक अद्भुत वाक्यों का प्रामाण्य सिद्ध हो जायगा।' क्योंकि पौरुषेय वाक्यों की प्रमाणता मूलप्रमाणता के ही अधीन हुआ करती है। अर्थात् सत्यवादी पुरुष किसी प्रमाण से अर्थ का निर्णय करके ही बोलता है। मिथ्यावादी पुरुष के अद्भुत वाक्य की परीक्षा करने पर मूलप्रमाण नहीं मिलता; उल्टे पुरुष के मिथ्याभाषणादि दोषों को जानकर उसके वाक्य में अप्रमाणताबुद्धि ही अधिक स्पष्ट होती है।

कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि 'जैसे आगम-वाक्यों से अनुमान का बाध हो जाता है, वैसे ही अनुमान से वेद का ही बाध क्यों न हो' परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जब अनुमानों से वेदार्थ का बाध निश्चित हो जाय, तभी वेदार्थ में मिथ्यात्व या अप्रामाण्य आ सकता है और जब वेदार्थ का मिथ्यात्व सिद्ध हो, तभी वेदार्थ की अप्रमाणता का अनुमान हो सकता है—इस भाँति यहाँ अन्योन्याश्रय दोष आ पड़ता है।

यह भी कहना असंगत है कि 'जैसे अनुमान से भिन्न और किसी प्रमाण से वेदार्थ का बाध नहीं होता, वैसे ही वेद से भिन्न और किसी प्रमाण से वेदार्थ की सिद्धि भी नहीं होती। फिर वेदार्थ की सत्यता कैसे सिद्ध होगी?' हमारा यह कथन नहीं कि वेदार्थ के बाध में अनुमान को छोड़कर दूसरा प्रमाण नहीं, इसलिए वेदार्थ ठीक है। किन्तु वेदार्थ में किसी भी तरह अनुमान की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती और वेदार्थ को सिद्ध करनेवाला वेद है ही। किसी भी एक प्रमाण से जो अर्थ जाना जाय, वह केवल दूसरे प्रमाण से अज्ञात होनेमात्र से अप्रामाणिक नहीं समझा जा सकता; क्योंकि ऐसा होने पर तो जिह्वा और श्रोत्र आदि से गृहीव होनेवाले रस और शब्दादि भी नेत्रादि से अगृहीत होने के कारण अप्रामाणिक ठहर जायँगे। जो प्रमेय अर्थ एक प्रमाण से सिद्ध हो गया, उसे अपनी सिद्धि के लिए दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। अतएव वेद प्रमाण से जिस धर्म, याग, स्वर्गादि की सिद्धि हुई, उन्हें अपनी सिद्धि में दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'प्रवर्तक-निवर्तक विधिवाक्यों

को जो प्रमाण मानते ही नहीं, उनके मत में वेदार्थ का अभाव सिद्ध करनेवाले अनुमानों पर वेदविधिविरुद्धत्व दूषण कैसे दिया जा सकता है ?' इसका उत्तर यही है कि यद्यपि नास्तिक वेदों को प्रमाण नहीं मानता, तथापि आस्तिक वैदिक तो मानता ही है। वैदिक को समझाने के लिए ही अवैदिक वेदार्थ-बाधक अनुमान उपस्थापित करेगा। किन्तु वेदविरुद्ध अनुमान से वैदिक वेदार्थबाध कैसे मान सकेगा, क्योंकि उसके मन में तो यह बात दृढ़ रहती है कि वेदविरुद्ध अनुमान अप्रामाणिक होता है। अतः वैदिक की बुद्धि में अनुमान से आगम का बाध जम नहीं सकता।

यदि कहा जाय कि 'फिर वैदिक के ही मत में वेदों का प्रामाण्य कैसे सिद्ध होगा ?' तो वह भी असङ्गत है। क्योंकि वेद से यदि सन्देहरूपा प्रतीति होती, तब तो उसके प्रामाण्य के लिए दूसरे साधन की अपेक्षा पड़ती। यहाँ तो अवैदिक नास्तिक को भी मानना पड़ेगा कि वेदों से "स्थाणुर्वा पुरुषो वा" की तरह संशयरूप ज्ञान नहीं होता। साथ ही उसे यह भी मानना पड़ेगा कि जब वेदार्थ में प्रत्यक्ष और अनुमान की गति ही नहीं है, तब उनसे वेदार्थ का अभाव (बाध) भी ज्ञात नहीं हो सकता। जब प्रत्यक्षादि से वेदार्थ-बाधबुद्धि न हुई, तब वेदार्थ-बोध को भ्रम भी कैसे कहा जा सकता है ?

फिर वैदिक शब्दों से वेदार्थ का बोध नहीं होता, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अपने-अपने अर्थ का बोध कराना शब्दों का अनिवार्य स्वभाव है। जैसे वैदिकों को वैदिक शब्दों के श्रवण से वेदार्थबोध हो सकता है, वैसे ही संस्कृत जाननेवाले नास्तिकों को भी वेदार्थबोध होता ही है। यह नहीं हो सकता कि अग्नि मेरे लिए

उपण हो और अवैदिक के लिए वैसा न हो। जब वेदवाक्यों से वैदिक और वेद-बाह्यों को समान ही बोध उत्पन्न होता है, तब उस वेदार्थ-बोध का विषय भी समान ही होगा। बोध का यह स्वभाव ही है कि वह अपने विषय के स्वाभाविक रूप का ही अवगाहन करता है और वह स्वाभाविक रूप ही उस ज्ञान की सत्यता और प्रमाणता है। फिर तो जैसे वैदिकों का वेदार्थ-बोध वेदार्थ की सत्यतारूपी प्रमाणता को विषय करता है, वैसे ही वेदबाह्यों का भी वेदार्थ-बोध उसकी प्रमाणता को विषय करेगा।

वेदार्थ की प्रमाणता ही वेद की प्रमाणता है। ऐसी स्थिति में वेद-बाह्यों का भी यह कहना कि 'वेद को प्रमाण नहीं मानते', मिथ्या ही हैं। किसीकी इच्छा या स्वीकृतिमात्र से किसी ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता। अन्यथा मनोराज्य के ज्ञानों की प्रमाणता अनिवार्य हो जायगी। इसी भाँति किसी पदार्थ के अस्वीकार या द्वेष से किसीकी अप्रमाणता सिद्ध नहीं होती। अन्यथा प्रत्यक्ष से भी वह्निजन्य दाहादिकों के द्वेषमात्र से अप्रामाणिकता हो जायेगी।

अब, यहाँ सन्देह यह होता है कि यदि ज्ञान को उत्पन्न करानेमात्र से वेद की प्रमाणता है, तो उसी हेतु से बुद्धादि-वाक्यों की भी प्रमाणता माननी पड़ेगी।' परन्तु यह ठीक नहीं, कारण अप्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय पदार्थों में पुरुष की दर्शनशक्ति नहीं होती, अतीन्द्रिय पदार्थों में प्रत्यक्षादि की प्रवृत्ति असम्भव है। इसलिए बुद्धादिवाक्यों का मूल सिवा भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सादि दोषों के और कुछ नहीं हो सकता। अर्थात् धर्म तथा ईश्वर के भाव तथा अभाव दोनों स्थलों में जब प्रत्यक्षादि की प्रवृत्ति नहीं

होती, तब बिना भ्रान्ति आदि के उनका खण्डन या मण्डन दोनों ही नहीं बन सकते।

अतः धर्म और ईश्वर के विषय में बुद्धादिवाक्य सर्वथा भ्रमादिमूलक हैं। इसीसे उनकी साधारण लौकिक वाक्यों जैसी साधारण प्रमाणता भी हट गयी। किन्तु वेद तो अपौरुषेय होने से नित्य, निर्दोष, अबाधित और स्वतःप्रमाण हैं। फिर उनकी पौरुषेय वाक्यों के साथ बराबरी कैसे की जा सकती है?

रजतादि अर्थों की सत्यता ही उनका प्रामाण्य है। मुख्य प्रामाण्य अर्थों में ही रहता है, ज्ञान में तो गौणी वृत्ति से ही प्रामाण्य का व्यवहार है, क्योंकि ज्ञान असत्य भी हुआ करता है। विषयरूप अर्थ की सत्यता के कारण ही ज्ञान में भी सत्यता और प्रमाणता का व्यवहार होता है। अर्थों की सत्यता के साथ ज्ञानों का सम्बन्ध स्वाभाविक है। इसीसे उक्त सम्बन्ध में अन्य की अपेक्षा नहीं होती। यही स्वतःप्रमाण्य है। अप्रामाण्य भी अर्थों में ही रहता है। रजत-भ्रमस्थल में रजत की असत्यता से ही उस ज्ञान का अप्रामाण्य है। रजत-भ्रमज्ञान से रजत की असत्यता प्रकाशित नहीं होती, किन्तु "नेदं रजतम्, किन्तु शुक्तिरियम्" यही ज्ञान रजत की असत्यता सिद्ध करता है। इसीसे रजतज्ञान का अप्रामाण्य परतः कहा जाता है।

इस विषय में और भी अनेक प्रकार के विचार उठाये गये हैं। स्वतःप्रमाण के विषय में कुछ लोगों का कहना है कि 'स्वतः-प्रामाण्य' इस शब्द में 'स्व' शब्द क्या आत्मा अर्थात् ज्ञान का वाचक है या आत्मीय ज्ञानसामग्री आदि का वाचक है? साथ ही क्या प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है या स्वतः ज्ञात होता

है ? क्या वह विषयसत्यता का रूप है अथवा ज्ञान में रहनेवाली विषयों की सत्यता निश्चित करानेवाली शक्ति है ?'

इसपर कुछ लोग कहते हैं कि 'स्व' शब्द आत्मा का वाचक है और प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न नहीं होता, अपितु स्वतः ज्ञात होता है। अभिप्राय है यह कि ज्ञान का प्रामाण्य अपने आप अर्थात् ज्ञान से ही ज्ञात होता है। विषयों की सत्यता को ही प्रामाण्य कहा जाता है।'

इसके विपरीत कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि 'विषय की सत्यता को प्रकाशित करना ही ज्ञान का प्रामाण्य है। यह प्रामाण्य स्वतः अर्थात् आत्मीय कारणसामग्री से ही ज्ञान की भाँति उत्पन्न होता है, वह ज्ञानसामग्री से अधिक किसी गुण आदि की अपेक्षा नहीं करता। असत्य विषय को प्रकाश करनेवाला अप्रामाण्य भी ज्ञान का ही धर्म है, किन्तु वह स्वतः (कारणसामग्री) इन्द्रियादि से नहीं, इन्द्रियादि के दोषों से उत्पन्न होता है। इसीलिए अप्रामाण्य परतः कहा जाता है।

यदि ज्ञान की प्रमाणता इन्द्रियादि-गुण से और अप्रमाणता इन्द्रियादि-दोष से ही उत्पन्न होती, तब तो गुण से रहित आरोपित दोष से युक्त इन्द्रियादि द्वारा उत्पन्न 'पीतः शङ्खः' यह ज्ञान सर्वथा ही मिथ्या होता। लोक में स्पष्ट ही है कि 'पीतः शङ्खः' इस ज्ञान में भी शंखांश ज्ञान में सत्य है, मिथ्या केवल पीलापन का ही ज्ञान है। यह बात तभी संगत हो सकती है, जब ज्ञान की अप्रमाणता दोष के अधीन हो। अर्थात् दोषजन्य ज्ञान अप्रमाण हो और इन्द्रियादि कारण के अधीन ज्ञान की प्रमाणता हो; क्योंकि इन्द्रिय और दोष-सम्मेलन से जहाँ 'पीतः शङ्खः' इत्यादि ज्ञान उत्पन्न

होगा, वहाँ पित्तदोष और इन्द्रिय दोनों की ही कारणता होगी, अतः उस ज्ञान के एक अंश में सत्यता और दूसरे अंश में असत्यता ही उत्पन्न हो सकेगी।

अतः ज्ञानों के कारणभूत इन्द्रियादिकों से उनमें (ज्ञानों में) यथार्थतारूप सत्यता उत्पन्न होती है, ज्ञान की यथार्थतारूप प्रमाणता उसी ज्ञान से नहीं जानी जा सकती। इसलिए ज्ञान से ही ज्ञान की प्रमाणता जानी जा सकती है, यह पक्ष सङ्गत नहीं है। ज्ञान केवल अपने विषय का प्रकाश करता है। जब वह सिवा विषय के अपना भी प्रकाश नहीं करता, तब अपने में रहनेवाली प्रमाणता को कैसे प्रकाशित कर सकेगा? अतः कारणभूत दोषों से अप्रमाणता ही ज्ञान का परतः अप्रामाण्य है। इस तरह स्पष्ट है जब वेद का कर्ता सिद्ध नहीं है, तब वेदों में कारणदोष की शंका नहीं हो सकती। इसीलिए वेदों में अयथार्थतारूप अप्रमाणता का सन्देह भी नहीं उठ सकता। इस प्रकार वेद की प्रमाणता स्वतःसिद्ध है।

दूसरे महानुभाव 'अज्ञात एवं सत्य पदार्थों के बोधक ज्ञान को प्रमाण-ज्ञान' कहते हैं। तथा च अनधिगत एवं अबाधित पदार्थों की बोधकता ही ज्ञान की प्रमाणता है और इस प्रकार की प्रमाणता उन ज्ञानों से ही विदित होती है। इस सिद्धान्त में स्वतःप्रामाण्य के 'स्व' शब्द से आत्मा अर्थात् ज्ञान ही गृहीत होता है। सत्य अर्थ का निश्चय ही प्रामाण्य है। यह सत्य अर्थ का निश्चय सिवा पदार्थज्ञान के कारण गुणज्ञान, संवादज्ञान, अर्थक्रियाज्ञानादि किसीकी अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि उन सभी पक्षों में अनवस्था दोष अपरिहार्य होता है। एवं पदार्थ के मिथ्याज्ञान का निश्चय दोषज्ञान, अर्थबाध

या विषयवैपरीत्य के निश्चय से होता है। इसीलिए अप्रामाण्य परतः कहा जाता है। इस पक्ष में भी स्वतः (ज्ञान से) ही प्रामाण्य उत्पन्न होता है, न कि जाना जाता है।

इस विषय में कहना यही है कि यदि स्वतःप्रामाण्य-पक्ष में ज्ञान अपने प्रामाण्य की उत्पत्ति में कारण है, तब तो फिर परतः अप्रामाण्य-पक्ष में भी कारण दोषज्ञान तथा बाधकज्ञान को अप्रामाण्य की उत्पत्ति में ही कारण मानना चाहिए। परन्तु यह तब सम्भव होता, जब रजतादि मिथ्याज्ञान पहले प्रमाण (सत्य) होते और फिर 'नेदं रजतं शुक्तिरेव' इस बाधकज्ञान से अप्रमाण (मिथ्या) होते।

शुक्तिका में रजतज्ञान का अप्रामाण्य बाधकज्ञान से उत्पन्न नहीं समझा जाता, क्योंकि वह उत्पत्तिकाल से ही अप्रमाण रहता है। अयथार्थ निश्चय को ही अप्रमाण कहा जाता है। यह अप्रामाण्य तो अपने आप ही होता है, बाधक-ज्ञानादि किसीकी भी अपेक्षा नहीं करता। यह हो ही नहीं सकता कि कोई ज्ञान उत्पन्न होकर तो प्रमाण रहा हो और बाधकज्ञान से अप्रमाण हो जाय। हाँ, यह तो सङ्गत है कि ज्ञान का अप्रामाण्य रहा तो ज्ञान की उत्पत्ति से ही; परन्तु उसका ज्ञान बाधक-ज्ञान से ही हुआ है। तथाच मिथ्याज्ञान था तो जन्म से ही अप्रमाण, परन्तु उसकी अप्रमाणता का निश्चय बाधकज्ञान से हुआ। अरजतभूत शुक्तिका का, रजतरूप में प्रकाशित करना ही शुक्ति-रजतज्ञान की अप्रमाणता है। वह तो जब से शुक्ति में रजत का ज्ञान हुआ, तभीसे है।

अतएव यह शङ्का भी निर्मूल है कि 'जब अर्थ के विपरीत होने का निश्चय ही अप्रामाण्य है, तब तो अवश्य ही उसकी

उत्पत्ति बाधकज्ञान से माननी पड़ेगी; क्योंकि अर्थवैपरीत्य का निश्चय ही अप्रामाण्य नहीं। किन्तु पूर्वज्ञान का अप्रामाण्य—उसके विषय का वैपरीत्य होना ही है, न कि वैपरीत्य का निश्चय अथवा विपरीत विषय की सत्यता का निश्चय करना।

इन दोनों प्रकार के अप्रामाण्यों में किसी भी प्रकार के अप्रामाण्य को अपनी उत्पत्ति में बाधक-ज्ञानादि की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि रजतरूप विषय का विपरीत होना तो 'नेदं रजतम्' इस बाधक-ज्ञान से पहले ही सिद्ध है और पहले से ही वह रजतज्ञान उस विपरीत विषय में सत्यता भी निश्चित करा देता है। इन्हीं सब हेतुओं से प्रामाण्य की तरह अप्रामाण्य की भी स्वतः उत्पत्ति माननी पड़ेगी। फिर यह भी कहना पड़ेगा कि ज्ञान की स्वतः उत्पन्न प्रमाणता को बाधक-ज्ञान नष्ट करता है। परन्तु यह कथन कथमपि ठीक नहीं; क्योंकि पूर्वोक्त युक्ति से अप्रमाणता तो मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति से ही सिद्ध है।

यह भी कहना युक्तियुक्त न होगा कि 'विषय की सत्यता का निश्चय कराना ही ज्ञान का प्रामाण्य है और उस निश्चय का मिट जाना ही अप्रामाण्य है। अतः अप्रामाण्य (विषय की सत्यता के निश्चय के नाश) में बाधक-ज्ञान की अपेक्षा है', क्योंकि निश्चय का नाश तो उसके त्रिक्षणावस्थायी होने से अपने आप हो जाता है। उसके लिए बाधक-ज्ञान की कुछ भी अपेक्षा नहीं होती और न बाधकज्ञान से निश्चय संस्कार ही नष्ट होते हैं।

इन सब कारणों से यही कहना उचित है कि ज्ञान की प्रमाणता (उसके विषय की सत्यता) स्वतः उसी ज्ञात से ज्ञात

होती है। ज्ञान की अप्रमाणता (उसके विषय का मिथ्यात्व) परतः (कारण-दोष और बाधक-बोध से) जानी जाती है।

यहाँ पर यह आक्षेप किया जाता है कि 'इस पक्ष में भी युक्तिविरोध है। विज्ञान जब अपने आपको ग्रहण नहीं कर सकता, तो वह अपने धर्मभूत प्रामाण्य का ग्रहण कैसे कर सकेगा; क्योंकि वह तो विषय के प्रकाशन में गतार्थ हो जाता है। इसलिए प्रामाण्य का जन्म ही स्वतः (अपने कारण से) होता है।' इसका समाधान यह है कि 'ज्ञान का प्रामाण्य उसीसे ज्ञात होता है' इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं समझ लेना चाहिए कि 'मैं प्रमाण हूँ या मेरा प्रामाण्य है' इस प्रकार ज्ञान अपना या अपने प्रामाण्य का ग्रहण करता है। ज्ञान के स्वतःप्रामाण्य पक्ष का यह आशय नहीं है कि ज्ञान में प्रामाण्य होता है, अपितु घटादि विषयों की सत्यता ही उनके ज्ञानों का प्रामाण्य है और विषयों की असत्यता ही (शुक्तिका में रजत का न होना ही) शुक्ति-रजतादि ज्ञानों की अप्रमाणता है। 'अयं घटः' इस प्रकार का जो सत्य ज्ञान है, वह घट की सत्यतारूप अपनी प्रमाणता का स्वयम् ही निश्चय कराता है। इसी आशय से स्वतःप्रामाण्य-निश्चय पक्ष की स्थिति होती है।

गुणज्ञान या ज्ञानान्तरसम्पत्ति किंवा अर्थक्रियाज्ञान से प्रामाण्य-निश्चय नहीं होता। विषय की असत्यतारूप अप्रमाणता रजतादि मिथ्याज्ञान से निश्चित नहीं होती। उलटे सत्य रजतज्ञान की भाँति मिथ्या रजतज्ञान भी रजत की सत्यता को ही भासित करता हुआ-सा प्रतीत होता है। 'इदं रजतम्' इस ज्ञान से 'नेदं रजतम्' ऐसा निर्णय हो भी नहीं सकता। जो ज्ञान रजत का होना बतलाता है, उसीसे रजत का न होना कैसे

जाना जा सकता है? रजत का न होना ही रजत-ज्ञान का अप्रामाण्य है। रजत-ज्ञान का अप्रामाण्य रजत-ज्ञान से नहीं जाना जा सकता। अतः स्वतः अप्रामाण्य कहने का कोई भी प्रसङ्ग नहीं है। किन्तु मिथ्या रजत-ज्ञान के पश्चात् 'यह रजत नहीं है, किन्तु शुक्तिका है' इस बाधकज्ञान से ही पूर्वज्ञान का अप्रामाण्य (पुरोवर्ति का रजत न होना) निश्चित होता है। इसी कारण प्रामाण्य परतः कहा जाता है। भासमान अर्थ का वैसा ही होना उस ज्ञान का प्रामाण्य है और वैसा न होना ही उसका अप्रामाण्य है।

यहाँ यह शङ्का की जाती है कि 'यदि ज्ञान का उत्पत्ति के समय ही प्रामाण्य निश्चित हो जाता है, तब तो कारण-दोष और बाधक-ज्ञान के बिना ही ज्ञान का अप्रामाण्य भी उत्पत्ति से स्वतः ही क्यों न माना जाय? ऐसी स्थिति में प्रामाण्य का स्वतस्त्व और अप्रामाण्य का परतस्त्व पक्ष कैसे सङ्गत हो सकेगा?'

परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि स्वतःप्रामाण्य शब्द में स्वशब्द का अर्थप्रामाण्य हो, तब तो सारांश यह निकलेगा कि 'प्रामाण्य से ही प्रामाण्य का निश्चय होता है।' परन्तु यह सर्वथा असङ्गत है। यदि स्वशब्द का अर्थप्रमाण होता, तब तो मिथ्याज्ञानों में प्रमाणता का निश्चय न होने से अप्रमाणता का निश्चय कर लिया जाता है। फिर तो जैसे प्रमाणता स्वतः होती है, वैसे ही अप्रमाणता भी स्वतः ही होती। परन्तु यहाँ स्व-शब्द का न प्रामाण्य ही अर्थ है और न प्रमाण ही।

ऐसी स्थिति में, अप्रमाण-ज्ञान भी प्रथम अपने विषय की सत्यतारूप प्रमाणता को सत्यज्ञान के समान ग्रहण करता है। परन्तु पीछे होनेवाले बाधक-ज्ञान से उसकी अप्रमाणता निश्चित

होती है। अतः अप्रामाण्य परतः है, जैसा कि भट्टपाद ने कहा है—

"यस्मात् स्वतःप्रमाणत्वं सर्वत्रौत्सर्गिकं स्थितम्।
बाधकारणदुष्टत्वबोधाभ्यां तदपोह्यते ॥"

यहाँ यह भी सन्देह किया जाता है कि 'यदि पदार्थों की सत्यता ही ज्ञानों का प्रामाण्य है, तब तो स्मरण-ज्ञान को भी प्रमाण कहा जा सकता है।' परन्तु इसका उत्तर यह है कि केवल पदार्थ की सत्यता ही प्रामाण्य नहीं है, जिस ज्ञान का विषय प्रथम से अज्ञात रहा हो, जिसका विषय सत्य हो और साथ ही जो ज्ञान पदार्थ की सत्यता का निर्णायक हो, उसी ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है। उसी प्रमाण के भाव को 'प्रामाण्य' कहा जाता है। तथाच (१) ज्ञात रूप से अनुसन्धान न होना, (२) पदार्थ का सत्य होना और (३) ज्ञान में उस सत्यता की निर्णायकता—ये तीन अंश सम्मिलित होकर प्रामाण्य होता है। इनमें पहले का बोध तो योग्यानुपलब्धि से ही होता है—'यदि यह पदार्थ प्रथम से ज्ञात होता, तो उसकी ज्ञातता ज्ञात होती; परन्तु इसकी ज्ञातता मुझे ज्ञात नहीं है, अतः यह पदार्थ मुझे पहले से ज्ञात नहीं है।' 'अयं घटः' यह ज्ञान तो घट का बोध कराता है, इससे घट की पूर्व अज्ञातता नहीं विदित होती; क्योंकि गुण के ज्ञान आदि से भी यह अज्ञातता नहीं समझी जाती। अतः विषय की इस प्राथमिक अज्ञातता के बोध में तो स्वतः या परतः इस चिन्ता का अवतार नहीं होता, क्योंकि इस प्रामाण्यांश के ज्ञानस्वरूप से बोध होने की शंका तक नहीं उठ सकती। किन्तु पदार्थों की सत्यतारूपी जो दूसरा प्रामाण्यांश है, वह स्वतः अर्थात् ज्ञानस्वरूप से ही सिद्ध होता है। अतः

यहीं स्वतस्त्व-परतस्त्व का विचार किया गया है। इस स्वतः-प्रामाण्यविचार से 'वैदिकवाक्यों से मिथ्या अर्थ का ही बोध क्यों न माना जाय', इस शंका का समाधान हो जायगा; क्योंकि उस विचार से यह निश्चित हो जाता है कि पदार्थों का यथार्थतारूप प्रामाण्य उसी ज्ञान से निश्चित होता है।

अतः वैदिक विधिवाक्यजनित तदर्थ-ज्ञान की प्रमाणता स्वतः है, अतः उनका अर्थ मिथ्या नहीं। जो ज्ञान अर्थ की सत्यता का निश्चय करायेगा, वही उस अर्थ के निश्चय का कारण होगा; क्योंकि जो ज्ञेय का ज्ञापक होता है, वहीं ज्ञान का जनक होता है। इसी तरह अर्थनिश्चय भी प्रामाण्य का अंश है। ये तीनों ही प्रमाणबुद्धि के विषय होते हैं। इनमें निश्चयरूप प्रामाण्य की उत्पत्ति मानने में भी कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसे ही संवादज्ञानादि का कार्य कहते हों, तो भी कोई विरोध न होगा, क्योंकि 'प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है', यह सिद्धान्त का पक्ष नहीं है, केवल द्वितीय प्रामाण्यांश को लेकर यह कहा जाता है कि प्रामाण्य स्वतः ज्ञात होता है।

यहाँ यह शङ्का उठायी जाती है कि 'जब सर्प तथा रज्जु दोनों में ही सर्पज्ञान होता है, तब सर्पज्ञान से सर्प का निश्चय कैसे किया जा सकता है? जब अर्थक्रिया-दर्शन से ही विषय का निश्चय होता है, तभी यह भी जाना जा सकता है कि सर्पज्ञान सर्प से ही उत्पन्न हुआ था, अन्य से नहीं। अर्थक्रिया का ज्ञान अपने विषय में सत्य ही होता है। इसलिए वही पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय करा सकता है।

'इसी भाँति उत्तरोत्तर होनेवाले अनेक ज्ञानों के साथ मेल मिलने से (संवाद से) भी पूर्वज्ञान का प्रामाण्य होता है,

क्योंकि जो अर्थ मिथ्या होता है, पुनः-पुनः उसका वैसा ही ज्ञान होना सम्भव नहीं है। अतः पुनः - पुनः होनेवाले उत्तरोत्तर ज्ञानों से भी पूर्वज्ञान का प्रामाण्य (विषय-सत्यता) निश्चित होता है। गुणयुक्त कारणसे जन्य ज्ञान यथार्थ होता है, अतः कारण-गुण निश्चय भी ज्ञान के प्रामाण्य का मूल हो सकता है। एवं विषय के सत्यत्वलक्षण प्रामाण्य का परतः होना भी ठीक है। स्वतः अर्थ-तथात्व (विषय का यथार्थत्व) लक्षण प्रामाण्य नहीं हो सकता। अनिश्चित अर्थ में ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य किसी प्रकार भी बन नहीं सकता।

'निश्चयाभाव की उत्पत्ति के लिए तो दोषज्ञानादि किसी भी सामग्री की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि अभाव कोई वस्तु नहीं है और निश्चय तो वस्तु है। अतः वह गुणज्ञानादि से उत्पन्न हो सकता है। इसलिए उसका परतः होना ही सङ्गत है।'

इन उपर्युक्त शंकाओं का समाधान यह है कि सिद्धान्ती का यह आशय नहीं कि सभी ज्ञान अव्यभिचारी होते हैं, इसलिए उनका प्रामाण्य होता है। अपितु ज्ञानों का स्वतःप्रामाण्य होता है। यदि ज्ञान स्वयं अपने विषय का निश्चय न करायें, तब तो किसी दूसरे जड़ पदार्थ में निश्चय कराने की सामर्थ्य है ही नहीं। फिर तो जगत् में निश्चय का अत्यन्त अभाव होने के कारण अशेष जगत् में अन्धता ही हो जायगी। जो विषय अपने ज्ञान से निश्चित नहीं; वह दूसरे से भी कैसे निश्चित हो सकता है? जो अर्थक्रिया-ज्ञान से प्रामाण्य कहा जाता है, वह भी असंगत है; क्योंकि जैसे सर्प न होने पर भी सर्पज्ञान होता है, वैसे ही अर्थक्रिया न होने पर भी अर्थक्रियाज्ञान स्वप्न में होता है। फिर तो अर्थक्रियाज्ञान का ही

प्रामाण्य न हुआ, तो अर्थक्रियाज्ञान से घटादिज्ञान का प्रामाण्य कैसे निश्चित होगा ?

कुछ लोगों का कहना है कि 'यद्यपि जलानयन-क्रयविक्रयादि अर्थक्रिया के बिना भी स्वप्न में इन सबका ज्ञान होता है, तथापि अर्थक्रिया से यह सब कुछ विवक्षित ही नहीं है। सुख-दुःख का ज्ञान ही अर्थक्रिया है, वह कभी भी व्यभिचारी नहीं होता। सुख-दुःखज्ञान अपनी सत्ता में स्वतः ही प्रमाण है, क्योंकि बिना सुखादि के सुखादिज्ञान कभी होता ही नहीं। अतः वह अव्यभिचारी है। परन्तु ऐसे अर्थक्रिया-निश्चय से दूसरे ज्ञान की प्रमाणता की आशा बिल्कुल व्यर्थ है, क्योंकि स्वप्नके मिथ्या चन्दन-विलेपनादि द्वारा भी सुख की उत्पत्ति होती है। यहाँ सुख-ज्ञान की प्रमाणता से चन्दन-विलेपनज्ञान की प्रमाणता कथ-मपि सिद्ध नहीं होती।

इसके सिवा अर्थक्रिया के निश्चयसे पूर्वज्ञान के विषय का निश्चय करना ही एक प्रकार का कार्य से कारण का अनुमान हुआ। जैसे धूम में अग्नि के सम्बन्धज्ञान से अग्नि का अनुमान होता है, वैसे ही अर्थक्रिया में पूर्वज्ञान के विषय के सम्बन्ध-ज्ञान द्वारा उसकी सत्यता का अनुमान करना पड़ेगा। परन्तु बिना सम्बन्धि का ग्रहण हुए सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः सम्बन्ध-ग्रहण के समय ही अवश्य घटज्ञान से ही घटनिश्चय करना पड़ेगा। तथाच अनुमान से पहले ही घटज्ञान से घट-निश्चय मानना पड़ेगा।

ऐसे ही गुणज्ञान तथा सम्बन्धज्ञान के विषय में भी कहा जा सकता है कि जब घटादिज्ञान से घटादि का निश्चय नहीं हुआ, तब ज्ञान से गुण का निश्चय कैसे कहा जा सकता है ? इसी तरह

गुणज्ञान जबतक अपने विषयभूत गुण का निश्चय नहीं कर लेगा, तबतक उस गुणज्ञान से पूर्वज्ञान के विषय की सत्यता कैसे निश्चित हो सकती है ?

इसी तरह एक ही विषय के अनेक क्रमिक ज्ञानों में द्वितीयादि ज्ञानों को संवाद कहा जाता है। यहाँ सोचना यह चाहिए कि पूर्वज्ञान से इस ज्ञान में क्या विशेषता है, जिससे पूर्वज्ञान से अनिश्चित अर्थ का इस ज्ञान से निश्चय होगा। निश्चय एक वस्तु है और वह जन्य है, तथापि वह उसी ज्ञान से उत्पन्न होता है, अन्य किसीसे नहीं। इसलिए प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य दोषज्ञान या बाधक-ज्ञान से, अतएव परतः ही निश्चित होता है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि 'जब अप्रामाण्य प्रामाण्य का अभाव है, अर्थात् अवस्तु रूप है, तब वह दोषजन्य भी कैसे कहा जा सकता है ?' इसका समाधान यही है कि यद्यपि प्रामाण्य के अभावरूप अप्रामाण्य का निश्चय दोषों से नहीं होता, अपितु अर्थ-मिथ्यात्वरूप अप्रामाण्य दोषज्ञान से निश्चित होता है। क्योंकि कारण के दुष्ट होने से ही विषय का असत्यत्वरूप अप्रामाण्य देखा जाता है। अतः उसे दोषजन्य ही समझना चाहिए। अन्य प्रमाणों के समान वेदों में भी प्रामाण्य स्वतः है और अपौरुषेय होने से उनमें किसी प्रकार कारण-दोष सम्भव ही नहीं हैं। अतःवह ज्यों का त्यों स्थित है, उसका अपोहन नहीं होता।

यहाँ पर यह शङ्का होती है कि 'अप्रामाण्य दोष से होता है या गुणाभाव से, क्योंकि सर्वत्र ही गुणरहित, दोषयुक्त कारणों से ही अयथार्थता जानी जाती है। फिर उसमें दोष ही निमित्त है, गुणाभाव नहीं, यह विवेक कैसे हो सकता है ? इसलिए चाहे अप्रामाण्य परतः ही हो, तब भी गुणाभाव से वेदों में अप्रामाण्य

आ जायगा। वेदों में भी आप्तप्रणीतत्वरूप न गुण होने के कारण गुणाभाव से उनका परतः अप्रामाण्य हो जायगा।' इसका उत्तर यह है कि समस्त कल्पनाएँ दृष्ट के अनुसार ही हुआ करती हैं। जब वेद का स्वतःप्रामाण्य मान लिया गया, तो उसके अनुसार ही अप्रामाण्य के हेतु की कल्पना करनी चाहिए। यद्यपि शुक्ति-रजतादि ज्ञानों में गुणाभाव और दोष दोनों ही दिखायी देते हैं, तथापि वेद में आप्तप्रणीतत्वरूप गुण के न होने पर भी प्रामाण्य दृष्ट ही है। अतः यदि गुणाभाव को अप्रामाण्य का प्रयोजक कल्पित किया जाय, तो वेदों के दृष्ट स्वतःप्रामाण्य का अवश्य बाध होगा। अतः यह कल्पना दृष्ट-विरुद्ध है।

इसलिए सर्वत्र ही मिथ्याज्ञानों की असत्यता का कारण दोष ही है, गुणाभाव नहीं। यदि गुणाभाव सर्वत्र ही मिथ्याज्ञानों में रहता है, इतने से ही उसे अप्रामाण्य का कारण मान लिया जाय, तब ज्ञानत्व भी सर्वत्र रहता है, तो उसे ही क्यों न अ-प्रमाणता का प्रयोजक माना जाय? इस पर यदि यह कहा जाय कि 'प्रत्यक्षादि यथार्थ-ज्ञानों में भी ज्ञानत्व रहता है, अतः वह अप्रामाण्य का निमित्त नहीं कहा जा सकता',—तब तो यह भी कहा जा सकता है कि गुणाभाव भी यथार्थ प्रमाणभूत वेदों में रहता है, अतः वह अयथार्थत्व का कारण नहीं है।

यदि कहा जाय कि 'वेद की सत्यता तो अभी सिद्ध ही नहीं, तो यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षादि की ही यथार्थता कैसे सिद्ध है? यदि कहें कि 'उनकी यथार्थता (प्रमाणता) तो स्वतः है', तो यह कहा जा सकता है कि वह स्वतःप्रमाणता वेद में भी स्वतःसिद्ध है। सिवा नास्तिकवाद के और कोई युक्ति नहीं,

जिससे वेद की प्रमाणता में बाधा पड़े। इसलिए गुणाभाव-मूलक अप्रामाण्य नहीं कहा जा सकता।

हाँ, यदि ज्ञानों की सत्यता में गुणों की कारणता होती, तब तो यह कहा जा सकता था कि शुक्तिरजतादि-ज्ञानों के असत्य-स्वरूप अप्रामाण्य में गुणाभाव कारण है। परन्तु जब ज्ञानों के सत्यत्वरूप प्रामाण्य में गुण को कारण ही नहीं माना जाता, तब ऐसा कहने का अवसर ही कहाँ है?

यदि सत्यत्वरूप प्रामाण्य में गुण को कारण मान लिया जाता, तब तो फिर शुक्तिरजतादि-ज्ञान में प्रकाशयुक्त शुक्तिरूप की प्रतीति कथमपि न बन सकती, क्योंकि वहाँ कारण गुण है ही नहीं। यदि वहाँ भी गुण मान लिया जाय, तब तो फिर शुक्तिरजत-ज्ञान की अप्रमाणता सिद्ध नहीं होगी।

यदि ज्ञानों की स्वकारण से ही यथार्थता और दोष से अयथार्थता मान ली जाती है, तब तो शुक्तिरजतादि मिथ्या-ज्ञान अपने कारण के अनुसार पुरोवर्ती एवं तद्गत भास्वर शुक्लत्वादि सत्य पदार्थों तथा दोष के अनुसार रजतादिरूप असत्य पदार्थों को ग्रहण कर सकते हैं। अतः ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः होता है। इसी प्रकार वेद-जनित ज्ञानों का भी स्वतःप्रामाण्य ही हुआ। उसका अपोहन भी नहीं होता, क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं, अतः वहाँ कारण-दोष संभावित नहीं। नेत्र, श्रोत्र आदि प्रमाणों में प्रमाता के भ्रम तथा करणों के अपाटव आदि दोष हो सकते हैं। वेद का कोई रचयिता नहीं है; अतः भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि दोष वहाँ सुलभ नहीं हैं। इस प्रकार वेदरूप प्रमाण में कोई दोष है ही नहीं। वेदार्थ-ज्ञान का

बाधक ज्ञान भी नहीं है, क्योंकि जब स्वर्ग, ब्रह्मादि वेदातिरिक्त प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के विषय नहीं हैं, तो फिर उनका बाध या अभाव भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ज्ञेय कैसे हो सकता है? अतः वेदमात्र से बोधित होनेवाले पदार्थों का बाध या अभाव भी प्रत्यक्ष आदि से नहीं जाना जा सकता। अतएव वेदों का प्रामाण्य अनपोहित ही रहता है।

कहा जाता है कि 'द्रव्य, गुण, क्रिया आदि ही धर्म हैं और द्रव्यादि प्रत्यक्ष-गम्य हैं ही। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि धर्म अतीन्द्रिय है; वह केवल वेद से ही जाना जा सकता है, अन्य प्रमाण से नहीं।' पर विचार करने पर उक्त तर्क निस्सार जान पड़ेगा। जैसे स्त्री एक ही पदार्थ है, पर वह मनुष्यत्व जाति की दृष्टि से मनुष्य कहलाती है और अपने असाधारण चिह्नों से स्त्री कही जाती है, वह विवाहादि संस्कार के पश्चात् पति की पत्नी कही जाती है; इसी तरह द्रव्य, क्रिया आदि में भी एक उनका लौकिक रूप होता है, तो दूसरा स्वर्गादि-साधनरूप। असल में इसी दूसरी विशेषता के कारण द्रव्य, क्रिया आदि को धर्म कहा जाता है। पहला द्रव्य आदि का आकार प्रत्यक्ष-गम्य है—ऐन्द्रियक है, तो दूसरा रूप अतीन्द्रिय है—एकमात्र शास्त्रवेद्य है। अतः द्रव्य, क्रिया आदि लौकिक रूप से धर्म नहीं कहे जाते, किन्तु स्वर्ग-साधनत्वरूप धर्म से ही धर्म कहे जाते हैं, जिसका ज्ञान एकमात्र शास्त्र से ही हो सकता है। कहा भी है—

"श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात्प्रतीयते।
ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः॥"

फिर भी कहा जाता है "कि धर्म-अधर्म का विवेक तो लोक

में प्रसिद्ध ही है। व्यास का कहना है कि उपकार पुण्य है, और अपकार पाप, यह सभी जानते हैं। श्लोक वार्तिक में कहा है—

"इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन् पदद्वये।
आचाण्डालं मनुष्याणा मल्पं शास्त्रप्रयोजनम्॥"

वापी, कूप, तड़ाग आदि का निर्माण पुण्य है, गृहदाह और वित्त, स्त्री आदि का हरण पाप है। अतः पुण्य, पाप बतलाना शास्त्र का लघुप्रयोजन है। अष्टादश पुराणों में व्यास ने दो ही बातें कही हैं, (१) परोपकार पुण्य है और (२) परपीडन पाप।

"अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
धर्मः परोपकरणमधर्मः परपीडनम्॥"

इस तरह फिर धर्माधर्म तो अन्य स्रोतों से भी ज्ञात होते हैं। अतः यह कहा जाना कि वे केवल वेद-गम्य हैं, कहाँतक ठीक है?"

समाधान यह है कि प्रसिद्धि का कुछ न कुछ मूल होता है— "न ह्यमूला प्रसिद्धिः।" जो प्रसिद्धि अमूल होती है, वह अन्ध-परम्परा के समान अप्रमाण ही होगी। अतः उक्त धर्माधर्म की प्रसिद्धि का कोई न कोई मूल अवश्य बताना पड़ेगा। धर्माधर्म अतीन्द्रिय हैं, अतः प्रत्यक्ष आदि प्रमाण उस-उस प्रसिद्धि के मूल नहीं हो सकते। फलतः यह कहना पड़ेगा कि धर्माधर्मादि प्रसिद्धि का मूल अनादि वैदिक विधि-निषेध ही हैं। कोई सादि पौरुषेय ग्रन्थ इस अनादि प्रसिद्धि के मूल नहीं हो सकते। बिना मूल प्रमाण के, केवल प्रसिद्धि के बल पर धर्माधर्म का का निर्णय हो भी नहीं सकता। कारण यह है कि ये प्रसिद्धियाँ परस्पर विरुद्ध भी तो हैं। कई संसारमोचकादि विशेष हिंसा

को पुण्य कहते हैं, क्योंकि मृत्यु के अनन्तर जीव दुःखों से छुटकारा पा जाता है। अन्य लोग हिंसा को पाप मान लेते हैं। आर्यों एवं अनार्यों की प्रसिद्धियाँ भी परस्पर विरुद्ध हैं। वैदिक विधियाँ तो पूर्वोक्त प्रकार से निष्पन्न रूप में धर्माधर्म का बोध कराती हैं। यद्यपि धर्माधर्म की पुरानी प्रसिद्धि उपकार, अपकार आदि विषयों में कथञ्चित् प्रमाण हो सकती है; तथापि अग्निहोत्र, सुरापान आदि के संबंध में प्रसिद्धि गूँगी एवं अंधी ही हो जाती है। कई स्थानों में सुरापान आदि को पाप समझा ही नहीं जाता। उपकार, अपकार आदि के संबंध में भी प्रमाणान्वेषक परीक्षकों को तो शास्त्र का प्रयोजन है ही। हाँ, सामान्य लोग प्रसिद्धिमात्र से भी काम चला लेते हैं। इसीलिए व्यास ने कहा है कि शास्त्र का कम प्रयोजन होता है, परन्तु ऐसा कम नहीं कि शास्त्र का प्रयोजन ही नहीं होता। अग्निहोत्र, सुरापान आदि के धर्मात्वादि का निर्णय सर्वथा शास्त्र-सापेक्ष ही होता है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'हिंसा आदि का अधर्म होना अनुमान से जाना जा सकता है। जिसकी हिंसा की जाती है, उसको दुःख देखकर अनुमान किया जा सकता है कि हिंसा से हिंसक को कालान्तर में अवश्य दुःख होगा। परन्तु यह कोई व्याप्ति नहीं है कि 'जो दूसरों को दुःख देता है, वह कालान्तर में दुःख पाता है।' फिर व्याप्ति-निरपेक्ष अनुमान होगा कैसे? उलटे यह कहा जा सकता है कि वधकाल में हिंसक को सुख होता है, अतः कालान्तर में भी सुख ही होगा।

फिर भी कहा जा सकता है कि 'जो क्रिया वर्तमान समय में अपने विषयरूपी पदार्थ में जैसा फल उत्पन्न करती हो, वह क्रिया कालान्तर में कर्ता में भी वैसा ही फल उत्पन्न करती है। उदाहर-

णार्थ, दानक्रिया वर्तमान समय में ग्रहीता में सुख उत्पन्न करती है, तो हिंसा वर्तमान समय में हिंस्यमान प्राणी में दुःख उत्पन्न करती है। अतः कालान्तर में वे दाता में सुख एवं हिंसक में दुःख उत्पन्न करेंगी। इस तरह अनुमान द्वारा धर्माधर्म का निर्णय हो सकता है। सुखजनक क्रिया धर्म है और दुःखजनक क्रिया अधर्म। अतः अनुमान भी धर्माधर्म में प्रमाण ही है। फिर कैसे कहा जा सकता है कि वेद ही धर्माधर्म में प्रमाण है, अन्य नहीं ?"

किन्तु उपर्युक्त तर्क विचार करने पर खरा नहीं उतरता। स्पष्ट है कि गुरुपत्नी-गमन क्रिया उस क्षण में गुरुपत्नी को सुख देती है, फिर भी कालान्तर में कर्ता को सुखप्रद नहीं होती; इसके विपरीत दुःखप्रद ही होती है। इसी प्रकार मनुष्यमात्र मातृ-गमन आदि को अतिपाप मानते हैं। शास्त्रों में भी इसे अति-पातक और महापातक कहा गया है। सुरापान आदि क्रियाएँ भी स्वविषय जड़ सुरादि में दुःख नहीं पैदा करतीं है, तो भी पान करनेवालों को कालान्तर में महादुःख देती हैं। इस तरह 'अपने-अपने विषयमें दुःखजनक क्रिया भी कर्ता में दुःख का जनन करती हैं, यह व्याप्ति व्यभिचरित है। अतः इस प्रकार भी उक्त अनुमान दूषित है।

इसी प्रकार दान प्राप्त करनेवाले ग्राहक को कभी औदा-सीन्य ही प्राप्त होता है, तो फिर दानक्रिया से कर्ता को भी औदासीन्य ही फल मिलेगा। ऐसी स्थिति में दान-क्रियाओं से सुख ही होता है, यह नहीं कहा जा सकता। अतः 'दाना-दि क्रियाओं से कालान्तर में सुख ही होता है' यह वैदिक वाक्यों से ही विदित होता है। इतना ही क्यों, दानक्रिया से लेनेवाले को

जितना सुख होता है, उससे सहस्रों एवं अनन्त गुणित सुख दानी को होता है—धर्मशास्त्रों में यह स्पष्ट ही कहा गया है। यह सब अनुमान से ही जाना जाय, यह असम्भव है। कारण यह है कि दृष्टान्त में जिसके साथ हेतु में व्याप्ति गृहीत होती है, वही पक्ष में साध्य होता है। जैसे—महानस में वह्नि के साथ धूम की व्याप्ति गृहीत होती है, अतः अनुमान से धूम द्वारा पर्वत में वह्नि का अनुमान किया जाता है। प्रकृत में दृष्टान्तगत 'सम्प्रदान-तुल्य फलकत्व' दृष्ट है, अर्थात् जिसको दान किया जाता है, उसके समान ही दाता को फल मिलता है—यह देखा गया है। परन्तु वैदिक विधि-गम्य दान में तो कर्मकारक के अनुसार फल होता है। सुवर्ण आदि जैसी वस्तु का दान होता है, तदनुसार फलों में भेद होता है। अब्राह्मण, ब्राह्मण-ब्रुव ब्राह्मण, वेदपारग आदि संप्रदानों के भेदों से भी फलभेद होता है—यह वैषम्य है। यदि कहा जाय कि पक्ष में भी दृष्टान्त के तुल्य ही संप्रदानतुल्य फलकत्व की कल्पना की जायगी, तो वह भी ठीक नहीं। कारण यह है कि सम्प्रदान के तुल्य ही प्रकृत में भी प्रीति-साधन हो, तब तो शास्त्र-विरोध होगा। दृष्टान्त में दान-कर्म हिरण्य आदि स्वरूप से कोई भी फलजनन नहीं कर सकता। इसलिए उसके अनुसार फल कल्पना सम्भव भी नहीं हो सकती। वेदवाक्यों के अनुसार अग्निष्टोम आदि यज्ञों में पशुहिंसा विहित होने से जप आदि के तुल्य कालान्तर में यज्ञ भी कर्ता के लिए सुखदायक है, परन्तु अनुमान से यह किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता। सुरापान आदि वर्तमान में किसीको दुःख नहीं पहुँचाते, अतः वे कालान्तर में दुःखद होने चाहिए—यह अनुमान से सिद्ध नहीं होता। इसी तरह जपादि भी वर्तमान में किसीको सुख नहीं पहुँचाते, अतः कालान्तर में कर्ता को सुख न दे सकेंगे। प्रत्युत श्रमरूप

होने से जपादि कर्ता को दुःख ही पहुँचाते हैं। अतः वे सुख न पहुँचा सकेंगे—उनसे कालान्तर में कष्ट ही होगा। सारांश यह कि उक्त अनुमान धर्माधर्म-साधन में असमर्थ है। जप, सुरापान आदि में धर्मता या अधर्मता के निर्णय के लिए सिवा वेद-वाक्य के और कोई भी प्रमाण नहीं हो सकता। अतः सर्वत्र वैदिक विधि-निषेध से ही धर्माधर्म का निर्णय उचित है।

मातृ-गमन आदि करनेवाला माता आदि को सुख पहुँचाता है, अतः उपकारक होने से धार्मिक ही कहा जाना चाहिए। इसी तरह जैसे आत्मघातरूप अपकार करनेवाला व्यक्ति पातकी कहा जाता है। इसी तरह कामान्ध प्राणी माता आदि में गमन द्वारा माता आदि का और अपना भी उपकार करता है, इस-लिए भी वह पुण्यात्मा कहा जाना चाहिए।

यदि कहा जाय कि 'मातृ-गमनादिरूप कर्म से चाण्डाल को भी घृणा होती है, अतः घृणारूपी आत्मापकार होने से उसके द्वारा पाप ही होता है।' पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि पाप-निर्णय होने पर ही तो घृणा हो सकती है। यदि पाप होने का निर्णय ही न हो, तो उस कर्म से घृणा भी क्यों होगी? दृष्ट पीड़ा हो, तो पाप का निर्णय हो सकता है और तभी घृणा की बात उठ सकती है। अतः शास्त्र-निरपेक्ष होकर धर्माधर्म का निर्णय असंभव है।

आचार्यका शिष्य को ताड़न करना अपकारवत् प्रतीत होने पर भी अपकार नहीं है। इसी प्रकार गुरुदार-गमन उपकार की तरह जान पड़ने पर भी उपकार नहीं है। पर्पटी के सेवनकाल में रोगी को जल की अत्यन्त इच्छा होती है। जल दे देना उसका उपकार प्रतीत होता है। परन्तु वस्तुतः वह एक आयुर्वेदज्ञ की

दृष्टि से अपकार ही होगा। इस तरह उपकार-अपकार का भी वास्तविक निर्णय शास्त्र से ही हो सकता है।

कुछ लोग आत्म-प्रेरणा या इलहाम से धर्माधर्म का निर्णय करते हैं। परन्तु वह भी असंगत है। प्राणी को जैसी आदत होती है, उसी ढंग की उसे आत्मप्रेरणा होती है। एक अहिंसक को अहिंसा की ही आत्मप्रेरणा होती है, परन्तु एक हिंसक को ठीक इसके विपरीत आत्मप्रेरणा होती है। इस तरह लौकिक हित-अहित के निर्णय में भी प्राणी को नीति-शास्त्र एवं चिकित्साशास्त्र का सहारा लेना पड़ता है। स्वयं अपनी बुद्धि से हिताहित का निर्णय और ढंग का होता है, परन्तु नीति-शास्त्र एवं चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से हिताहित-निर्णय दूसरे ढंग का होता है। फिर तो धर्माधर्म के संबंध में तो स्पष्ट ही प्रत्यक्ष एवं अनुमान से भिन्न अपौरुषेय वेद को ही प्रमाण मानना चाहिए। प्रत्यक्ष एवं अनुमान से अज्ञात अर्थ का ज्ञापक होना ही वेदों की वेदता है। कहा भी है—

"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
एवं विन्दति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥"

मंत्र-ब्राह्मण-समुदाय ही वेद है—"मंत्रब्राह्मणयोर्नामधेयं वेदः।"

वेद स्वरूप—का त्यायन एवं आपस्तम्ब आदि के सूत्र हैं—"शब्दतदुपजीविप्रमाणातिरिक्तप्रमाणजन्यप्रमित्यविषयार्थकत्वे सति आमुष्मिकसुखजनकोच्चारणकत्वे सति जन्यज्ञानाजन्यप्रमाणशब्दत्वं वेदत्वम्।" अर्थात् जो शब्द एवं शब्दमूलक अर्थापत्ति आदि प्रमाणों से भिन्न प्रमाण से जनित प्रमितियों का विषय न बने, जिसके उच्चारण से पारलौकिक सुख उत्पन्न होता

हो और जो अनित्य ज्ञान से अनुत्पन्न हो—ऐसा प्रामाणिक शब्द ही वेद है। निष्कर्ष यह है कि शब्द एवं शब्द-मूलक अर्थापत्ति प्रमाण के ही द्वारा जिसके अर्थ या अर्थांश का बोध होता है तथा जिसके पठन से पारलौकिक सुख प्राप्त होता है और जो जीव-प्रणीत न हो, वह प्रमाणभूत शब्द-राशि वेद है। इस प्रकार भारत एवं आयुर्वेद आदि, जो प्रत्यक्षादि-मूलक एवं जीवकर्तृक हैं, उनमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। इसी तरह वेदों के खण्डों के पाठ से पारलौकिक सुख की प्राप्ति नहीं होती, अतः उनमें भी वेदत्व नहीं। जो वेद-भाग दृष्टार्थ होते हैं, उनमें भी वेदत्व की प्राप्ति नहीं होती; परन्तु उसका तात्पर्यार्थ विधि-स्तुति होता है। विध्यर्थ प्रमाणान्तर से गृहीत नहीं हो सकता। शब्दपद के संनिवेश का यह महत्त्व है कि नैयायिकों का वह मन, जो नित्य होने के कारण अजन्य है और प्रमाण है, वेद न कह दिया जाय। यही अपौरुषेय वाक्य-राशि वेद है। बौद्ध आदि आगमों में वेदत्व नहीं है और न धर्म में उनका प्रामाण्य ही है।

पौरुषेय ग्रन्थों में भ्रम आदि दूषण संभावित होते ही गीतादि का प्रामाण्य इसलिए कहा जा सकता है कि वे सब श्रुतिमूलक हैं। उपनिषद्रूप गौओं से गोपालनन्दन कृष्ण ने पार्थरूपी बछड़े के लिए जो दुग्ध निकाला है, वही गीतामृत है। भिन्न-भिन्न अपभ्रंश, अरबी, हिब्रू, जेन्द, इङ्गलिश आदि भाषामय ग्रंथों का भी वेदत्व एवं प्रामाण्य नहीं है, क्योंकि वे अपभ्रंश-शब्द-जन्य ही हैं, अजन्य नहीं हैं। इसके अतिरिक्त वे सकर्तृक भी हैं। उन-उन ग्रंथों के कर्ताओं का देश, काल आदि प्रमाणसिद्ध हैं। भिन्न-भिन्न साम्प्रदायिक मूलग्रंथों के कर्ताओं की स्मृति उनके अनुयायियों में प्रसिद्ध है। किन्तु वेद जैसे महत्त्वपूर्ण एवं

प्रसिद्ध ग्रंथ के कर्ता की, स्मरण योग्य होने पर भी, स्मृति न होना उसकी अपौरुषेयता का द्योतक है। जो पाणिनि को नहीं जानते, वे पाणिनि की वृद्धि आदि संज्ञाओं को भी नहीं जानते। जो वृद्धि आदि संज्ञा को जानते हैं, उन्हें संज्ञा-निर्माता का भी ज्ञान होता ही है। अतएव चिरकालीन होने कारण भी वेद-कर्ता का विस्मरण होना संभव नहीं है। वेद के अनुसार करोड़ों व्यक्ति आज भी वर्णाश्रमानुसारी धर्म, उपासना तथा तत्त्वज्ञान की साधना मे संलग्न हैं। यदि वेद किसी पुरुष के बनाये हुए होते, तो उसके कर्तृत्व एवं आप्तत्व के ज्ञान से ही लोगों की वेदार्थानुष्ठान में प्रवृत्ति होती, क्योंकि लोक में ऐसा ही देखा जाता है। किसी लौकिक, परलौकिक इष्टप्राप्ति, अनिष्टपरिहार के उपायनिर्देशक ग्रन्थ के अनुसार प्रवृत्ति-निवृत्ति तभी होती है, जबकि उस ग्रन्थ के आप्त कर्ता का ज्ञान होता है। विना आप्त कर्ताका ज्ञान हुए किसी ग्रन्थ के उपदेशानुसार प्रेक्षावान् की प्रवृत्ति नहीं होती। अतः वेद-भी यदि पौरुषेय होते, तो उस पुरुष के कर्तृत्व, आप्तत्व तथा देश काल का बोध होने से ही प्रेक्षावानों की वेद के अध्ययन, अध्यापन एवं तदर्थानुष्ठान में प्रवृत्ति होती। परन्तु ऐसा नहीं है, वेद के अध्ययनाध्यापन एवं तदर्थानुष्ठान में वशिष्ठ, वामदेव जैसे सर्वज्ञ कर्ताओं की भी प्रवृत्ति है। वशिष्ठ, वामदेव जैसे सर्वज्ञकल्पों की प्रवृत्ति है। परन्तु वेद के कर्ताका ज्ञान किसीको नहीं है। अतः विदित होता है कि वेद अपौरुषेय ही हैं। अपौरुषेय तथा स्वतः-प्रमाण होने से ही प्रेक्षावानों की उसमें प्रवृत्ति है।

यहाँ यह प्रश्न व्यर्थ है कि 'वेद का कर्ता किसी एक को स्मृत नहीं है या सबको स्मृत नहीं है? एक को स्मृत न होने से तो अनेक पौरुषेय ग्रन्थों में भी अपौरुषेयता आ जायगी। सबको स्मृत न होना तो हम जैसे असर्वज्ञ जान ही कैसे सकते हैं? कारण

इस तरह तो किसी भी अभाव-ज्ञान में यही विप्रतिपत्ति खड़ी की जा सकती है। फिर तो सप्तम रसाभाव भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। प्रश्न होगा कि सप्तम रस एक को अज्ञात है या सबको ? पहला पक्ष मानने पर किसी भी सद् वस्तु का अभाव सिद्ध किया जा सकता है और सर्व के अज्ञान का पता एक असर्वज्ञ को हो नहीं सकता। पर क्या इस तर्क से सप्तम रस का सद्भाव माना जा सकता है ? यदि अनन्त विद्याओं के उद्गम-स्थान व्यास, वशिष्ठ जैसे विशिष्ट लोगों के भी शिरोधार्य परमप्रख्यात वेद किसीके द्वारा प्रणीत होते, तो उस कर्ता का स्मरण अवश्य होता। पर क्या कहीं भी उसकी स्मृति है ? कदाचित् कहीं नहीं। प्रत्युत—"वाचा विरूप-नित्यया, अनादि निधना नित्या" आदि वचनों से वेदों की नित्यता ही सिद्ध होती है।

"वेदाः पौरुषेयाः, वाक्यत्वात्, भारतादिवत्" यह अनुमान भी सोपाधिक होने से दूषित है। यहाँ उपाधि है—स्मर्यमाण-कर्तृकत्व। यह उपाधि महाभारत आदि में विद्यमान है, जब कि वेद-वाक्यों में वाक्यत्वरूप साधन है, पर स्मर्यमाण-कर्तृकत्व नहीं है। अथवा 'जन्यज्ञानजन्यता' या 'प्रमाणान्तरेणार्थज्ञानमुपलभ्य विरचितत्व' रूप उपाधि से उक्त अनुमान को दूषित कहा जा सकता है। पौरुषेय वाक्यों में 'जन्यज्ञानजन्यता' या 'प्रमाणान्तरेणार्थज्ञानमुपलभ्य विरचितत्व' है ही। परन्तु वाक्यत्व भेदों में भी है, पर वहाँ न तो 'स्मर्यमाणकर्तृकत्व है, न 'जन्यज्ञानजन्यता' और न 'प्रेमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्व' ही। वेद का उच्चारण पूर्वोच्चारण-सापेक्ष होता है। अर्थात् शिष्य वेद का उच्चारण करने में स्वतन्त्र नहीं है, बल्कि गुरु के उच्चारण की अपेक्षा रखता है। ईश्वर एवं मंत्र-द्रष्टाओं का उच्चारण 'सुप्तप्रतिबुद्ध न्याय' से पूर्वकल्पीय

उच्चारण-सापेक्ष होता है। आद्योच्चारण 'निर्माण' कहलाता है, वही अपने पूर्ववर्ती उच्चारण की अपेक्षा नहीं करता। वही 'जन्य-ज्ञानजन्य' भी होता है और वही 'प्रमाणान्तरेणार्थज्ञानमुपलभ्य विरचित' भी हुआ करता है। इस प्रकार वह उक्त उपाधि, जो साध्य का व्यापक एवं साधन का अव्यापक है, वेद के पौरुषेयत्व साधक अनुभान को दूषित कर देती है।

यदि बिना प्रमाण के वेदों का कर्ता मान लिया जाय, तब तो विना प्रमाण के सप्तम-रस की भी कल्पना कर ही लेनी होगी। साधारण ग्रन्थ या वाक्य ऐसे हो सकते हैं, जिनका कर्ता स्मर्यमाण न हो। किन्तु वेद जैसे प्रख्यात एवं सर्वमान्य ग्रंथ का यदि कोई कर्ता होता, तो अवश्य ही उसका स्मरण होता। इसके अतिरिक्त अनादि काल से वेदों का आचार्य-परम्परा से अध्ययनाध्यापन एवं तदर्थानुष्ठान प्रचलित है। अतः जिस ग्रन्थ की अविच्छिन्न संप्रदाय-परम्परा प्रचलित हो और जिसका कर्ता कोई स्मर्यमाण न हो, उस ग्रन्थ को अनादि एवं अपौरुषेय ही कहना युक्त है। संसार में कोई एक लेख भी लिखता है, तो उपाधियों सहित अपना नाम लेखक के रूप में लिखता है। किसी भी ग्रन्थ के मुखपृष्ठ पर ही लेखक का नाम अंकित रहता है। फिर कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हो और उसके कर्ता का उल्लेख न हो—यह हो ही नहीं सकता। वशिष्ठ, मनु, व्यास आदि वेदों का आदर करते हैं, वेदों को ईश्वर के तुल्य ही अनादि अपौरुषेय मानते हैं। ईश्वर ब्रह्मा का निर्माण करते हैं, परन्तु वेदों का निर्माण न करके नित्य-सिद्ध वेदों को ही ब्रह्मा के हृदय में प्रेषित करते हैं—"यो वै ब्रह्माणं विदधाति···।"

पूर्वमीमांसकों की दृष्टि से खण्डप्रलय ही होता है, महा-

प्रलय नहीं होता। अतः वेदों की गुरु-शिष्यपरम्परा कभी भी विच्छिन्न नहीं होती। अतएव उनका अनुमान है कि वेद का सभी अध्ययन गुरु-परम्परापूर्वक ही होता है। जैसे वर्तमान-काल का वेदाध्ययन गुरुपरम्परापूर्वक ही होता है, वैसे ही वेदाध्ययनत्व होने से सभी वेदाध्ययन गुरुपरम्परापूर्वक ही समझने चाहिए यह अनुमान वाक्य इस प्रकार है —

"वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।
वेदाध्ययन सामान्यादधुनाध्ययनं यथा ॥"

उत्तर मीमांसकों के अनुसार यद्यपि महाप्रलय मान्य है, तथापि नित्य-सिद्ध ईश्वर में ही वेद अविच्छिन्न रूप से संनिहित रहते हैं। अतः सृष्टि के समय पूर्वकल्पीय वेदों की आनुपूर्वी को स्मरण करके ईश्वर उनका प्रादुर्भाव करते हैं। ईश्वरानुग्रह से ही ब्रह्मा के हृदय में वेदों का प्रकाश होता है। तपोबल से 'सुप्तप्रतिबुद्ध न्याय' के अनुसार अन्य महर्षियों से भी वेदों का प्रकाश होता है। यह सुनिश्चित है कि वेदों का कोई भी उच्चारण आद्योच्चारण नहीं है। सभी उच्चारण पूर्वोच्चारण-सापेक्ष ही हैं।

यद्यपि अद्वैतमत में ईश्वर सबका कारण माना गया है, अतः सभी वस्तुएँ ईश्वर-ज्ञान से जन्य मानी गयी हैं। इस तरह भले ही वेद भी ईश्वरज्ञान से जनित हो, फिर भी जिस प्रकार लोक में वाक्य का निर्माण वाक्यार्थज्ञानपूर्वक होता है, उस प्रकार वैदिक-वाक्यों की उत्पत्ति नहीं है। बात यह है कि वेद पूर्वोच्चारण-सापेक्ष उच्चारणवाले हैं। इसीलिए वेदों को 'ईश्वर-निःश्वासरूप' कहा गया है। जैसे, निःश्वास पुरुष-बुद्धि

एवं प्रयत्न की अपेक्षा न करके ही आविर्भूत होते हैं, वैसे ही वेद भी से पुरुषबुद्धि एवं पुरुष-प्रयत्न से सर्वथा निरपेक्ष होने के कारण अकृत्रिम एवं अपौरुषेय हैं। जिस प्रकार कालिदास आदि से प्रणीत वाक्यों का उच्चारण हम लोगों की किञ्चित् बुद्धि एवं प्रयत्न की अपेक्षा रखता हुआ भी हम लोगों से उद्भूत नहीं है—हमलोग उसके निर्माता नहीं हैं, निर्माता कालिदास ही हैं, क्योंकि कालिदासादि का उच्चारण वाक्यार्थज्ञानजन्य है और अस्मदादिका उच्चारण किञ्चित् बुद्धिजन्य होने पर भी वाक्यार्थज्ञानजन्य नहीं है—किन्तु कालिदासादि के उच्चारण से सापेक्ष ही है। इसी प्रकार गुरु, शिष्य, प्रजापति या ईश्वर आदि के किंचित् बुद्धि-प्रयत्न द्वारा वेदों का उच्चारण या आनुपूर्वी-निर्माण होनेवाले पर भी वाक्यार्थज्ञानजन्य न होने से उनके द्वारा वेदों का निर्माण नहीं समझा जाता। कारण वेदों का कोई भी उच्चारण या आनुपूर्वी-निर्माण निरपेक्ष नहीं हैं, किन्तु पूर्वोच्चारण सापेक्ष ही है। इसी दृष्टि से वेद नित्य हैं।

नैयायिकों के मत में वर्ण, वाक्य आदि सभी अनित्य होते हैं, फिर भी प्रवाह रूप से वैदिक वर्ण, वाक्यादि अनादि एवं नित्य हैं। वेदान्तियों के मत से आकाशादि के तुल्य वर्ण, वाक्य आदि की उत्पत्ति होती है और प्रलयपर्यन्त उनकी स्थिति होती है। इस तरह प्रलयपर्यन्त स्थायी आकाश आदि की तरह वर्ण, वाक्य आदि की नित्यता है। इसी प्रकार प्रतिकल्प उनकी स्थिति भी समान रूप से होती है। इसलिए भी वेदों की नित्यता है। जैसे "ध्रुवा पृथिवी ध्रुवाः द्यौः" आदि स्थलों में पृथ्वी आदि की नित्यता कही गयी है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए। यह भेद अवश्य है कि हम लोगों द्वारा प्रणीत वाक्यों के भी वर्ण नित्य ही होते हैं। यद्यपि नित्य एवं विभु वर्णों में स्वतः देश-कालकृत पौर्वा-

पर्यरूप आनुपूर्वी नहीं बन सकती, तथापि कण्ठ तालु आदि में होनेवाले अभिघात के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली ध्वनियाँ वर्णों की जो अभिव्यक्तियाँ पैदा करती हैं, वे सभी अनित्य मानी जाती हैं। उन्हीं अनित्य वर्णाभिव्यक्तियों में कालकृत पौर्वापर्य-रूप आनुपूर्वी बन सकती है। इसीसे पद, वाक्य आदि का निर्माण होता है। इस दृष्टि से आनुपूर्वीरूप पद, वाक्य आदि अनित्य ही होने चाहिए। तथापि जिन आनुपूर्वियों का प्रथम निर्माता कोई ज्ञात नहीं होता और जो अनादि-परम्परा से व्यवहार में प्रचलित हैं, ऐसे पद, वाक्य आदिकों को भी प्रवाह-रूप से नित्य ही माना जाता है। इसी अभिप्राय से "वाचा विरूपनित्यता" इत्यादि वेदवाक्यों से वैदिक वाक्यों की नित्यता कही जाती है। जिस प्रकार ज्ञातता-विशिष्ट ब्रह्म-स्वरूप मोक्ष ज्ञान के अनित्य होने से अनित्य ठहरता है, तथापि ज्ञातत्वोपलक्षित निरावरण ब्रह्मस्वरूप मोक्ष नित्य हो जाता है; इसी तरह पौर्वापर्य-विशिष्ट वर्णरूप, वैदिक पद-वाक्यादि भी अनित्य ठहरते हैं, तथापि पौर्वापर्योपलक्षित नित्यवर्णसमुदायरूप वैदिक पद एवं वाक्य आदि नित्य ही होते हैं। इसीलिए "वर्णा एव तु शब्दाः" अर्थात् वर्ण ही शब्द हैं—यह भगवान् उपवर्ष का उद्घोष है।

कहा जाता है कि वेद का स्वतःप्रामाण्य तभी सिद्ध हो सकता है, जब वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध हो जाय और वेदों की अपौरुषेयता तभी सिद्ध हो सकेगी, जब वर्णरूप शब्द नित्य हों। परंतु नैयायिकादि शब्दों की नित्यता का खण्डन करके उनकी अनित्यता ही सिद्ध करते हैं।

यदि शब्द अनित्य एवं जन्य हैं, तो शब्दसमूहात्मक वेदों

में भी अनित्यता और जन्यता सिद्ध हो जायगी। ऐसी स्थिति में पौरुषेयता और पुरुषाश्रित भ्रमो-प्रमादादि दूषणों से दूषित होने की शंका अवश्य ही वेदों में हो सकती है। तस्मात् वेदों का स्वतःप्रामाण्य मानना कथमपि सङ्गत नहीं। परन्तु इस विषय पर पूर्वमीमांसा में जैमिनि ने पूर्णरूप से विचार किया है। वहाँ उक्त विषय पर निम्नलिखित पूर्वोत्तर-पक्ष ग्रहणपूर्वक विचार किया गया है—"कर्मैके तद्दर्शनात्" (१ अ० १ पा०)। अर्थात् उच्चारणरूपी कर्म के अनन्तर शब्दों का श्रवण होता है, इसके पहले नहीं। जैसे कर्म से ही घट का उपलम्भ होता है, अतः वह अनित्य है, वैसे ही शब्द को भी अनित्य ही समझना चाहिए।

"अस्थानात्।"—फिर श्रवण के अनन्तर शब्द ठहरता नहीं। इससे भी उसकी अनित्यता ही जानी जाती है। "करोति शब्दान्।" —जैसे 'कुलाल घट का कर्ता है' ऐसा व्यवहार होता है। वैसे ही 'देवदत्त शब्द करता है' यह व्यवहार भी होता है।

"सत्वान्तरे यौगपद्यात्।"—जैसे लाघवात् शब्दों में नित्यता सिद्ध की जायगी, वैसे ही शब्द में एकता भी सिद्ध होगी। परन्तु अपकृष्ट-परिमाणवाली एक ही वस्तु समीप और दूरदेशवर्ती भिन्न-भिन्न पुरुषों को प्रत्यक्ष नहीं हो सकती। शब्द तो उच्चारण के स्थान से समीप और दूरवर्ती पुरुषों को एक ही काल में उपलब्ध होता है। एक स्थान से किसी वस्तु के फेंकने पर समीप और दूर के पुरुषों को एक ही क्षण में आघात नही होना चाहिए। अतः शब्द अनित्य और अनेक हैं। इसी प्रकार "प्रकृतिविकृत्योश्च।" अर्थात कारण के अनुसार 'दधि+अत्र' ऐसी स्थिति में इकाररूप प्रकृति के स्थान में यकाररूप विकृति होती

है। इस भाँति विकार होने से उसमें अनित्यता अनिवार्य है। इसी तरह "वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य।"—अर्थात् कर्ताओं के बहुत होने पर शब्दबाहुल्य भी देखा जाता है। जैसे कुम्हारों के बाहुल्य से घटों का बाहुल्य होता है, वैसे ही उच्चारण करनेवाले बहुत होने पर कोलाहलपूर्ण बड़ा शब्द होता है। यदि शब्द नित्य होता, तो उच्चारण उसका केवल व्यञ्जक ही माना जाता। ऐसी स्थिति में शब्द का बाहुल्य न बन सकता। अतः शब्द नित्य नहीं, अनित्य ही है।'

नैयायिकों की उक्त युक्तियों से शब्द की अनित्यता सिद्ध होती है। परन्तु मीमांसक इनका परिहार करके शब्दों की नित्यता जिन युक्तियों के आधार पर सिद्ध करते है, वे निम्नलिखित हैं—

"समन्तु तत्र दर्शनम्।"—यदि किसी अन्य प्रमाण से शब्द की नित्यता सिद्ध होती हो, तो उच्चारण के अनन्तर शब्द का प्रत्यक्ष होना नित्य, अनित्य दोनों पक्षों में समान है। अनित्यत्व पक्ष में उच्चारण शब्द का कारण होता है, तो नित्यत्वपक्षमें उच्चारण व्यञ्जक या प्रकाशक होगा। जैसे कारण के अनन्तर ही कार्य के उपलम्भ का नियम है, वैसे ही व्यञ्जक के अनन्तर ही वस्तु की अभिव्यक्ति का नियम है। अतः उच्चारण के पश्चात् ही शब्द का प्रकाश होता है। इतने से ही शब्द की अनित्यता सिद्ध नहीं होती। उच्चारणके बाद अधिक क्षणोंतक स्थिर न रहना भी दोनों पक्षों में समानरूप से सङ्गत है। अतः "परमदर्शनं विषयावगमात्।" दोनों पक्षों में उक्त बातें समान होते हुए भी व्यङ्ग्य-पक्ष ही अधिक युक्त है, क्योंकि सदा विद्यमान नित्य शब्द का जो पूर्व और उत्तर काल में अदर्शन है, उसे उच्चारणरूप व्यञ्जक के साथ सम्बन्ध न होने के कारण ही समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि ककारादि वर्णों के सुनने के बाद श्रोताओं को 'यह वही ककार है' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा (पहिचान) होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि उच्चारणों में भेद होने पर भी ककारादि वर्ण एक ही हैं। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि ककारादि वर्णों को नित्य, व्यापक मानने में लाघव भी है। अतः उच्चारणों में भेद होने पर भी ककारादि वर्ण एक, नित्य और व्यापक ही हैं। अनित्य मानने में एक वर्ण भी अनन्त व्यक्ति और उनमेंप्रत्येक की उत्पत्ति, विनाश मानने में बड़ा गौरव होगा।

रही यह बात कि जब वर्ण नित्य हैं, तो उनको सदा उपलब्ध भी होना चाहिए। कभी उनका उपलब्ध होना और कभी न होना वर्ण-नित्यत्वपक्ष में कैसे बनेगा? इसका समाधान यही है कि यद्यपि शब्द नित्य ही है, तथापि शब्द के प्रत्यक्ष होने में एक स्तिमित (स्थिर) वायु प्रतिबन्धक है। उच्चारण में प्रेरित मुख-वायु के संयोग-विभाग से जबतक प्रतिबन्धकभूत उपस्थित वायु का अपसारण होता है, तभीतक शब्द का प्रत्यक्ष होता है। जब उच्चारणजन्य मुख-वायु के संयोग-विभाग नहीं होते या वे नष्ट हो जाते हैं, तब प्रतिबन्धकीभूत स्तिमित वायु का अपसारण नहीं होता। अतः वह शब्द भी सुनायी नहीं देता। जैसे अन्धकारस्थ घट का व्यञ्जक दीपक है, उसके रहने पर ही घट का प्रत्यक्ष होता है; वैसे ही उच्चारण भी सर्वदा स्थित शब्द का केवल व्यञ्जक है और उसके रहने पर ही शब्द का प्रत्यक्ष होता है।

उच्चारण के कर्ता को ही शब्द का कर्ता समझा जाता है। उच्चारण वही संयोग-विभाग है, अतः 'शब्द का कर्ता' होने से

तात्पर्य केवल 'शब्दप्रयोग के कर्ता' में है—"प्रयोगस्य परम्।" जैसे एक ही सूर्य महान् होने के कारण एक ही समय में भिन्नदेशस्थ अनेक पुरुषों को दिखलाई देते हैं, वैसे ही व्यापक शब्द एक होते हुए भी, एक ही समय में भिन्नदेशस्थ अनेक पुरुषों को प्रत्यक्ष हो सकते हैं। इससे शब्द की भिन्नता और अनित्यता सिद्ध नहीं की जा सकती—"आदित्यवद्यौगपद्यम्।"

वर्णों में दूध-दही के समान प्रकृति-विकृतिभाव भी नहीं बन सकता। इकार यकार दोनों पृथक् पृथक् वर्ण हैं। यदि इनमें प्रकृति-विकृतिभाव होता, तो जैसे दुग्ध के बिना दधि नहीं हो सकता, वैसे ही इकार के बिना यकार का उच्चारण न बनता। परन्तु 'यथा' आदि शब्दों में बिना इकार के भी यकार उच्चरित होता है, अतः दोनों ही स्वतन्त्र है।

विधायक सूत्रों का इतना हो तात्पर्य है कि 'सुधी + उपास्यः' ऐसे उच्चारण के प्रसंग से 'सुध्युपास्यः' ऐसा उच्चारण करना। बहुतों के बोलने से जो कोलाहल होता है, उसे भी शब्द की वृद्धि नहीं कही जा सकती। वृद्धि उस पदार्थ की हो सकती है, जिसमें अनेक अवयव हों। शब्द तो नैयायिकों के मत में भी गुण पदार्थ होने से निरवयव है। अतः निरवयव शब्द में वृद्धि कथमपि नहीं बन सकती। इसलिए यह मानना चाहिए कि किसी अन्य वृद्धि का ही वर्णों में आरोप होता है। इस भाँति पूर्वोक्त संयोग-विभाग की वृद्धि से ही शब्दों में वृद्धि का व्यवहार होता है।

ये ही संयोग-विभाग 'नाद' शब्द से भी व्यवहृत होते हैं। उन्हींकी बहुलता से शब्द में सावयवता और बहुलता प्रतीत होती है। अतः वृद्धिरूप हेतु से भी शब्द की अनित्यता नहीं कही जा सकती। शब्द नित्य होने पर ही दूसरों को बोध

कराने के लिए शब्दों का प्रयोग संगत होगा, अन्यथा दूसरों को बोध कराने के लिए शब्दों का प्रयोग व्यर्थ हो जायगा, कारण अनित्य शब्द तो उच्चारण के अनन्तर ही नष्ट हो जायगा। वह श्रोता को अर्थबोध कराने तक रहेगा ही नहीं। फिर बिना वाक्यरूप कारण रहे वाक्यार्थबोधरूप कार्य कैसे उत्पन्न होगा ?अतः यह मानना ही चाहिए कि अपना अर्थबोध कराने तक शब्द ठहरता है। उसके अनन्तर उसके नाश का कोई हेतु न होने से उसे नित्य मानना ही युक्तियुक्त है। सर्वत्र ही समानता रूप से 'यह वही गकार है' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा होती है। सर्वत्र सदा सभीको ऐसी ही प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः इसे भ्रान्ति नहीं कह सकते। इसलिए भी शब्द नित्य ही है। अगर किसीने दश बार भी शब्द का उच्चारण किया, तो भी व्यवहार यही होता है कि एक गोशब्द का दश बार उच्चारण किया गया। ऐसा व्यवहार नहीं होता कि इसने दश गोशब्दों का उच्चारण किया। इससे स्पष्ट विदित होता है कि उच्चारण में ही हेरफेर होता रहता है, शब्द स्वरूप से एक ही होता है। जैसे घटादि के नाश का कारण असमवायिकारणका नाश प्रसिद्ध है, वैसे ही शब्द के नाश का कारण लोक में निश्चित नहीं है। अतः शब्द नित्य ही है।

कई लोग कहते हैं कि 'वायु-परमाणुओं के संयोगों से शब्दों की उत्पत्ति होती है, "वायुरापद्यते शब्दताम्" इस शिक्षावचन के अनुसार तो यही विदित होता है, कि शब्द वायु का ही विकार है।' किन्तु यह कथन युक्त नहीं, कारण यदि शब्द वायु का विकार होता, तो उसका वायवीय त्वक्-इन्द्रिय से ही प्रत्यक्ष होता, श्रोत्र इन्द्रिय से उसका प्रत्यक्ष न होता। जैसे अन्यान्य वायुविकारों का श्रोत्र से प्रत्यक्ष नहीं होता, वैसे ही शब्द का भी श्रोत्र से

प्रत्यक्ष न होता। अतः शब्द वायु का विकार नहीं है। इसके अतिरिक्त 'वाचा निरूपनित्यया' इस मन्त्र से भी शब्द की नित्यता विदित होती है।

यहाँ फिर यह शंका होती है कि 'नित्य होने से भले ही वर्ण पौरुषेय न हों, वर्णों की आनुपूर्वी भी पौरुषेय न हों, कुम्भकारादि पदों में भी पदों की आनुपूर्वी चाहे पुरुषानपेक्ष अर्थात् स्वतन्त्र ही रहे; परन्तु वाक्यों में अन्वयबोधयोग्य पदों का समभिव्यवहार तो अवश्य ही पुरुषों की अपेक्षा रखता है। पुरुषाधीन होने से ही लौकिक वाक्य पौरुषेय कहलाते हैं। लौकिक वाक्यों में रहनेवाली वर्णों और पदों की आनुपूर्वी श्रोताओं के बोध का कारण है। यह आनुपूर्वी न बनायी जा सकती है, न बिगाड़ी ही जा सकती है। आनुपूर्वी के बिगड़ने पर उन शब्दों से श्रोताओं को अर्थबोध ही न हो सकेगा। फिर वह वाक्य ही निष्फल हो सकता है।

'ट घ' ऐसा प्रयोग करने पर घट का बोध नहीं हो सकता। 'कारः कुम्भ' ऐसा कहने पर कुम्भकार का बोध नहीं हो सकता, परन्तु लौकिक वाक्य तो सभीके मत में पौरुषेय ही समझे जाते हैं। इस पर विचारणा यह है कि लौकिक वाक्यों में कौन-सी वस्तु पौरुषेयता है? वर्ण तो पूर्वकथनानुसार अपौरुषेय ही हैं, वर्णों या पदों की आनुपूर्वी भी पूर्व के (घट, कुम्भकार) दृष्टान्त से अपौरुषेय (नित्य) ही है। पदों का समभिव्याहार ही अवशिष्ट रहता है, अतः उसे ही पौरुषेय (पुरुषाधीन, अनित्य) कहा जा सकता है। कारण वहाँ आनुपूर्वी बिगड़ने पर निरर्थकता नहीं होती—चाहे, 'राज्ञः पुरुषः' (राजा का पुरुष) कहें, चाहे 'पुरुषो राज्ञः' (पुरुष राजा का है) से शब्दबोध दोनों ही तरह हो सकता है।

अतः यदि यह समभिव्याहार भी पौरुषेय न हों, तब तो लौकिक वाक्यों में इससे भिन्न कोई पौरुषेयता है ही नहीं। फ़िर तो लौकिक वाक्यों से भी पौरुषेयता उड़ जायगी। यदि लौकिक वाक्यों में समभिव्याहार की पौरुषेयता मान्य है, तब तो वही पौरुषेयता वेदों में भी आ सकती है। क्योंकि वह लौकिक, वैदिक दोनों ही तरह के वाक्यों में श्रोता का शाब्दबोध कराता है। अतः जैसे समभिव्याहार की पौरुषेयता से लौकिक वाक्यों में पौरुषेयता आती है, वैसेही वैदिक वाक्यों की भी पौरुषेयता अवश्य होगी। सहोच्चारण ही समभिव्याहार है। बिना पदों के सहोच्चारण के कोई भी वाक्य सिद्ध नहीं होता। साथ ही वेदों द्वारा भी वेदों की पौरुषेयता सिद्ध होती है। 'प्रजापतिर्वेदानसृजत'—प्रजापति ने वेदों का सर्जन किया। "तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे", "यज्ञो वै विष्णुः" —विष्णु से सामादि वेदों की उत्पत्ति हुई। अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, सूर्य से सामवेद उत्पन्न हुआ— "तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयोवेदा अजायन्तग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः" [श० का० ११ अ०५]। पुराणों में भी बहुधा ब्रह्मा को वेदों का कर्ता कहा गया है। इन सबसे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि वेद विष्णु से, प्रजापति से, अग्नि से और अन्यान्य स्रोतों से उत्पन्न होते हैं। स्मृति, पुराण आदि से भी यही बात मालूम पड़ती है।'

पर उक्त कथन भी विचार-शाण पर खरा नहीं उतरता। कारण यह है कि किसी ग्रन्थ या वाक्य का प्रथमोच्चारयिता ही कर्ता माना जाता है। जैसे भारत आदि का प्रथम उच्चारण करनेवाले कृष्ण द्वैपायन व्यास हैं। समभिव्याहार में केवल उच्चारण की अपेक्षा होती है, प्राथम्य की अपेक्षा नहीं

होती। अतएव द्वितीय, तृतीय उच्चारण में भी वाक्यत्व रहता ही है। कार्य से कारण का अनुमान होता है। समभिव्याहाररूप कार्य से उसके कारण उच्चारण का अनुमान ही हो सकता है, क्योंकि प्राथम्य अप्रयोजक है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि द्वितीयादि उच्चारण प्रथमोच्चारण की अपेक्षा नहीं रखते। क्योंकि यह कहा जा चुका है कि शिष्य आदि का परवर्ती उच्चारण गुरु के पूर्ववर्ती उच्चारण की अपेक्षा रखते ही हैं। अर्थात् हरएक उच्चारण अपने पूर्ववर्ती उच्चारण की अपेक्षा रखता है, मुख्य प्राथम्य की अपेक्षा नहीं रखता। गुरुका उच्चारण शिष्य के उच्चारण की अपेक्षा नहीं रखता। गुरु का उच्चारण शिष्य के उच्चारण से प्रथम होने पर भी अपने गुरु के उच्चारण की अपेक्षा वह भी द्वितीयादि है ही। अतः यही कहा जा सकता है कि जो उच्चारण जिस उच्चारण का कारण होता है, वह उसकी अपेक्षा पूर्व होता है। अतः समभिव्याहार से उसके कारणभूत उच्चारण का और उस उच्चारण से उसके कारणभूत पूर्व-उच्चारण का अनुमान हो सकता है। इसी प्रकार प्रत्येक उच्चारण से उसके पूर्व-पूर्व उच्चारण का अनुमान होता है। सारांश यह कि उक्त प्रक्रिया के अनुसार उच्चारण-धारा अनादि है। अतः समभिव्याहाररूपी वाक्य के कारण उच्चारण-कर्ता गुरु-शिष्यों की अनादि-परम्परा प्रचलित है। उनका प्रथम-प्रथम उच्चारण करनेवाला कर्ता कोई भी सिद्ध नहीं होता। यद्यपि भारत आदि ग्रन्थों की भी यही अनादि परंपरा प्राप्त होती है, तथापि उनके निर्माता व्यास आदि की प्रसिद्धि से यह परम्परा व्यास आदि तक जाकर रुक जाती है। वेदों में उच्चारण-परम्परा की निवृत्ति का कोई साधन नहीं है। इससे यह सिद्ध है कि वेद की उच्चारण-परम्परा अनादि है।

जैसे मनु आदि ने जिस समय मन्वादि-धर्मशास्त्रों की रचना की, उस समय के पुरुषों ने उनको रचना करते देखा और उन लोगों ने अन्य पुरुषों से कहा। फिर उन लोगों ने भी दूसरों से कहा। इस प्रकार मनु आदि कर्ताओं की स्मरण-परम्परा आजतक प्रचलित है। ऐसे ही यदि वेद का कोई कर्ता होता, तो इसी क्रम से उसके स्मरण की भी परम्परा होनी चाहिए थी। जब एकदेशी ग्रंथों की यह स्थिति है, तो मनु, व्यास आदि के द्वारा अत्यन्त समादृत सर्वविद्याओं के मूल वेदों का रचयिता यदि कोई होता, तो अवश्य ही किसीने देखा होता और उसने दूसरों से कहा होता। उन लोगों ने भी अन्यों को सूचना दी होती और वेद-कर्ता की स्मृतिपरम्परा अबतक प्रचलित होती। छोटे-छोटे ग्रंथों की रचना करनेवाले भी रचयिता के रूप में अपना नामोल्लेख करते हैं। कई-कई तो अपनी प्रख्याति एवं नाम चलाने के लिए ही ग्रंथ लिखते हैं। फिर वेद जैसे महान् एवं गम्भीर ग्रंथों का यदि कोई रचयिता होता, तो अवश्य ही अपना नाम भी सूचित करता। अन्य किन्हीं ग्रन्थों में कर्ता के होने, न होने का विवाद भी नहीं है। अतः वेद के कर्ता के संबंध में सभी अनुमान अटकलमात्र हैं।

"प्रजापतिर्वेदासृजत्" इत्यादि स्थलों में 'सृज' धातु का 'उच्चारण' ही अर्थ है, निर्माण नहीं। तभी "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।" इस मन्त्र की "तस्मैतं, ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' इस मन्त्रवाक्य के साथ संगति बैठेगी। इस मन्त्र का यही अर्थ है कि जो ईश्वर ब्रह्मा का निर्माण करता और उसके हृदय में वेदों को पहुंचाता है, हम मोक्ष के लिए उसीकी शरण जाते हैं।

गौ आदि सिद्ध पदार्थ को ही ग्राम आदि में पहुँचाया जाता है। यदि प्रजापति वेद के कर्ता होते, तो इस प्रकार "ब्रह्माणं विदधाति" "वेदान् प्रहिणोति" यह प्रयोग नहीं हो सकता था। जब ब्रह्मा का निर्माता ईश्वर भी वेदों का निर्माता नहीं, तो ब्रह्मा या प्रजापति वेदों के निर्माता कैसे होंगे ? "सृजन्तमाजाविपुसंहतीर्वः" इत्यादि स्थलों में बाणों के प्रक्षेप अर्थ में ही 'सृज' धातु का प्रयोग हुआ है। उच्चारण का भी 'क्षेप' ही अर्थ है। "यश्च किरति क्रूरं निष्ठुरः" इत्यादि स्थलों में उच्चारण को क्षेप ही कहा गया। 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'हिनोति' का अर्थ है—प्रापण। यह अर्थ "प्रहिणु नयने" "इन्दुः प्रहितः" इत्यादि स्थलों में प्रसिद्ध है। प्रजापति ने ईश्वरप्रेरणा से पूर्वकल्पीय उच्चारण-सापेक्ष उच्चारण-कर वेदों का संप्रदाय-प्रवर्तन किया, यही 'प्रजातिर्वेदानसृजत्' का अर्थ है। यदि यहाँ 'सृज' धातु का अर्थ निर्माण लिया जाय, तो परस्पर विरोध भी है। विष्णु प्रजापति, अग्नि, सूर्य, वायु आदि अनेक का स्रष्टृत्व श्रुत है। फिर किसे निर्माता माना जाय ? किन्तु यदि उच्चारण ही सृज का अर्थ हो, तब तो कोई विरोध न होगा। इसी प्रकार माता के उदर में संजात चैत्र का भी माता के पेट से निकलनेमात्र के अर्थ में "अद्य चैत्रो जातः" यह व्यवहार होता है ! इस तरह 'अजायत' का अर्थ भी संगत हो जाता है। उच्चारण भी जन्य होता ही है। इसी तरह उक्त श्रुतियों में अनादिसिद्ध वेद के उच्चारणमात्र से जनि, सृजि आदि का प्रयोग संगत हो सकता है।

इसी तरह "अनन्तरन्तु वक्त्रेभ्यस्तस्य वेदाः विनिःसृताः" अर्थात् 'पश्चात ब्रह्मा के मुखों से वेद निकले'--यहाँ विनिःसृता' का अर्थ उत्पत्ति नहीं, बल्कि 'उच्चारण' ही है। प्रस्तुत स्मृति या इसी प्रकारकी अन्य स्मृतियाँ भी उक्त श्रुतिमूलक ही हैं। अतः उनका

गौ आदि सिद्ध पदार्थ को ही ग्राम आदि में पहुँचाया जाता है। यदि प्रजापति वेद के कर्ता होते, तो इस प्रकार "ब्रह्माणं विदधाति", "वेदान् प्रहिणोति" यह प्रयोग नहीं हो सकता था। जब ब्रह्मा का निर्माता ईश्वर भी वेदों का निर्माता नहीं, तो ब्रह्मा या प्रजापति वेदों के निर्माता कैसे होंगे? "सृजन्तमाजाविषुसंहतीर्वः" इत्यादि स्थलों में बाणों के प्रक्षेप अर्थ में ही 'सृज' धातु का प्रयोग हुआ है। उच्चारण का भी 'क्षेप' ही अर्थ है। "यश्च किरति क्रूरध्वनि निष्ठुरः" इत्यादि स्थलों में उच्चारण को क्षेप ही कहा गया है। 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'हिनोति' का अर्थ है—प्रापण। यह अर्थ भी "प्रहिणु नयने" "इन्दुः प्रहितः" इत्यादि स्थलों में प्रसिद्ध है। प्रजापति ने ईश्वरप्रेरणा से पूर्वकल्पीय उच्चारण-सापेक्ष उच्चारण-कर वेदों का संप्रदाय-प्रवर्तन किया, यही 'प्रजातिर्वेदानसृजत्' का अर्थ है। यदि यहाँ 'सृज' धातु का अर्थ निर्माण लिया जाय, तो परस्पर विरोध भी है। विष्णु प्रजापति, अग्नि, सूर्य, वायु आदि अनेक का स्रष्टृत्व श्रुत है। फिर किसे निर्माता माना जाय? किन्तु यदि उच्चारण ही सृज का अर्थ हो, तब तो कोई विरोध न होगा। इसी प्रकार माता के उदर में संजात चैत्र का भी माता के पेट से निकलनेमात्र के अर्थ में "अद्य चैत्रो जातः" यह व्यवहार होता है! इस तरह 'अजायत' का अर्थ भी संगत हो जाता है। उच्चारण भी जन्य होता ही है। इसी तरह उक्त श्रुतियों में अनादिसिद्ध वेद के उच्चारणमात्र से जनि, सृजि आदि का प्रयोग संगत हो सकता है।

इसी तरह "अनन्तरन्तु वक्त्रेभ्यस्तस्य वेदाः विनिःसृताः" अर्थात् 'पश्चात् ब्रह्मा के मुखों से वेद निकले'--यहाँ विनिःसृता' का अर्थ उत्पत्ति नहीं, बल्कि 'उच्चारण' ही है। प्रस्तुत स्मृति या इसी प्रकारकी अन्य स्मृतियाँ भी उक्त श्रुतिमूलक ही हैं। अतः उनका

भी उच्चारणमात्र में ही तात्पर्य है। प्रथमोच्चारणरूप निर्माण के कथन में स्मृति का तात्पर्य नहीं है। "प्रतिमन्वन्तरञ्चैषा श्रुतिरन्या विधीयते" इस स्मृति में उच्चारण के भेद से ही प्रतिमन्वन्तरों में अन्य श्रुतियों का विधान बतलाकर कर्ताओं के भेद का विरोध-परिहार किया गया है। जैसे, देवदत्त द्वारा उच्चरित गोशब्द में भिन्नता का व्यवहार होता है, वैसे ही मन्वन्तरों में भिन्न उच्चारण करनेवालों के भेद से श्रुति में भी भिन्नता का व्यवहार होता है। वास्तव में जैसे गोशब्द एक ही है, वैसे ही श्रुति भी अभिन्न ही है।

कुछ लोगों को गीता के "वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्" इस वचन से भी भ्रान्ति होती है कि वेदान्तों के कर्ता भगवान् हैं। अतः परमात्मा वेद के कर्ता हैं, यह गीता से ही सिद्ध होता है। किन्तु उस वचन का अर्थ यह है कि भगवान् वेद के अन्त अर्थात् सम्प्रदाय-लोप या अप्रचार का कृत् (छेदन) करनेवाले हैं। 'कृती छेदने' धातु से निष्पन्न यह रूप है। अथवा महाप्रलय-समय वे वेद के सम्प्रदाय का लोप करनेवाले हैं। पालक होने से सृष्टिकाल में सम्प्रदाय-लोप को काटनेवाले हैं और संहारक होने से प्रलयकाल में सम्प्रदायलोप के कर्ता हैं। अथवा वेदान्त-विचारात्मक वेदान्तशास्त्र 'ब्रह्मसूत्र' के व्यास के रूपमें प्रणेता हैं। अथवा वेदान्तों के कर्ता होने का आशय 'वेदान्तों का सम्प्रदाय-प्रवर्तन करना है'। वेदान्तों—उपनिषदों का निर्माण तो किसीसे नहीं होता। यदि विधिभाग अपौरुषेय और उपनिषद् भाग पौरुषेय माना जाय, तो 'अर्ध-जरतीय' न्यायकी उपस्थिति होगी। "वाचा विरूपनित्यया' इस मंत्र से तो समस्त वेदलक्षण-वाक् की नित्यता सिद्ध होती है, जिससे पौरुषेयता पर होनेवाली समस्त शंकाओं का सहज में ही खण्डन हो जाता है।

भट्टपाद जैसे प्राचीन विद्वानों का तो यह कहना है कि यदि भारत आदि ग्रंथों के कृष्ण द्वैपायन प्रभृति कर्ता प्रसिद्ध न होते, तो वेद के समान वे भी अपौरुषेय ही होते। किन्तु जब उनके कर्ताओं की प्रसिद्धि है, तो पौरुषेयता सिद्ध होने से अपौरुषेयता निरस्त हो जाती है।

पुराणों में वेद के कर्ता की जो चर्चा आती है, वह "प्रजापतिर्वेदान् सृजति" इस अर्थवाद के ही आधार पर ही है। जब अर्थवाद का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता, तो उनके आधार पर बनायी हुई स्मृति या पुराण के आधार पर वेदों की पौरुषेयता कैसे सिद्ध हो सकती है?

यदि वास्तव में वेद का कोई कर्ता होता, तो तात्कालिक पुरुषों को अवश्य ही उसका प्रत्यक्ष होता। वे औरों से और वे औरों से कहते। इस रीति से अध्येताओं और अध्यापकों की परम्पराओं में अवश्य ही उसकी प्रसिद्धि होती। किन्तु वह प्रसिद्धि है नहीं। अतः यही कहना पड़ता है कि पुराणों ने अर्थवादों को ही देखकर वेदों का कर्ता बतलाया है। परन्तु जब उसका मूल अर्थवाद ही स्वार्थ में प्रमाण नहीं, किसी विधि का स्तावक मात्र है, तब उससे वे पुराणवचन वेदकर्ता को कैसे सिद्ध कर सकते हैं?

यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'कर्तृस्मृति का मूलान्तर कल्पित करके उसका सम्यक्त्व ही क्यों न माना जाय?' किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं। जब परम्परा से वेद–कर्ता का स्मरण नहीं है, तब वह अनुभवमूलक नहीं कहा जा सकता, उसका अर्थवादमूलक होना ही उचित है। यद्यपि अर्थवाद भी अन्यपरक होने से कर्तृ-स्मृति के मूल नहीं हो सकते, तथापि

अन्यपरक वाक्यों से भी भ्रान्ति हो सकती है। अतः सर्वथा अमूल कहने की अपेक्षा भ्रान्तिमूल कहना ही उचित है। यही बात भट्टपाद ने कही है—

"भारतेऽपि भवेदेवं कर्तृस्मृत्या तु बाध्यते।
वेदेऽपि तत्स्मृतिर्या तु साऽर्थवादनिबन्धना॥
पारम्पर्येण कर्तारं नाध्येतारः स्मरन्ति हि।
तेषामनेवमात्मत्वात् भ्रान्तिः सेति च वक्ष्यते॥
तेषु च क्रियमाणेषु न मूलान्तरकल्पना।
तथा ह्यद्यतनस्यापि ते कुर्वन्तीदृशीं मतिम्॥"

कुछ लोगों का कहना है कि 'वेदों के अनेक कर्ताओं का जो श्रवण है, उसमें कोई भी विरोध नहीं। जैसे राम, कृष्ण आदि परमेश्वर के अवतार हैं, वैसे ही सूर्य, अग्नि, वायु, यज्ञ प्रजापति आदि सभी परमेश्वर के ही अवतार हैं। इस तरह अनेक रूपोंसे परमेश्वर ही वेदों के निर्माता हैं। इसीलिए भिन्न-भिन्न परमेश्वर के ही नामों से भिन्न-भिन्न शाखाएँ प्रसिद्ध हैं। अथवा कठ आदि भिन्न-भिन्न जीवों ने वेदों को वनाकर अपने-अपने नाम से भिन्न-भिन्न शाखाओं को प्रसिद्ध किया है।' दोनों ही पक्षों में वेद की अपौरुषेयता मिट जाती है। भगवान् जैमिनि ने 'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः' इस सूत्र से इन्हीं पक्षों का उत्थापन किया है। भावार्थ यह है कि कुछ लोग वेदों को रचित मानते हैं, क्योंकि काठक, कौथुम आदि शाखाएँ कठ आदि पुरुषों के नामों से सम्बद्ध पायी जाती हैं। अतः काठक आदि समाख्या से ही वेदकर्ताओं का निर्णय हो जाता है।

इन्हीं आचार्यों ने इस विषय का समाधान यों किया है कि

जिस वस्तु की सामान्य रूप से प्राप्ति होती है, समाख्या से उसी-के विशेषांश का निर्णय हुआ करता है। जैसे दक्षिणा द्वारा ऋत्विजों का वरण कर लेने पर उन्हें यज्ञ के हरएक कार्यों में नियुक्त किया जा सकता है। अतः आध्वर्यव, औद्‌गात्र, हौत्र आदि समाख्याओं से नियमन किया जाता है। यजुर्वेद के जिन कर्मों का 'आध्वर्यव' नाम है, उनका कर्ता उसी नाम के अनुसार 'अध्वर्यु' ऋत्विज यजुर्वेदी ही नियत होता है। जिन ऋग्वेदीय कर्मों का हौत्र नाम है, उनको ऋग्वेदी होता करता है। इसी तरह यदि वेदों का कर्ता सामान्य रूप से सिद्ध होता, तो काठक, कौथुम आदि समाख्याओं द्वारा विशेषरूप कठ आदि कर्ता सिद्ध किया जा सकता। किन्तु जब सामान्य रूप से भी वेदों का कर्ता सिद्ध नहीं है, तब फिर काठकादि द्वारा विशेष कर्ताओं की सिद्धि कैसे हो सकती है? रही काठक आदि समाख्याओं की बात। सो तो प्रवचन संबन्ध से भी उपपन्न हो सकती है। अर्थात् कठ आदि ने विशेष रूप से जिनका प्रवचन किया, वे ही शाखाएँ काठक आदि हैं।

जो यह कहा जाता है कि 'वाक्यमात्र किसी न किसी पुरुष के बनाये होते हैं, तो वेदवाक्य भी किसीके बनाये होंगे' इस अनुमान से सामान्य रूप से वेदों का कर्ता सिद्ध ही है, काठकादि समाख्या से विशेष रूप में भी उसका निर्णय हो जायगा।' इसका भी उत्तर यह है कि वेदों का कर्ता परम्परा से प्रसिद्ध नहीं है। इस कारण उक्त अनुमान अस्मर्यमाणकर्तृकत्वरूप उपाधि से दूषित ही है। अतः उससे कर्तृसामान्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

कहा जा सकता है कि 'कर्ता की प्रसिद्धि न होने से कर्तृ-सामान्य का जो निषेध किया जाता है, वह भी बिना प्राप्ति के

बन नहीं सकता। कारण शृंग आदि अप्राप्त पदार्थों का निषेध या बाध नहीं किया जाता। अतः अपौरुषेयता का समर्थन करनेवाले वेदों की पौरुषेयता का जो निराकरण करते हैं, उसीसे पौरुषेयता की प्राप्ति सिद्ध हो जाती है। इसके सिवा यह भी कहा जा सकता है कि काठकादि समाख्या से ही सिद्ध होता है कि वेदों के कर्ता और अध्येताओं की परम्परा में अवश्य प्रसिद्ध है। अतः कर्ता की अप्रसिद्धि नहीं कही जा सकती। इसलिए वाक्य होने से तो वेदों का सामान्य रूप से कर्ता सिद्ध होता ही है, काठकादि समाख्या से विशेषतः उसकी सिद्धि हो सकती है।'

किन्तु विचार करने पर उक्त तर्क भी निस्सार जान पड़ता है, क्योंकि प्रसिद्धि प्रवचन या पढ़ने-पढ़ाने के अधिक अभ्यास से भी हो सकती है। अर्थात् कठ ने जिस शाखा का विशेष रूप से अध्ययन-अध्यापन किया, उस शाखा को 'काठक' कहा जाता सकता है। अतः समाख्या के आधार पर वेद के कर्ता की सिद्धि नहीं हो सकती। इसी तरह प्राप्तिपूर्वक ही निषेध होता है, किन्तु वह प्राप्ति प्रामाणिक होनी चाहिए, यह आवश्यक नहीं। क्योंकि प्रामाणिक प्राप्ति का अत्यन्त निषेध हो ही नहीं सकता। काठकादि समाख्या का मूल प्रवचन आदि नहीं है। अतः उसके आधार पर कर्ता की प्रसिद्धि नहीं कही जा सकती।

यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'जब गुरुपरम्परा अनादिकाल से प्रचलित है, तो सहस्रों व्यक्तियों ने एक शाखा का प्रवचन आदि किया ही होगा। फिर कठ के प्रवचन मात्र से काठकादि समाख्या की उपपत्ति कैसे हो सकती है? जब अनेक प्रवक्ता थे, तो उनके नामों से समाख्या क्यों नहीं हुई? इसलिए कठ द्वारा रचित होने से ही काठक समाख्या ठीक प्रतीत होती है।'

किन्तु उक्त तर्क भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रवचन के उत्कर्ष को लेकर काठक समाख्या बन सकती है। कठ ने विशिष्ट रूप से प्रवचनादि किया, इसलिए उस शाखा का नाम 'काठक' हुआ। इसीलिए "उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्" (जै० सू०), "आख्या प्रवचनात्" (जै० सू०) इन सूत्रों से कहा गया है कि पूर्व ही शब्द की नित्यता युक्तियों से सिद्ध कर दी गयी है। "तथा वाचा विरूपनित्यया" इस श्रुति से भी वेदवाक्यों की नित्यता सिद्ध है। अतः वेद नित्य हैं। काठकादि समाख्या तो प्रवचन से ही बनी है, रचना से नहीं। यद्यपि महाभारत आदि वाक्य भी शब्द हैं, तो भी वहाँ कर्ता आदि की प्रसिद्धि है; अतः वहाँ पर पौरुषेयता है। वेदों में कर्ता की प्रसिद्धि नहीं है, अतः वेद अपौरुषेय हैं। वाक्य-समभिव्याहार यद्यपि कर्तृ-सापेक्ष होता है, तथापि वहाँ स्वतन्त्र कर्ता की अपेक्षा नहीं होती। प्रथम उच्चारण करनेवाला 'स्वतंत्र कर्ता' कहलाता है। जब वेद अनादि हैं, तो उनका कोई भी प्रथम उच्चारण करनेवाला नहीं है। हरएक शिष्य अपने गुरुओं के उच्चारण के अनुकूल ही उच्चारण करता है। अतः उच्चारण के कर्ता होने पर प्रथमोच्चारयितारूप वेदवाक्यों का मुख्य कर्ता कोई भी नहीं। जब वेदों का कर्ता सामान्य रूप से अप्रसिद्ध है, तो फिर काठकादि समाख्या द्वारा भी कर्ता की सिद्धि नहीं हो सकती। समाख्या विशिष्ट प्रवचनमात्र से उत्पन्न हो ही जाती है।

कहा जाता है कि 'जैसे कुमारी का गर्भ ही पुरुषसंयोग में स्वतन्त्र प्रमाण होता है, वैसे ही समाख्या रूप काठकादि शब्द ही शाखाओं के पौरुषेय होने में स्वतःप्रमाण है।' किन्तु उक्त तर्क भी ठीक नहीं। कारण जैसे 'कृते ग्रन्थे' इस अधिकार में 'कठेन कृतं काठकम्' शब्द बन सकता है, वैसे ही 'तेन प्रोक्तम्'

'तदधीते तद्वेद' इत्यादि अर्थ में भी काठक, कौथुम आदि शब्दों की निष्पत्ति होती है। पाणिनीय सूत्र दोनों ही प्रकार के हैं। इस तरह समाख्या अन्यथासिद्ध है। इससे काठकादि शाखा के निर्माता कठादि सिद्ध नहीं होते, किन्तु कठादि उन शाखाओं के प्रवक्ता ही सिद्ध होते हैं।

पूर्वपक्षी काठकादि समाख्याओं द्वारा वेद को पौरुषेय सिद्ध-कर उनके स्वतःप्रामाण्य का खण्डन करना चाहता है। किन्तु उसके पक्ष में तीन दोष होंगे। पहला तो यह कि समाख्या अन्य प्रमाणों की अपेक्षा दुर्बल प्रमाण होता है। श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण प्रमाण उससे प्रबल हैं। अश्वकर्ण आदि समाख्या (यौगिक शब्द) अवयवार्थ की अपेक्षा न कर वृत्तविशेष में पर्यवसित होती है। व्यवहार में चलती चीज को गाड़ी, बने हुए दूध को खोआ कहा जाता है। ऐसी दुर्बल एवं अल्पीयसी समाख्या के बल पर श्रुति जैसे प्रबलप्रमाणरूप, स्पष्टवादी महान् शब्द-राशि वेद का अप्रामाण्य कहना सर्वथा असंगत है।

यदि कहा जाय कि 'समाख्या के द्वारा पौरुषेयता ही साधित करना अभीष्ट है, वेदों का अप्रामाण्य साधन नहीं, तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि पौरुषेयता सिद्ध हो जाने पर वेदों का प्रामाण्य सिद्ध करना दुष्कर ही होगा। जैसे कोई कहे कि 'मैं केवल तुम्हारा शिर ही काटूँगा, मारूँगा नहीं', वैसे ही यह भी कहना है कि 'हमें पौरुषेयता ही सिद्ध करना है, अप्रामाण्य नहीं।' जैसे शिर काटने पर मरना अनिवार्य हो जाता है, वैसे ही पौरुषेयता सिद्ध होने पर वेदों का अप्रामाण्य भी अनिवार्य ही है। दूसरे यह कि वेद के लिए समाख्या है, समाख्या के लिए वेद नहीं। अतः अप्रधान प्रमाण से प्रधानभूत वेद का अप्रामाण्य सिद्ध करना भी मूर्खता ही है। तीसरे यह कि दो-चार अक्षरों की

समाख्या के बल पर महान् शब्दराशि वेद का अप्रामाण्य कहना वैसा ही असंभव है, जैसे चने का भाड़ फोड़ना। ऐसी स्थिति में जैसे अश्वकर्ण आदि शब्द अक्षरार्थ के बिना ही वृक्ष आदि के वाचक होते हैं, वैसे ही काठक, कौथुमक, तैत्तिरीयक आदि समाख्याएँ उन-उन शाखाओं की रूढ़ (अवयवार्थरहित) संज्ञाएँ हैं। काठक आदि नामों से उन-उन शाखाओं का व्यवहार चलाना ही उनका प्रयोजन है।

किन्तु "श्रुतिसामान्यमात्रम्" इस सूत्र द्वारा जैसे बर्बरादि शब्दों को रूढ़ माना गया है, वैसे ही यहाँ भी काठक आदि शब्द शाख-विशेष में रूढ़ हैं। सहस्रों अध्येता एवं अध्यापकों के होने पर भी काठकादि समाख्या कठ के नाम पर ही हुई। जैसे अनेक की माता होने पर भी देवदत्त की ही माता का व्यवहार होता है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए। जैसे डित्थ, डवित्थ की समान रूप से माता होने पर भी, व्यवहार डित्थ की माता होने का ही होता है, वैसे ही काठकादि शाखाएँ, चाहे अनेक पुरुषों से पढ़ी-पढ़ायी जायँ, फिर भी काठकादि समाख्याएँ हो सकती हैं।

यद्यपि जिस तरह कठ के पढ़ाने से उस शास्त्र का नाम 'काठक' पड़ा, उसी तरह अन्य अध्यापकों के नामों से उन शाखाओं की प्रसिद्धि होनी चाहिए थी। फिर भी किसी अध्यापक का इससे कुछ लाभ नहीं है। समाख्या केवल व्यवहार के लिए होती है, सो भी अनादि वेद के समान भी अनादि ही है। हम देखते ही हैं कि अनेक ऋषियों से सेवित होने पर भी तीर्थ मार्कण्डेय और अगस्त्य आदि ऋषियों के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। इसके सिवा जिस दूसरे अध्यापक के नाम से शाखा की प्रसिद्धि

होती, तो उसके लिए भी यही कहा जा सकता था कि अन्य अध्यापकों के नाम से समाख्या क्यों नहीं हुई? व्यवहार एक नाम से चल सकता है, अतः अनेक के नामों से समाख्या का बनना व्यर्थ है। इसी प्रकार सत्र याग में यजमान अनेक होते हैं, परन्तु किसी एक ही यजमान के नाम से यूप-निर्माण होता है। सीता अशोक-वाटिका में ही क्यों रखी गयीं, इस प्रश्न के समान ही यह भी प्रश्न है।

जो लोग समाख्या द्वारा वेदों की पौरुषेयता सिद्ध करते हैं, उन्हें यह बतलाना चाहिए कि यह समाख्या नित्य है या अनित्य? अर्थात् यह किसी पुरुष से बनायी हुई है या नहीं। यदि समाख्या नित्य मानी जाय, तब तो वह पुरुष के अनुसार नहीं कही जा सकती। फिर उसके द्वारा पौरुषेयता की सिद्धि की आशा ही व्यर्थ है। यदि समाख्या पौरुषेय या किसी पुरुष की बनायी समझी जाय, तब भी वह जिसकी बनायी हुई है, उसके सत्यवादी होने में क्या प्रमाण है? ऐसी स्थिति में वह समाख्या भी अप्रमाण ही है। फिर उसके द्वारा वेद के कर्ता की सिद्धि भी नहीं की जा सकती। अतः समख्या द्वारा वेद की अपौरुषेयता को कथमपि अप्रमाण सिद्ध नहीं किया जा सकता।

नैयायिक आदि लोग 'विश्वरूप कार्य से उसके एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् कर्ता का अनुमानकर उसे ही वेदों का कर्ता मान लेते हैं।' किन्तु यदि ऐसी बात होती, तो अवश्य ही वेदों के कर्तारूप से उस परमेश्वर की प्रसिद्धि होती। नित्य आकाश के रहने पर भी, परमेश्वर के विश्वकर्तृत्व में कोई बाधा नहीं खड़ी होती। पूर्वोक्त प्रकार से जब शब्दों की नित्यता सिद्ध होती है, तब परमेश्वर को उनका कर्ता मानना निरर्थक है। वेदों का

कर्ता न मानने पर भी परमेश्वर के विश्वकर्तृत्व में कोई बाधा नहीं पड़ती।

कुछ लोग कहते हैं कि 'गौ आदि व्यक्ति अनित्य हैं। गौ आदि शब्दों का संकेत कभी किसी पुरुष आदि के द्वारा ही किया गया होगा, जैसे कि पुत्र उत्पन्न होने पर पिता उसका नामकरण करता है। ऐसी स्थिति में अनित्य संकेतवाले शब्दों का ही वेदों में प्रयोग होता है। अतः वेद भी अनित्य ही होंगे। इसके अतिरिक्त कितने ही ऐसे व्यक्तियों के नाम आये हैं, जिनके जन्म-मरण का निश्चय है ही। जैसे—"बर्बरः प्रावहणि-रजायत।" अर्थात् प्रावहणि का पुत्र बर्बर पैदा हुआ। "कुस्तुविन्द-रौद्दालिकिरकामयत"—उद्दालक के पुत्र कुस्तुविन्द ने कामना की। यहाँ कहना ही पड़ता है कि बर्बर और कुस्तुविन्द आदि व्यक्तियों की उत्पत्ति से पहले ये शब्द नहीं थे। जिस पुरुष या जिस घटना का जिस प्रकार ग्रन्थ में वर्णन है, वह ग्रन्थ अवश्य ही उस पुरुषों या उन घटनाओं के पश्चात् बना है! प्रावहण का पुत्र बर्बर व्यक्ति है, वह नित्य नहीं हो सकता। फिर ऐसे अनित्य अर्थवाले अनित्य शब्दों का प्रयोग वेदों में आ ही रहे हैं। तब उन्हें पौरुषेय कहने में क्या आपत्ति हो सकती है?'

वस्तुतः ये ही सब बातें "अनित्यदर्शनाच्च" इत्यादि सूत्रों से कही गयी हैं। आधुनिक लोगों की भी प्रधान युक्ति यही है कि 'वेदों में अमुक व्यक्ति या अमुक पर्वत या नदी या घटनाएँ वर्णित हैं। अतः इन सब बातों का जिस ग्रन्थ में वर्णन हो, उस ग्रन्थ का इन सबके बाद ही बनना अवश्य मानना चाहिए।' अतएव नदियों और व्यक्तियों के कालनिश्चय से वेदों का भी कालनिर्णय किया जाता है। साथ ही यह भी को सिद्ध

करने का भी प्रयास किया जाता है, कि जिन पहाड़ों या नदियों का वर्णन वेदों में है, उन-उन देशों में वेदों का निर्माण और वैदिक संस्कृति का विस्तार मानना चाहिए।

यह भी शङ्का प्राचीन ही है कि 'वनस्पतयः सत्रमासते गावो वा सत्रमासते'—'वनस्पति एवं गायों ने सत्र किया'—ये सब वाक्य सर्वथा उन्मत्तालाप के समान हैं। इन सब बातों का समाधान 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' इस सूत्र से जैमिनि ने किया है। सूत्र का आशय यह कि बबंर आदि शब्दों का किसी पुरुष-विशेष में तात्पर्य नहीं है, क्योंकि वहाँ उस पुरुष की उत्पत्ति और जीवनचरित्रादि कुछ भी नहीं वर्णित है। जैसे आख्यायिकाओं एवम् उपन्यासों में देवदत्त, यज्ञदत्त आदि कल्पित नामों का उपयोग किया जाता है, उसी तरह इन नामों का भी उपयोग समझना चाहिए।

किसी भी सिद्धान्त या गणित को समझाने के लिए एक-आख्यायिका गढ़ ली जाती है। उसकी घटना और उसके नाम सभी कल्पित होते हैं। उनकी सचाई से वहाँ कोई भी प्रयोजन नहीं रहता। अतः इन शब्दों के आधार पर किसी देश-विशेष, जाति-विशेष, पुरुष-विशेष या वस्तुविशेष का निर्णय नहीं किया जा सकता।

यद्यपि उत्तरमीमांसकों के अनुसार प्रमाणान्तरों से अविरुद्ध कोई आख्यायिका स्वार्थ में भी तात्पर्यवाली हो सकती है। फिर भी वेदों की नित्यता, अनादिता और अपौरुषेयता का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों एवं युक्तियों से विरुद्ध होने के कारण इन आख्यायिकाओं या नामों द्वारा वेदों की पौरुषेयता सिद्ध नहीं हो सकती। इसके सिवा वेद के शब्दों द्वारा विश्व की सृष्टि

मानी गयी है—"शब्द इति चेन्नातः प्रभावात्।" जब समस्त ब्रह्माण्डों की ही उत्पत्ति शब्दों के आधार पर है, तो सभीका वर्णन वेदों में रहेगा। फिर किसी खण्ड या देश का वर्णन हो या न हो अतः वेदों के किसी देश या काल में बनने की कल्पना सर्वथा निराधार है।

जिसमें शब्दों का तात्पर्य होता है, वही शब्दार्थ होता है "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः।" जब लौकिक आख्यायिकाओं के नामों द्वारा भी किसी व्यक्ति-विशेष का निरूपण नहीं किया जा सकता, फिर बर्बरादि कल्पित नामों से अपौरुषेय नित्य वेदों की पौरुषेयता या अप्रामाण्य कैसे सिद्ध किया जा सकता है? 'वृक्षों ने यज्ञ किया,' गौओं ने सत्र किया,' इन वचनों में भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि पदों के सम्बन्धादि यहाँ निर्दोष हैं। यह समझना ठीक नहीं है कि अचेतन वृक्ष आदि में यज्ञ करने की सामर्थ्य नहीं है, अतः असम्भव बात कहनेवाले वाक्य के अर्थ का बाध होता है; क्योंकि यहाँ अर्थबाध गुण ही है, दोष नहीं।

"मम माता वन्ध्या' यह वचन विरुद्ध थंक है। किन्तु जहाँ ऐसे वाक्यों का स्वार्थ में तात्पर्य न होकर किसी विधेय की स्तुति वा निषेध की निन्दा में ही तात्पर्य हो, वहाँ तो वाच्यार्थ का बाधित होना कोई दूषण ही नहीं है। जैसे, लोग बोला करते हैं कि 'श्रीगुरुचरणपङ्कज-रजःकण ही समस्त शङ्काओं को मिटा देते हैं, फिर गुरुओं की बात क्या है?' यहाँ यदि शङ्का उठायी जाय, तो उसका समाधान बृहस्पति भी नहीं कर सकते।

ऐसे स्थलों में वाच्यार्थ के बाधित होने से ही गुरुस्तुति

आदि में तात्पर्य निर्णीत होता है। यदि वाच्यार्थ का बाध न हो, तब तो अन्य वाक्यों की तरह पूर्वोक्त वाक्यों का भी स्वार्थ में ही तात्पर्य हो जायगा। फिर गुरु की स्तुति आदि अर्थ ही नहीं निकाला जा सकता। इसी तरह 'मेरी माता वन्ध्या ही है, यदि मैंने भगवान् की सेवा न की' इसका भी तात्पर्य यही है कि भगवान् के भजन के बिना जन्म ही व्यर्थ होता है। अतः ऐसे वाक्य उन्मत्त-वाक्य नहीं हो सकते। ऐसे ही 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः', (गो–अश्व आदि से अन्य महिष आदि पशु ही नहीं हैं) इस वाक्य का भी तात्पर्य गो–अश्व पशु की प्रशंसा में ही है। ठीक इसी तरह सत्रों का माहात्म्य-वर्णन है कि 'देखो सत्र इतने श्रेष्ठ हैं कि वृक्ष, गाय आदि अचेतन और अयोग्य भी उनका अनुष्ठान करते हैं, फिर मनुष्यों को तो अवश्य ही उनका अनुष्ठान करना चाहिए।'

यही बातें पराशर-स्मृति में कही गयी हैं—

"न कश्चिद्वेदकर्ता च वेदं स्मृत्वा चतुर्मुखः।
तथैव धर्मान् स्मरति मनुः कल्पान्तरान्तरे॥"

कोई भी वेदकर्ता नहीं है, चतुर्मुख या मनु आदि सुप्तप्रतिबुद्ध न्याय से पूर्व सृष्टि के ही वेदों का स्मरणकर उपदेश करते हैं। यहाँतक कि परमेश्वर भी वेदों का कर्ता नहीं है। यह बात मत्स्यपुराण में भी स्पष्ट है—

"अस्य वेदस्य सर्वज्ञः कल्पादौ परमेश्वरः।
व्यञ्जकः केवलं विप्राः नैव कर्ता न संशयः॥"

अतः स्पष्ट है कि परमेश्वर भी कल्पादि में नित्यसिद्ध वेद को केवल प्रकट करते हैं, बनाते नहीं।

यद्यपि उत्तर-मीमांसा के "शास्त्रयोनित्वाधिकरण" में भगवान् बादनारायण ने जगत्कारण परब्रह्म की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता को सुदृढ़ करने के लिए "शास्त्रयोनित्वात्" इस सूत्र से परमेश्वर को शास्त्र का भी कारण कहा है। इससे वेदों के भी ईश्वर रचित होने के कारण उनमें पौरुषेयता, अनित्यता आदि की प्रसक्ति होती है। किन्तु बादरायण ने ही "अत एव च नित्यत्वम्" इस सूत्र से वेदों को नित्य कहा है। अतः इन दोनों सूत्रों का समन्वय करके ही सूत्रार्थ करना चाहिए।

समन्वय की दृष्टि से देखने पर विदित होगा कि नैयायिक, वैशेषिक प्रभृति वर्ण, पदार्थ और उन दोनों के सम्बन्ध एवं वाक्यों को अनित्य मानते हैं। मीमांसकों का कहना है कि जैसे काल और आकाश नित्य होते हैं, वैसे ही वर्ण भी नित्य हैं। पूर्वमीमांसकों का यह मत उत्तरमीमांसकों को भी मान्य है। पूर्व-मीमांसक विश्व-भेद को सत्य मानते हैं, तो वेदान्ती उसे मिथ्या कहते हैं। तथापि "व्यवहारे भाट्टनयः" के अनुसार व्यवहार में वेदान्तियों को भी भट्ट का ही मत मान्य है। इसी आशय से देवताधिकरण में वर्णात्मक वेदों की व्यावहारिक नित्यता सिद्ध की गयी है। जैसे कवि लोग प्रमाणान्तरों से अर्थों को जानकर अपनी मति

के अनुसार पद और वाक्यों की योजना करते हैं, वेदों की रचना वैसी नहीं है। इसलिए वेद अपौरुषेय हैं। आकाशादि के समान वेद भी ब्रह्म के विवर्त हैं। इसीलिए "शास्त्रयोनित्वात्" इस सूत्र से परमेश्वर को वेद का कारण कहा गया है। भट्टपाद ने भी इसी बात पर ध्यान रखकर कहा है, कि "प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता" अर्थात् भले ही वेद पुरुषोच्चरित या ईश्वर से प्रादुर्भूत हों, किन्तु पुरुषों की स्वतन्त्रता का ही हमें यत्नपूर्वक वारण करना चाहिए। "स्वतन्त्रः कर्ता" इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार कर्ता वही हो सकता है, जो क्रिया में स्वातन्त्र्येण विवक्षित हो। वेद का ऐसा कर्ता उत्तरमीमांसक के मत में भी कोई नहीं है।

जैसे आधुनिक ग्रन्थों के निर्माता स्वतन्त्रता से अर्थज्ञान-पूर्वक पदवाक्य की रचना करते हैं; वैसी ही स्वतन्त्रता से अर्थावबोध-पूर्वक वैदिक पद-वाक्यों की योजना नहीं होती। किन्तु जिस तरह वर्तमान काल में छात्रगण आचार्यों के उच्चारणानुसार ही वेदों का उच्चारण करते हैं, पद-वाक्य के बदलने में वे स्वतन्त्र नहीं हैं, उसी तरह परमेश्वर भी पूर्वकल्प की वेदानुपूर्वी का अस्मरण करके दूसरे कल्प में उपदेश करते हैं। वे भी प्राचीन योजना को बदलने या बिगाड़ने में समर्थ नहीं हैं। अतः भले ही वेद पुरुषोच्चरियनो हो, वर्णों और पदों की आनुपूर्वी भी भले ही पुरुषकर्तृक उच्चारण के अधीन हो; तथापि आनुपूर्वी के हेरफेर में ईश्वर तक की स्वतन्त्रता नहीं है।

"अस्य वेदस्य सर्वज्ञः कल्पादौ परमेश्वरः ।
व्यञ्जकः केवलं विप्राः नैव कर्ता न संशयः ॥"

अतः स्पष्ट है कि परमेश्वर भी कल्पादि में नित्यसिद्ध वेद को केवल प्रकट करते हैं, बनाते नहीं।

यद्यपि उत्तर-मीमांसा के "शास्त्रयोनित्वाधिकरण" में भगवान् बादनारायण ने जगत्कारण परब्रह्म की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता को सुदृढ़ करने के लिए "शास्त्रयोनित्वात्" इस सूत्र से परमेश्वर को शास्त्र का भी कारण कहा है। इससे वेदों के भी ईश्वर रचित होने के कारण उनमें पौरुषेयता, अनित्यता आदि की प्रसक्ति होती है। किन्तु बादरायण ने ही "अत एव च नित्यत्वम्" इस सूत्र से वेदों को नित्य कहा है। अतः इन दोनों सूत्रों का समन्वय करके ही सूत्रार्थ करना चाहिए।

समन्वय की दृष्टि से देखने पर विदित होगा कि नैयायिक, वैशेषिक प्रभृति वर्ण, पदार्थ और उन दोनों के सम्बन्ध एवं वाक्यों को अनित्य मानते हैं। मीमांसकों का कहना है कि जैसे काल और आकाश नित्य होते हैं, वैसे ही वर्ण भी नित्य हैं। पूर्वमीमांसकों का यह मत उत्तरमीमांसकों को भी मान्य है। पूर्व-मीमांसक विश्व-भेद को सत्य मानते हैं, तो वेदान्ती उसे मिथ्या कहते हैं। तथापि "व्यवहारे भाट्टनयः" के अनुसार व्यवहार में वेदान्तियों को भी भट्ट का ही मत मान्य है। इसी आशय से देवताधिकरण में वर्णात्मक वेदों की व्यावहारिक नित्यता सिद्ध की गयी है। जैसे कवि लोग प्रमाणान्तरों से अर्थों को जानकर अपनी मति

के अनुसार पद और वाक्यों की योजना करते हैं, वेदों की रचना वैसी नहीं है। इसलिए वेद अपौरुषेय हैं। आकाशादि के समान वेद भी ब्रह्म के विवर्त हैं। इसीलिए "शास्त्रयोनित्वात्" इस सूत्र से परमेश्वर को वेद का कारण कहा गया है। भट्टपाद ने भी इसी बात पर ध्यान रखकर कहा है, कि "प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता" अर्थात् भले ही वेद पुरुषोच्चरित या ईश्वर से प्रादुर्भूत हों, किन्तु पुरुषों की स्वतन्त्रता का ही हमें यत्नपूर्वक वारण करना चाहिए। "स्वतन्त्रः कर्ता" इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार कर्ता वही हो सकता है, जो क्रिया में स्वातन्त्र्येण विवक्षित हो। वेद का ऐसा कर्ता उत्तरमीमांसक के मत में भी कोई नहीं है।

जैसे आधुनिक ग्रन्थों के निर्माता स्वतन्त्रता से अर्थज्ञान-पूर्वक पदवाक्य की रचना करते हैं; वैसी ही स्वतन्त्रता से अर्थावबोध-पूर्वक वैदिक पद-वाक्यों की योजना नहीं होती। किन्तु जिस तरह वर्तमान काल में छात्रगण आचार्यों के उच्चारणानुसार ही वेदों का उच्चारण करते हैं, पद-वाक्य के बदलने में वे स्वतन्त्र नहीं हैं, उसी तरह परमेश्वर भी पूर्वकल्प की वेदानुपूर्वी का अस्मरण करके दूसरे कल्प में उपदेश करते हैं। वे भी प्राचीन योजना को बदलने या बिगाड़ने में समर्थ नहीं हैं। अतः भले ही वेद पुरुषोच्चरियनो हो, वर्णों और पदों की आनुपूर्वी भी भले ही पुरुषकर्तृक उच्चारण के अधीन हो; तथापि आनुपूर्वी के हेरफेर में ईश्वर तक की स्वतन्त्रता नहीं है।

जैसे नर्तकी शिक्षक-नर्तक के गात्र-विक्षेप का ही अनुकरण करती है, वैसे ही शिष्य आचार्य के उच्चारण का अनुकरण करता है। पद-वाक्यों के आवाप-उद्वाप (रद्दोबदल) में शिष्य का अधिकार नहीं होता। इसी तरह यथाकथञ्चित् वेदों में पुरुष-सम्बन्ध होनेमात्र से उनकी पौरुषेयता नहीं होती। हाँ, यदि पुरुष की योजना में स्वतन्त्रता होती, तब अवश्य वेदों में पौरुषेयता आती।

ब्रह्मा महाकल्प में परमेश्वरप्रदत्त वेदों का स्मरण कर, वहाँ इतस्ततः प्रकीर्ण, वर्णाश्रमधर्मों का संकलनकर स्मृतिग्रन्थ का निर्माण करते हैं। उसी आधार पर मनु प्रभृति स्मृतिकार भी ग्रन्थ बनाते हैं, जैसा कि मनु ने ही कहा है--

"इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद् ग्राहयामास मारीच्यादीनहं मुनीन् ॥"

ब्रह्माने इस शास्त्र को बनाकर मुझे दिया, मैंने मुनियों को दिया। इस तरह कल्पों में इसी स्मृति-ग्रन्थ के आधार पर धर्म-ग्रन्थ बनते हैं। उसी आशय से यह भी कहा गया है—

"युगेष्वावर्तमानेषु धर्मोऽप्यावर्त्तते पुनः।
धर्मेष्वावर्तमानेषु लोकोऽप्यावर्त्तते पुनः॥"

युगों के आवर्तन में धर्म का आवर्तन है, धर्मों के आवर्तन में लोक का भी आवर्तन अवश्य होता है। इस तरह व्यास केवल वेद के विभागकर्ता हैं। ब्रह्मा को भी ईश्वर से ही वेद मिलता है और ईश्वर भी नित्यसिद्ध वेद का प्रकाशकमात्र ही है।

कुछ लोग यह शंका करते हैं कि 'वेदों के अपौरुषेय होने का अर्थ यदि पुरुष से न बनना ही हो, तब तो यह किसी भी प्रमाण से सिद्ध न हो सकेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुमान, आगम, अर्थापत्ति

आदि प्रमाणों से तो केवल भाव का ही बोध होता है। किसी पुरुष द्वारा न बनना तो अभाव है। अतः उसका बोध प्रत्यक्षादि से नहीं हो सकता। यदि अभावबोधक अनुपलब्धि से उसका बोध समझा जाय--अर्थात् वेद किसी पुरुष से नहीं रचे गये, यह बात इस तरह ज्ञात होती है कि 'वेद पुरुष से बनाये गये हैं' इस विषय में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, अर्थापत्ति कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा निश्चय होना कठिन है। संसार के सत्पुरुषों में से किसीको भी वेदरचना और उनके काल में कोई प्रमाण नहीं मिला और न मिलेगा ही, इसे कौन जान सकता है? एक प्राणी के मन की भी बात दूसरे को नहीं विदित होती, फिर सब प्राणियों में से किसीको वेदरचना में प्रमाण नहीं मिला, यह कैसे जाना जाय? यदि मीमांसक को वेदरचना में कोई प्रमाण न मिलने से ही वेदों को अपौरुषेयता सिद्ध की जाय, तब तो जैनादि शास्त्रों की रचना में भी जैनादिकों को प्रमाण न मिलने से उसके आगमों की भी अपौरुषेयता सिद्ध होगी। जो यह कहा जाता है कि जैनादिकों ने अपने आगमों को पौरुषेय ही माना है, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि उनकी बात मान ली जाय, तब तो वेदों को भी पौरुषेय स्वीकार करना चाहिए। यदि इस विषय में उनकी बात अमान्य है, तो वे भले ही अपने ग्रन्थों को पौरुषेय कहें, आपको वह बात कभी मान्य न होनी चाहिए।

"इसके अतिरिक्त कोई भी छोटा-बड़ा समूह किसी एक नवीन या प्राचीन ग्रन्थ के विषय में यदि यह कहे कि 'इसकी रचना में हमें कोई प्रमाण नहीं मिला', तो क्या इतने से ही उस ग्रन्थ की अपौरुषेयता मान ली जा सकती है? यदि नहीं, तो वेदों के विषय में भी मीमांसकों की उक्ति क्यों मान्य हो? ऐसे ही वेद

की अनादिता भी 'आदिता का अभाव' रूप है। अतः उसमें भी प्रत्यक्षादि पाँचों प्रमाणों की प्रवृत्ति न हो सकेगी। अनुपलब्धि से भी ग्रहण मानें, तो क्या सभीने वेद की आदिता में कोई प्रमाण नहीं पाया या कुछ समूह ने? यदि कहें कि सभीने, तो यह असर्वज्ञ पुरुष कैसे जान सकता है? यदि कहा जाय कि कुछ समूह ने आदिता में प्रमाण नहीं पाया, तो इसी तरह दूसरे ग्रन्थों की भी अनादिता क्यों न सिद्ध हो, इत्यादि दोष आ पड़ेंगे।

'यदि वेदों की अपौरुषेयता का अर्थ यह है कि वेद पुरुष-रचित सभी पौरुषेय वस्तुओं से अन्य है,' तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि जिसे सब पौरुषेय वस्तुओं का ज्ञान हो, उसे ही उन वस्तुओं से अन्य वेदों की अपौरुषेयता भी विदित होगी। इस तरह तो अस्मदादि अल्पज्ञों को वेदों की अपौरुषेयता अज्ञात रहेगी। यदि वेदों का अनादिकाल से होना ही अपौरुषेयत्व कहा जाय, तो वह भी ठीक नहीं; क्योंकि अनादिकालों से वेदों के होने में कोई प्रमाण नहीं है। अनादिकाल के ज्ञान का किसी इन्द्रिय से सम्बन्ध नहीं है, अतः उसमें वेदसम्बन्ध का प्रत्यक्ष होना असंभव है। प्रत्यक्ष वर्तमानमात्र का ग्रहण कर सकता है, अतीत का नहीं। अन्यथा अनागत वस्तुओं का भी इन्द्रियों से प्रत्यक्ष ज्ञान होना चाहिए। अनुमान से भी वेद का अनादिकाल-सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा कोई अनुमान है ही नहीं। यदि 'अतीत-अनागत काल वेदकार-वर्जित है, काल होने से, वर्तमान काल की तरह' इस अनुमान से अपौरुषेयता सिद्ध करना चाहें, तब तो इसी तरह बाइबिल आदिकों के विषय में भी कहा जा सकता है—'अतीत-अनागत काल बाइबिलकार-रहित है, काल होने से, वर्तमान काल की तरह।' शब्द से भी उक्त विषय की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि पौरुषेय आगम का तो

स्वतंत्र प्रामाण्य ही नहीं है। और अपौरुषेयता अभी तक विवाद-ग्रस्त ही है। अपौरुषेयता-सिद्धि से ही अपौरुषेय वचन द्वारा वेद का अनादिकालसम्बन्ध विदित होगा और अनादिकाल-सम्बन्ध के बोध से ही वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध होगी—इस तरह अन्योन्याश्रय दोष भी अनिवार्य होगा।

"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत्" इत्यादि वचनों से वेदों की पौरुषेयता ही सिद्ध होती है। इसी तरह उपमान, अर्थापत्ति से भी वेदों का अनादिकाल-सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'वेद प्रमाणान्तर से अगम्य, धर्म, ब्रह्म आदि जैसी वस्तुओं का बोध कराते हैं, जिनका ज्ञान किसी पुरुष को हो ही नहीं सकता, इसलिए वे पुरुषरचित न होने से अपौरुषेय हैं।' कारण यही बात अन्य बौद्धादि आगमों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यदि उन ग्रन्थों में कहे गये धर्म झूठे माने जायँ, तो वेद में कहे गये धर्म क्यों न झूठे होंगे? यदि अन्य ग्रन्थों में पुरुषसम्बन्ध से तदाश्रित दोषों की कल्पना की जाय, तो यही बात वेदों में भी कही जायगी। यदि वेदों में पुरुषसम्बन्धाभाव सिद्ध करना चाहें, तो फिर उसी प्रमाण से अपौरुषेयता सिद्ध हो सकती है। तब उपर्युक्त कथन से क्या लाभ? यदि उपर्युक्त वेदोक्त अर्थ किसी भी प्रमाण से पुरुष को ज्ञात नहीं हो सकते, अतएव वेद अपौरुषेय हैं, इस अर्थापत्ति से वेद में पुरुषसम्बन्धाभाव सिद्ध करें, तभी वेदों में अप्रामाण्याभाव की सिद्धि होगी। अन्यथा दूसरे आगम की तरह वेदों का भी अप्रामाण्य ही सिद्ध होगा। अप्रामाण्याभाव सिद्ध होने के उपरान्त ही अर्थापत्तिसे पुरुषसम्बन्धाभाव सिद्ध होगा, तब तो इसी तरह आगमान्तर में भी पुरुषसम्बन्धाभाव की सिद्धि प्रसक्त होगी और चक्रक दोष आ पड़ेगा।"

इन सभी शंकाओं का समाधान यह है कि अपौरुषेयत्व का उपर्युक्त कोई भी अर्थ नहीं है। किन्तु यहाँ अपौरुषेय शब्द का यही संकेतित अर्थ है कि जिस वाक्य या महावाक्य के समस्त उच्चारण अपने सजातीय अन्य उच्चारण के अनुसारी हों, वे ही अपौरुषेय हैं।

वेद का ऐसा कोई भी उच्चारण सिद्ध नहीं होता, जो अपने सजातीय पूर्वोच्चारण का अनुसारी न हो—"एकानुपूर्वीकवर्णसमुदायव्यञ्जकत्वमेवोच्चारणानामन्योन्यसाजात्यम्।"

एक आनुपूर्वीवाले वर्णों के समुदाय की व्यञ्जकता ही उच्चारणों की सजातीयता है। वेद की किसी भी उच्चारण-व्यक्ति में प्रथमता का निर्णय नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष, अनुमान या आगम कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं है, जिससे यह सिद्ध हो कि वेदका कोई भी उच्चारण स्वसजातीय पूर्वोच्चारण से निरपेक्ष है। अन्यान्य ग्रन्थों के जितने उच्चारण होते हैं, वे तीन प्रकार के होते हैं—एक ग्रन्थकार का उच्चारण, दूसरा, अन्य पुरुष के मौखिक पाठ का अनुसरण करनेवाला उच्चारण और तीसरा, पुस्तक लेख का अनुसारी उच्चारण। इनमें से पहला उच्चारण स्वतंत्र होता है। वह पूर्वोच्चारण का अनुसरण नहीं करता। क्योंकि ग्रन्थकार अपने ज्ञान और रुचि के अनुसार वाक्यों की योजना करता है; दूसरों के वाक्यों का अनुकरण नहीं करता। तभी वह उस वाक्य का रचयिता कहलाता है।

कालिदास आदि के श्लोकों को चाहे पुस्तक से या सुनकर उच्चारण करनेवाला इसीलिए उनका रचयिता नहीं कहलाता कि उसका उच्चारण पुस्तक या किसीके उच्चारण की अपेक्षा रखता है, वह निरपेक्ष नहीं है। रघुवंश-महाकाव्य के निरपेक्ष प्रथम उच्चारयिता कालिदास प्रसिद्ध हैं। महाभारत-

रामायण आदि के उच्चारयिता व्यास, वाल्मीकि आदि सजातीय उच्चारण निरपेक्ष ही उनका उच्चारण करते हैं। अतः भारत रामायण आदि की पौरुषेयता सर्वमान्य है। परन्तु वेदों का प्रथम उच्चारयिता या सजातीयोच्चारण-निरपेक्ष उच्चारयिता किसी भी अनन्यथासिद्ध प्रमाण से सिद्ध नहीं है। अतः यही उनकी अपौरुषेयता है। उत्तर-मीमांसकों के मत में भी ईश्वर पूर्वकल्प की आनुपूर्वी की अपेक्षा से ही उत्तरकल्प की आनुपूर्वी का उच्चारण करता है। अतः उनके यहाँ भी अपौरुषेयत्व सिद्ध है।

कहा जाता है कि 'यदि प्रमाणानुपलम्भसे यह सिद्ध है, तो क्या सबमेंसे किसीको भी प्रथम उच्चारयिता का प्रमाण नहीं मिलता या समूहविशेष को ? यदि किसीको भी प्रमाण नहीं मिलता, तो यह सर्वज्ञ के सिवा और दूसरे को ज्ञात नहीं हो सकता। द्वितीयपक्ष मानने से सभी ग्रन्थों में वही स्थिति खड़ी होगी। परन्तु ये सब विकल्प सर्वथा निरर्थक हैं, क्योंकि ऐसे ही विकल्प किसी भी अनुपलब्धि में उठाये जा सकते हैं। इस दृष्टि से तो शशशृङ्ग, का भी अभाव सिद्ध न होगा और प्रत्यक्षसिद्ध वस्तु का भी अपलाप हो जायगा, क्योंकि शशशृङ्ग या सप्तम रस नहीं हैं, इसमें प्रमाणानुपलम्भ ही हेतु कहा जाता है। परन्तु वहाँ भी ये विकल्प किये जा सकते हैं कि क्या सब प्राणियों को इसका प्रमाण नहीं मिला या मिलेगा या किसीको भी नहीं मिला ? सबके विषय में तो कोई क्या जान सकता है ? यदि किसीको कहें, तो हम-आपकी प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुओं में भी किसीको प्रमाणानुपलम्भ है। अतः इसका भी असत्त्व कहा जा सकता है।' अतः ये सारी उक्तियाँ व्यर्थ हैं।

वेदों के प्रथमोच्चारण में प्रमाण न होने से उनकी अपौरुषेयता में कोई भी विवाद नहीं। ईश्वर, जीव और उसके कर्मों

की अनादिता यदि सिद्ध है, तो उसी तरह ईश्वर के निःश्वास-भूत वेदों की अनादिता भी सिद्ध है। किसी भी कार्य के लिए प्रथम विचार या संकल्प अपेक्षित होता है और उसमें शब्द का अनुवेध अवश्य रहता है—'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते' कोई भी ऐसा प्रत्यक्ष (बोध) नहीं, जिसमें शब्द का अनुगम न हो। इस दृष्टि से अनादि ईश्वर को जब-जब सृष्टि रचनी होती है, तब-तब ज्ञान अपेक्षित है और उस ज्ञान में अवश्य ही शब्द का अनुवेध होगा। जिन शब्दों का ईश्वरीय ज्ञान में अनुवेध है, वही वेद हैं। इस तरह भी इनकी अनादिता सिद्ध है। इन प्रकारों से वेदों की अनादिता सिद्ध हो जाने पर "वाचा विरूपनित्यया" "अनादिनिधना नित्या" 'अत एव च नित्यत्वम्' इत्यादि श्रुति-स्मृति-सूत्रों से भी वेदों की नित्यता, अनादिता सिद्ध होती है। उत्पत्ति-प्रतिपादक वचनों का केवल आविर्भाव ही अर्थ है। यह सब विषय ऊपर कहा जा चुका है।

उपर्युक्त बातों का सार यह है कि वेद की पौरुषेयता का साधक अनुमान पीछे खण्डित हो चुका है। 'प्रजापतिर्वेदानसृजत्' इत्यादि श्रुतिवचनों का अर्थ भी पीछे स्पष्ट हो चुका है। पूर्वमीमांसा के अनुसार वेद अनादि हैं, ईश्वररचित नहीं हैं। वेदान्तदर्शन के अनुसार आकाश आदि के समान वेद भी ब्रह्म के विवर्त हैं। सृष्टिकाल से लेकर प्रलयपर्यन्त रहनेवाले हैं। वेद की अपौरुषेयता दोनों ही मतों में मान्य है। प्रथम मत में ईश्वर आदि सृष्टि के समय वेदों का प्रचार करते हैं, ईश्वर वेदकार नहीं हैं। द्वितीय मत में ईश्वर आदि सृष्टि के समय वेद के आविर्भावक अवश्य हैं, परन्तु स्वतन्त्र नहीं हैं। अर्थात् वाक्यार्थज्ञानपूर्वक वेद-वाक्यों के प्रथम उच्चारयिता नहीं हैं। अतएव वे आनुपूर्वी बदलने में स्वतन्त्र नहीं हैं, किन्तु

पूर्वकल्प की आनुपूर्वी के समान ही उत्तर कल्प में भी आनुपूर्वी का उच्चारण करते हैं। "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इत्यादि श्रुति के अनुसार जैसे ईश्वर इस कल्प में पूर्वकल्प के समान ही सूर्य, चन्द्र, आदि का निर्माण करते हैं, वैसे ही वेदों एवं उनमें कथित धर्म आदि का भी आविर्भाव करते हैं। यह नहीं कि पहले सुरापान, ब्रह्म-हत्या आदि पाप न रहा हो। अन्य कल्प में एक ही आनुपूर्वी अन्य ढंग की रही हो और इस कल्प में अन्य ढङ्ग की हो गयी हो। बीज-अंकुर, स्वाप-प्रबोध एवं जन्म-मरण के तुल्य सृष्टि-संहार की परम्परा अनादि है। इसी तरह वेदोच्चारण की परम्परा भी अनादि ही है। ईश्वर के सभी वेदोच्चारण उन्हींके पूर्व-पूर्वकल्पीय वेदोच्चारणों के तुल्य ही होते हैं। यह भेद अवश्य है कि जीव का वेदोच्चारण गुरु आदि अन्य के उच्चारण का अनुसारी होता है, परन्तु ईश्वर का वेदोच्चारण ईश्वर के ही पूर्व वेदोच्चारण के तुल्य होता है। वेदोच्चारण के सम्बन्ध में जीव एवं ईश्वर दोनों ही परतन्त्र हैं, उसमें कोई विशेषता नहीं है। सभीका वेदोच्चारण पूर्व-पूर्व वेदोच्चारण के अनुरूप ही होता है। जिस प्रकार व्यास आदि महाभारत आदि ग्रंथों के निरपेक्ष उच्चारयिता हैं, उस प्रकार वेद का निरपेक्ष उच्चारण-कर्ता कोई भी नहीं है।

इस प्रकार पूर्वमीमांसक एवं उत्तर-मीमांसक—दोनों ही के मतानुसार पूर्वोच्चारण-सापेक्ष उच्चारण ही अपौरुषेयता है, जो अभावरूप नहीं, किन्तु भावरूप है। अतः अभावपक्ष को लेकर वादियों द्वारा जो भी दूषण दिये गये हैं, वे सब निराधार हैं। वैदिक-परम्परा में 'अग्निमूर्द्धा' पाठ है, तो वैसा ही उच्चारण सबको करना पड़ेगा। "मूर्द्धा अग्निः" ऐसा उच्चारण अशुद्ध

समझा जायगा है। परन्तु अन्य ग्रंथों में शब्द-भेद या पौर्वापर्य-भेद दूसरा नहीं माना जाता। अतएव अन्य ग्रंथों में उन-उन कर्ताओं का उच्चारण स्वसजातीयोच्चारण-सापेक्ष नहीं होता, अतः उनके उच्चारणों में प्राथम्य होता है। इसके विपरीत वेद के किसी भी उच्चारण में सजातीय उच्चारण की निरपेक्षता नहीं है। सारांश यह कि किसी भी वेदोच्चारण में प्राथम्य नहीं है। जिस प्रकार ईश्वर, और सृष्टि-प्रलय हैं, उसी प्रकार वेदोच्चारण परम्परा भी अनादि है। जिस प्रकार सृष्टि के किसी भी अंश में सर्वथा प्राथम्य नहीं है, वैसे किसी वेदोच्चारण में भी प्राथम्य नहीं है।

मीमांसक यह नहीं कहते कि 'वेद को किसी पुरुष ने नहीं रचा, इसलिए वे अपौरुषेय हैं और बौद्धादिग्रंथ पुरुषों की कृतियाँ हैं, इसलिए वे पौरुषेय हैं।' इसके विपरीत मीमांसको का कहना यह है कि अन्यान्य ग्रन्थों के कर्ताओं के स्मरण की धारा गुरु-परम्परा तथा अन्यान्य मनुष्यों में आजतक दृढ़रूप से चली आ रही है, अतः उन-उन कर्ताओं का उच्चारण प्रथम उच्चारण है, अतः उच्चारणधारा टूट जाने से अनादि नहीं सिद्ध होती है। इसीसे वे ग्रंथ पौरुषेय सिद्धि होते हैं। किन्तु वेदों के कर्ता की स्मृतिधारा नहीं है। अतएव वेद के विषय में गुरु-शिष्य के उच्चारण की परम्परा का मूलोच्छेद कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। अतः वह अनादि है और इसीसे वेद अपौरुषेय हैं।

वेद-भिन्न अन्यान्य ग्रन्थों की कर्तृ-स्मृतिधारा यह सूचित करती है कि अमुक ग्रन्थ या उपदेश अमुक का है। ग्रन्थ-कर्ता का नाम-निर्देश ग्रन्थ-कर्ताओं की स्मरण-परम्परा का सूचक है। "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्" इत्यादि श्रुतियों से वेदों की पौरुषेयता सिद्ध नहीं होती। वेदशब्दों से ही विश्व की सृष्टि होती है। अतः पदार्थसृष्टि के पहले भी वैदिक

शब्दों का होना सुतरां सिद्ध होता है। अतीत, अनागत आदि भावों के बोधक पद या लकार आदि सभी आपेक्षिक नहीं हैं। इस विषय का अन्यत्र विवेचन किया गया है। "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम्" इत्यादि श्रुति से पीछे विशेष रूप से वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध की जा चुकी है।

कहा जाता है कि 'मीमांसक विधि-वाक्यों से भिन्न वेद-भाग का प्रामाण्य नहीं मानते, अतः अर्थवादवाक्यों द्वारा वेद की नित्यता, अपौरुषेयता नहीं सिद्ध हो सकती।' परन्तु यह असंगत है। अर्थवाद-प्रामाण्य प्रकरण में वेद के सभी अंशों का प्रामाण्य कहा गया है। वेद में मात्रा-मात्र की भी अनर्थकता अमान्य है। "वाचा विरूपनित्यता" इस मंत्रवर्णसे स्पष्ट ही वेद की नित्यता और अपौरुषेयता कही गयी है, परन्तु अन्य किसी ग्रन्थमें उसकी नित्यता या अपौरुषेयता नहीं कही गयी है। इस तरह वेदों की अपौरुषेयता स्पष्ट है। दूसरे कोई ग्रन्थ वेद-तुल्य नहीं हैं।

कभी-कभी जो यह कहा जाता है कि 'अन्य पौरुषेय ग्रन्थों में भी ऐसे-ऐसे विषय कहे गये हैं, जो कि शब्द से अन्य किसी स्वतंत्र प्रमाण से ज्ञात नहीं हो सकते। फिर वेद ही ऐसे अर्थ का बोधक होने के कारण क्यों अपौरुषेय कहा जाय?' लेकिन यह तर्क अतिप्रसक्त है। प्रमाणान्तर से अज्ञात अर्थ का प्रतिपादक होने से यदि कोई ग्रन्थ अपौरुषेय हो जाय, तो सभी पौरुषेय ग्रन्थ अपौरुषेय हो जायँगे। अतः यह कथन संगत नहीं है। कारण यह है कि इस प्रकार के पौरुषेय ग्रन्थ मनुस्मृति आदि वैदिक ग्रन्थ तो वेद-मूलक ही हैं। अतः वे प्रमाणान्तरागम्य वस्तुके स्वतंत्र बोधक नहीं हैं। धम्मपद, त्रिपिटक, बाइबिल, कुरान आदि ग्रन्थों का तो प्रमाणान्तरागोचर अतीन्द्रिय अर्थ का बोध कराना असंभव ही है, क्योंकि उनके कर्ताओं के अतीन्द्रियदर्शी होने में कोई प्रमाण

नहीं है। इसलिए उनका अदृष्ट एवं अपूर्व प्रमाणान्तरागम्य पदार्थ के संबंध में कुछ कहना संगत नहीं है। जैसे हम लोगों को अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता, वैसे ही बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि को भी अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि 'इन लोगों को तप आदि विशेष धर्मानुष्ठान से सर्वज्ञता प्राप्त हुई है, अतः हम लोगों की अपेक्षा उनकी देह, उनकी बुद्धि विशिष्ट है और वे अतीन्द्रिय अर्थ का साक्षात्कार करने में क्षम हैं।' पर यह तर्क भी निस्सार ही है। बात यह है कि उन लोगों ने यह कैसे जाना कि सर्वज्ञता या विशिष्ट बुद्धि का मूल तप है? सर्वज्ञता तो तप करने के बाद पैदा हुई, अतः वह बाद की चीज हुई। सर्वज्ञता के पैदा होने से पहले उन्हें यह मालूम कैसे हुआ कि तप से सर्वज्ञता पैदा होती है? उत्तर में यह कहना कि वेदादि शास्त्रों से यह सब ज्ञात हुआ, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि यदि उनकी सर्वज्ञता से वेदादि विरुद्ध का बोध हो, तब तो उपजीव्य-विरोध ध्रुव होगा। अन्य कोई सर्वज्ञता का साधन है ही नहीं।

यदि यह कहा जाय कि ईश्वर ने ही उन्हें सर्वज्ञता दी, तो प्रश्न होगा कि ईश्वर ने उन्हें ही सर्वज्ञता क्यों दी? यदि ऐसा किया तो क्या उनमें वैषम्य, नैर्घृण्य आदि दोष नहीं हैं? यदि इस सर्वज्ञता-दान के मूल में 'कर्म' मानें तो प्रश्न खड़ा होता है कि वे कर्म कौन से हैं? उनका किससे ज्ञान होता है? बुद्ध, ईसा एवं मुहम्मद आदि के ज्ञान तो डेढ़ दो हजार वर्षों के हैं। उनके पहले कौन कर्म थे और उनका ज्ञान किन साधनों से होता था? फलतः कहना होगा कि अनादि अपौरुषेय वेदों से ही धर्मा-धर्मरूपी कर्मों का बोध होता है। वेद-विरुद्ध कोई भी पौरुषेय वचन अतीन्द्रिय अर्थ में प्रमाण नहीं होता।

आजकल कुछ लोग अपने ग्रन्थों को भी वेद-तुल्य अपौरुषेय कहने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु उन-उन ग्रन्थों के कर्ता प्रसिद्ध हैं, उनका निर्माणकाल प्रसिद्ध है, उनके जन्म से पूर्व उनकी परम्परा का विच्छेद निश्चित है। फिर तो उन ग्रन्थों की अपौरुषेयता का कथन केवल वैदिकों की युक्तियों का अनुकरण या अंधानुकरण-मात्र है।

कोई यह भी कहते हैं कि 'कठ आदि की तरह बुद्ध, ईसा आदि ठीक उसी प्रकार संप्रदाय के प्रवर्त्तकमात्र हैं, जिस प्रकार वैदिक मंत्रों के ऋषि मंत्र-द्रष्टा होते हैं, मन्त्रनिर्माता नहीं। जैसे ईश्वर ने ब्रह्मा के हृदय में वेद प्रकट किया, वैसे ही ईश्वर ने बुद्ध, ईसा आदि के हृदयों में तत्तद्ग्रन्थों को प्रकट किया है।' परन्तु वस्तुतः ये सब बातें की मौलिक नहीं हैं, किंतु वैदिक युक्तियों का अपहरणमात्र है। बुद्ध तो ईश्वर ही नहीं मानते थे, फिर उन्हें ईश्वर द्वारा उपदेश कैसे मिलता? बौद्ध-मत में सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं। फिर नित्य वेद के समान उनके ग्रन्थों की नित्यता कैसे हो सकती है? बौद्ध प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः न मानकर परतः मानते हैं। फिर विना वक्तृ-गुण के अपौरुषेय होने से किसी ग्रन्थ का प्रामाण्य भी कैसे हो सकता है? प्रसिद्ध है कि बुद्ध का उपदेश बुद्धके शब्दों के रूप में आज अप्राप्त ही है। उनके उपदेशों के सार का महत्त्व है, शब्दों का महत्त्व नहीं। यही कारण था कि उन्होंने अपनी-अपनी भाषाओं में अपने उपदेश के प्रचार की छूट दे रखी थी। इसीलिए पाली, तिब्बती, चीनी आदि भाषाओं में

उनके अधिकांश उपदेश मिलते हैं। यही स्थिति बाइबिल, कुरान आदि की भी है। उन ग्रन्थों के कर्ता और काल का दृढ़ निर्णय है।

इसी प्रकार अनुमान, शब्द कुछ भी न माननेवाले केवल प्रत्यक्ष-वादी चार्वाक के भी आक्षेप निराधार है। यदि अनुमान और शब्द का प्रामाण्य न माना जाय, तो "प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अनुमान आदि नहीं" चार्वाक का यह वचन-प्रयोग भी निरर्थक ही होगा। कारण जब शब्दमात्र अप्रमाण है, तो यह वचन भी अप्रमाण है। इसके अतिरिक्त वह अज्ञानी, संशयालु या विप्रति-पन्न के प्रति उक्त वचन का प्रयोग करता है या सब किसीके प्रति ? यदि सबके प्रति, तब तो अजिज्ञासित अर्थका प्रतिपादन करने के कारण उसका कथन उन्मत्तालाप के सिवा कुछ भी नहीं है। यदि संशयालु आदि के प्रति, तो यह बतलाना चाहिए कि उसे दूसरे के संशय, अज्ञान एवं विप्रतिपत्ति का ज्ञान कैसे हुआ ? यदि कहें कि 'उसके कहने से', तो शब्दप्रमाण की मान्यता हो ही गयी। यदि आवृत्ति और वचन-भङ्गी से, तब भी अनुमान प्रमाण मानना पड़ा। कोई भी प्राणी किस गोत्र का, किसका पुत्र है, इसका ज्ञान दाय-भाग आदि लौकिक व्यवहार के लिए अपेक्षित है। यह ज्ञान माता-पिता आदि के वचनों से ही होता है। मनुष्य की कौन कहे, पशु और कुत्तों की भी अनुमान और शब्द से प्रवृत्ति होती है। पुचकारने, कोसने एवं अनुकूल तथा प्रतिकूल शब्दों के प्रयोग से उनकी भी प्रवृत्ति एवं निवृत्ति होती है। अतः जहाँ दूषण की संभावना है, उन पौरुषेय शब्दों का भी जब प्रामाण्य है, तब

अपौरुषेय वैदिक शब्दों के प्रामाण्य में संदेह ही नहीं हो सकता।

अतएव चार्वाकों का यह कहना सर्वथा प्रलाप है कि 'यदि यहाँ का दिया हुआ हव्य-कव्य देशान्तरस्थ देवों और पितरों को मिलता है, ब्राह्मण-भोजन से उनकी तृप्ति होती है, तो विदेशी कुटुम्बी को भी मिल जाना चाहिए और यहींके ब्राह्मण के भोजन से उसकी भी तृप्ति हो जानी चाहिए। यह यदि नहीं होता तो, यह सारा वैदिक कथन भी झूठा है।' वेदों ने जिस प्रकार जो साध्य-साधनभाव बना रखा है, वे उसी अंश में जिम्मेवार हैं। दृष्टान्त मात्र से वस्तु के स्वभाव मिटाये नहीं जा सकते। यह नहीं कहा जा सकता कि यदि जल गरम नहीं, तो अग्नि क्यों गर्म है? इसके सिवा जो काम लौकिक उपायों से ही सम्पन्न हो सकते हैं, उनके लिए वेदों में क्यों उपदेश होता? वेद तो लोक से, प्रमाणान्तर से असिद्ध बातको ही बतलाते हैं। अज्ञात अर्थ का ज्ञापक होने के कारण ही वेद का प्रामाण्य है। इसीलिए चार्वाकों का यह कहना भी अप्रमाण है कि भाण्ड, धूर्त, निशाचरों ने वेदों को बनाया है। 'लाखों वर्ष से प्रचलित 'वेद को किन धूर्तों और किन निशाचरों ने क्यों बनाया?' यह पूछने पर प्रत्यक्षमात्रवादी चार्वाक को मूक ही हो जाना पड़ता है।

मंत्रद्रष्टाओं के मंत्र-दर्शन अन्य-परम्परा में प्रचलित होने से संवादी होने के कारण विश्वसनीय हैं। जिनका अविच्छिन्न पारम्पर्य नहीं है, उनके ग्रन्थ-दर्शन को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। ब्रह्मा तो सृष्टि के आदि में हुए थे। सृष्टि के प्राणियों के कल्या-

णार्थ उनके हृदय में वेद का प्रकाश उचित था। परन्तु बुद्ध, ईसा आदि तो सृष्टि के करोड़ों वर्ष बाद अभी-अभी दो, तीन हजार वर्ष के भीतर के हैं। यदि इनके द्वारा विश्वकल्याण के लिए ईश्वर को धर्मोपदेश कराना होता, तो इन्हें वे सृष्टि के आदि में ही उत्पन्न करते। क्या ईश्वर को तीन हजार वर्ष पहले के प्राणियों से कोई द्वेष था, जो उन लोगों के कल्याण का मार्ग नहीं बतलाया ? फिर यदि ब्रह्मा को ईश्वर द्वारा दिया गया उपदेश मान्य है ही, तब फिर ईश्वर बुद्ध आदि को उससे भिन्न और विरोधी उपदेश क्यों देता ? यदि वह मान्य नहीं है, तो वह उदाहरण भी कैसे हो सकता है ? आधुनिक इतिहास की दृष्टि से भी वेद बुद्ध, ईसा आदि से हजारों वर्ष पुराने हैं। उनके आधार पर यह सिद्ध है कि ईश्वर ने ब्रह्मा को वेद का प्रदान किया। ऐसी स्थिति में दूसरा जो भी कोई कहता है, वह उसीका अनुकरण करता है। जो एक ढंग की बात विभिन्न ढङ्गों के अनेक ग्रन्थों में मिलती है, उनमें सर्वप्राचीन ग्रन्थ ही उस बात का मूल माना जाता है। अन्य लोगों ने उसी ग्रन्थ के आधार पर ही कहा है, यही मानना पड़ता है। जैसे न्यूटन आदि ही गुरुत्वाकर्षण-सिद्धान्त के मूल आविर्भावक समझे जाते हैं। वह बात भले ही हजारों वैज्ञानिक विभिन्न ढंग से कहें, परन्तु वे उस सिद्धान्त के आविष्कारक नहीं माने जाते। इसके अतिरिक्त बुद्ध, ईसा आदि के प्रामाणिक मूलग्रन्थों में कहीं ऐसा उल्लेख भी नहीं है कि अमुक वाक्यसमूह ईश्वर ने उनको दिया है। भले ही यह उल्लेख हो कि यह सिद्धान्त ईश्वरसंगत

है, इससे ईश्वर-प्रसन्न होते हैं, परन्तु इन्हीं वाक्यों के रूप में उन्हें ईश्वर ने दिया है, यह कहीं नहीं मिलेगा। अतः यह सारा प्रयास अपने ग्रन्थों को वेद-तुल्य बतलाने के लिए ही है। परन्तु यदि वेद हैही, तो वेद के समान एवं वेद-विरुद्ध अन्य उपदेश-ग्रन्थों की निरर्थकता सुतरां सिद्ध हो जाती है। आश्चर्य की बात कि जिस भाषा में वे ग्रंथ हैं, वे भाषाएँ ही अनादि नहीं हैं। अधिक से अधिक दो-तीन हजार वर्ष पुरानी हैं। फिर उन भाषाओं के ग्रन्थ अनादि कैसे हो सकते हैं?

कन्या के पिता ने किसी विवाहार्थी वर से पूछा—'तुम्हारा कौन गोत्र है?' परन्तु वर को कुछ मालूम न था। अतएव उसने कह दिया—'जो तुम्हारा गोत्र है, वही मेरा भी है।' बेचारा यह भी नहीं जानता था कि समान गोत्र में विवाह नहीं होता। अतः इस उत्तर से भी उसके मनोरथ की पूर्ति नहीं हो सकती। इसी तरह विभिन्न प्रतिवादी जब अपने ग्रंथों का प्रामाण्य नहीं सिद्ध कर पाते हैं और न वेदों की अपौरुषेयता और प्रामाण्य का खण्डन ही कर पाते हैं, तब कहने लगते हैं कि 'जैसे वेद अपौरुषेय हैं, वैसे ही हमारे ग्रन्थ भी अपौरुषेय हैं। जैसे वेदों का प्रदान ब्रह्मा को ईश्वर ने किया है, वैसे ही अमुक ग्रंथ का प्रदान हमारे अमुक पैगम्बर को ईश्वर ने किया है।' परन्तु उन्हें नहीं मालूम कि पूर्वोक्त युक्तियों के अनुसार इस उत्तर से भी उनका मनोरथ पूरा नहीं हो सकता। अतः जैसे नेत्र के द्वारा ही रूप का बोध होता है, वैसे ही अपौरुषेय वेद के द्वारा ही अती-

न्द्रिय अर्थ का बोध होता है, किसी पुरुष या पौरुषेय ग्रन्थ से नहीं।

अप्रामाण्य के दो ही कारण हो सकते हैं—एक कारण दोष, और दूसरा अर्थबाध। (प्रमाणसामान्यात्) शब्द के अप्रामाण्य के भी ये ही दो कारण हैं या हो सकते हैं। परन्तु वेद नित्य एवं अपौरुषेय हैं। अतः निराश्रय होने से उनमें कारण-दोष भ्रम, प्रमाद आदि की शङ्का को अवकाश ही नहीं है। अर्थ-बाधरूप अप्रामाण्य-कारण भी वेद में सम्भव नहीं। कारण "स्वर्गकामो यजेत" (स्वर्ग की कामना से यज्ञ करे) इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रमाणान्तर से अज्ञात स्वर्ग एवं उसका याग के साथ साध्य-साधनभाव बोधित होता है। जब याग, स्वर्ग आदि वेदातिरिक्त प्रमाणों से ज्ञात नहीं होता, तो उनका अभाव भी वेदातिरिक्त प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से खंडित कैसे हो सकेगा? अतः अर्थबाध भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस प्रमाण से भाव विदित होता है, उसीसे इसका अभाव भी खंडित हो सकता है—यही अभाव बोध अर्थबाध है।

फिर भी कहा जाता है कि 'जलवृष्टि, पशु-प्राप्ति, शत्रु-वध आदि दृष्टफलों के लिए कारीरी, चित्रा, श्येन आदि यागों का भी वेदों में विधान है। "कारीर्या यजेत वृष्टिकामः", चित्रया यजेत पशुकामः "शत्रुमरणकामः श्येनेनाभिचरन् यजेत।" परन्तु कईबार उक्त यज्ञों के करने पर भी वृष्टि आदि फल नहीं होते। इस तरह अर्थ-बाध की आशङ्का हो सकती है। इसी तरह 'उदिते जुहोति', 'अनुदिते

जुहोति', समयाध्युषिते जुहोति' अर्थात् सूर्यमण्डल की रेखा उदित होने पर होम करे, अनुदित अर्थात् रात्रि के अन्तिम सोलहवें भाग में कुछ तारों के रहते ही होम करे, समयाध्युषित अर्थात् तारों के लुप्त होने और सूर्यमण्डलके निकलनेसे पूर्व होम करे—ये तीन प्रकार के विधान हैं और तीनों ही पक्षोंकी निन्दा भी है। 'श्यावोऽस्याहुति-मभ्यवहरति य उदिते जुहोति' शवलोऽस्याहुतिमश्यवहरति योऽनुदिते जुहोति" श्यावशवलावस्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति" अर्थात् जो होम उदित में करता है, उसकी आहुति को श्याव; जो अनुदित में होम करता है, उसकी आहुति को शव-ल और जो समयाध्युषित में होम करता है, उसकी आहुति को श्यावशवल (यमराज के श्वान) भक्षण कर जाते हैं। यहाँ अग्निहोत्र का विधान भी है और निन्दा भी है। इन वाक्यों का परस्पर विरोध होने से सभीका अर्थवाधरूप अप्रामाण्य हो जायगा। जैसे वेणु-संघर्ष से उत्पन्न अग्नि वेणु का दहन कर देता है, वैसे ही परस्पर विरोध से उक्त वाक्यों का अप्रामाण्य हो जायगा। "उदिते जुहोति" आदि वाक्यों से होम में इष्ट की साधनता बोधित होती है।" "श्यावोऽस्य" इत्यादि निन्दावाक्यों से उक्त होमों में अनिष्टसाधनता अनुमित हो सकती है। इसी प्रकार 'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' तीन बार पहली एवं तीन बार अन्तिम सामिधेनी ऋचा का पाठ करना चाहिए। यहाँ पर पुनरुक्तता एवं व्यर्थता दोष भी वेदों में आता है। इससे उन्मत्त-वाक्यवत् वेद का अप्रामाण्य होगा। उपर्युक्त वाक्यों का अप्रामाण्य

होने से तत्सामान्यात् 'स्वर्गकामो' यजेत इत्यादि अदृष्टार्थक वाक्यों का भी अप्रामाण्य कहा जा सकेगा।"

यही बात न्यायदर्शन में गौतम ने कही है—"तदप्रामाण्य-मनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः।" अर्थात् अदृष्टार्थबोधक वेदों का अप्रामाण्य है; क्योंकि उनमें अनृत, व्याघात, पुनरुक्त आदि दोष हैं। पुनश्च उसका समाधान भी उक्त गौतम महर्षि ने ही—"न कर्मकर्तृवैगुण्यात्, अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्, अनुवादोपपत्तेश्च" इन सूत्रों से किया है। अर्थात् वेदों का अप्रा-माण्य नहीं कहा जा सकता। जब मन्त्र एवं आयुर्वेद के तुल्य वेदों का प्रामाण्य सिद्ध है, तो पूर्वोक्त कारणों से वेदों का अप्रा-माण्य नहीं कहा जा सकता। कारीरी आदि यागों के करने पर भी कर्म, कर्ता एवं साधनों में वैगुण्य (दोष) होने से फल का अनुत्पन्न होना बन सकता है। यथाविधि कर्मों को न करना कर्म-वैगुण्य है। मूर्खता आदि कर्ता आदि का वैगुण्य है। हवि आदि का वैगुण्य साधनवैगुण्य है। वायुयान आदि यन्त्रों या घटादि के निर्माण के जैसे कर्ता, कर्म साधनादि कहे गये हैं, वैसे न होने पर यन्त्र आदि नहीं बनते। एतावता यह नहीं कहा जा सकता कि 'योग्य कर्तृ-कर्म आदि होने पर भी वायुयान आदि नहीं बनेंगे। किसी सुप्त या मूर्च्छित कुम्भकार के घटनिर्माता न होने से यह नहीं कहा जा सकता कि कुम्भकार घटनिर्माता नहीं होता। इसी तरह कर्तृ-कर्मवैगुण्ययुक्त कारीरी आदि से वृष्टि आदि फल न होने पर भी वैगुण्यरहित कर्ता आदि से वृष्टि आदि फल होते ही हैं।

इसी तरह दूसरी बात का समाधान यह है कि निन्दा-वाक्यों का तात्पर्य होम की निन्दा या अनिष्ट-साधनता-बोधन में नहीं है, किन्तु उसका तात्पर्य यही है कि जिसने आधान के सङ्कल्प में उदित या अनुदित जो भी पक्ष ले लिया हो, उसी-का पालन करना चाहिए। अर्थात् सङ्कल्पित या स्वीकृत पक्ष में निष्ठा स्थिर करने के लिए ही इतर पक्ष की निन्दा है। "नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, अपितु विधेयं स्तोतुम्"—अर्थात् निन्दा का तात्पर्य निन्द्य की निन्दा में नहीं, किन्तु विधेय की स्तुति में ही होता है। अतएव अनिष्टसाधनता का बोधन कराना या निषेध करना आदि निन्दा का अभिप्राय न होकर विधेय की स्तुति ही निन्दा का लक्ष्य होता है। जिसने अग्न्याधानकाल में 'उदिते हवनीयाधानं करिष्ये' अर्थात् उदित में होम के लिए मैं अग्न्याधान करता हूँ, इस प्रकार का सङ्कल्प कर लिया, उसे उदित में ही होम करना चाहिए। यदि कदा-चित् उसने अपने सङ्कल्प के विपरीत कभी अनुदित में होम किया, तो उसकी आहुति को शबल (यम-श्वान) भक्षण करता है, क्योंकि उसने प्रतिज्ञात काल-नियम का उलङ्घन करने का अपराध किया है। इसी तरह अनुदित आदि सङ्कल्प में भी समझना चाहिए।

इसी प्रकार पुनरुक्तिदूषण भी अकिञ्चित्कर ही है, जहाँ निष्प्रयोजन पुनरुक्ति होती है, वही वह दूषक होती है। सप्रयोजन पुनरुक्ति तो भूषण ही होती है। यहाँ प्रथमा और अन्तिमा ऋचा को तीन बार पढ़कर, ११ सामिधेनी ऋचाओं को १५ बनाना ही अभीष्ट है, क्योंकि यही वेद में कहा गया है—"इममहं भ्रातृव्यं पञ्चदशावरेण वाग्वज्रेण च बाधे योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः।" अर्थात् 'मैं अपने शत्रु को सामिधेनी नामक

१५ ऋचारूपी वाग्वज्र से मारता हूँ'। यहाँ सामिधेनी को १५ कहा गया है, पर सामिधेनी हैं ११ ऋचाएँ ही। अतः प्रथम और अन्तिम का तीन-तीन बार उच्चारणकर ११ सामिधेनियों में ही पञ्चदश सङ्ख्या बनाने के लिए यहाँ की पुनरुक्ति सार्थक है।

नैयायिकों के मतानुसार भगवान् वेदकार ईश्वर हैं। वे सर्वज्ञ हैं। उन्हें त्याज्य, ग्राह्य आदि समस्त पदार्थों का पूर्ण रूप में प्रत्यक्ष है। भूतानुकम्पा, यथार्थ ज्ञान कराने की इच्छा उनमें स्वाभाविक है। करणापाटव भी उनमें अत्यन्त अशङ्कनीय है। अतः वे अनाप्त-पुरुषों से सर्वथा विलक्षण और परम आप्त हैं। फिर उनसे विरचित वेदों का प्रामाण्य स्पष्ट है। अभिप्राय यह कि संसार में अनन्त सुख-दुःख-विशेषवाले प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी यह विचित्रता स्वाभाविक नहीं कही जा सकती। साथ ही दृष्ट कारणमात्र से भी विचित्रता का समाधान नहीं हो पाता। एक सम्राट् के चार पुत्र होते हैं। समान उपचार और लालन-पालन तथा शिक्षण होने पर भी कोई हृष्ट-पुष्ट, प्रसन्न एवं दिव्यप्रतिभा-सम्पन्न होता है, तो कोई अनेक रोग-दोष-परिप्लुत होता है। इसके अतिरिक्त कोई पुरुषार्थ योग्य होता है, तो कोई इसके अयोग्य होता है। कोई अन्ध-बधिर, उन्मत्त तथा श्वान एवं शूकर बनता है, तो कोई इन्द्रिय और प्रतिभा से सम्पन्न होता है। इसलिए किसी अदृष्ट हेतु से ही विश्व-वैचित्र्य की व्यवस्था माननी पड़ेगी।

वह अदृष्ट ही अपूर्व या धर्माधर्म कहा जाता है। वह यद्यपि सबको को प्रत्यक्ष नहीं, तथापि किसी पुरुषविशेष को अवश्य ही प्रत्यक्ष है। शरीर और भुवनादि कार्य में ही उनके

कर्ताकी निर्माण-सामर्थ्य और समस्त वस्तुतत्त्वज्ञता निहित हो जाती है। वह क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय से असंस्पृष्ट एवं परम कारुणिक है। वे ही भगवान् जब देखते हैं कि प्राणी हित और अहित की प्राप्ति और परिहार के उपाय से अनभिज्ञ होकर अनेकविध दुःख-दावाग्नि से दन्दह्यमान हो रहे हैं, तब वे भी सन्तप्त हो उठते हैं। ऐसी स्थिति में हित एवं अहित की प्राप्ति एवं परिहार को जानकर भी उपदेश न करना या अन्यथा उपदेश करना उनके लिए असम्भव है। अतः परम कारुणिक भगवान् प्रपञ्च रचकर प्रजाओं के लिए हित एवं अहित की प्राप्ति तथा परिहार के लिए उपाय बतलाते हैं। पितृकल्प भगवान् के उपदेशों का चारों वर्णों एवं चारों आश्रमों को आदर और धारण भी करना चाहिए। जो वर्णाश्रमाचार का व्यवस्थापक महाजन परिगृहीत आगम है, वही परमेश्वर द्वारा निर्मित है। आप्तोक्त होने से वह मन्त्रायुर्वेद के समान प्रमाण है। कौन है वह आप्तोक्त आगम? क्या शाक्य, भिक्षुक, दिगम्बर का संसार-मोचक आगम अथवा वेद? शाक्य आदि आगमों के बुद्ध, ऋषभ आदि प्रणेता हैं, यह स्फुटतर ही स्मरण है, ईश्वर उनका कर्ता नहीं। बुद्ध, ऋषभ आदि तनु, भुवन आदि के कर्ता नहीं हैं, जिससे कि 'वे सर्वज्ञ हैं' ऐसा निश्चय किया जाय। सर्वज्ञता के उपायानुष्ठान से उनकी सर्वज्ञता की सम्भावना की जा सकती है। यह बात उन भिन्न-भिन्न मतानुयायियों को सम्मत है। सम्भावना-मात्र से बुद्धादि-प्रणीत आगमों में बुद्धिमानों को विश्वास नहीं हो सकता। दूसरे इन आगमों में वर्णाश्रमाचार की व्यवस्था भी परिलक्षित नहीं होती। निषेक से लेकर श्मशान तक की समस्त क्रियाओं का भी इनमें विधान नहीं है। बौद्धादि-आगमों को प्रमाण माननेवाले भी श्रुति, स्मृति, इतिहास एवं पुराण-निरपेक्ष

आगममात्र में प्रवृत्त नहीं होते, प्रत्युत मायिक व्यवहार करते हुए भी श्रुत्यादि में कथित वर्णाश्रम के आचारों को किसी न किसी रूप में मानते ही हैं। अतः जगन्निर्माता ईश्वर ही वेदों का कर्ता है।

उक्त स्थापना में यदि स्मृति आदि प्रमाण न भी हों, तो भी वेद ही परमेश्वर-निर्मित ठहरते हैं। 'स्वर्गकामश्चैत्यं वन्देत' इत्यादि वाक्य की तरह 'वेद अन्यकर्तृक हैं' इसमें कोई प्रमाण नहीं। वेद को छोड़कर दूसरा कोई भी आगम ऐसा नहीं है, जो लोक-यात्रा को चलाता हुआ वशिष्ठ, मन्वादि महाजनों से परिगृहीत ईश्वर-निर्मित रूप से स्मर्यमाण हो। ईश्वर सर्वज्ञ है, वह बिना उपदेश किये नहीं रह सकता। अतः सकल लोकयात्रा का संचालन करनेवाले, हिताहितप्राप्ति-परिहार का उपाय बतलानेवाले वेद ही ईश्वर-प्रणीत हैं—ऐसा निश्चय होता है। इसीलिए त्रैवर्णिक लोग आजतक बड़े प्रयत्न से वेदों का ग्रहण और धारण करते हैं। उसके अर्थ-पालन के लिए महर्षि-परम्पराओं ने अङ्ग, उपाङ्ग, इतिहास, पुराण तथा धर्मशास्त्रों का निर्माण किया है। बुद्धादि-वाक्यों से न तो लोकयात्रा चल सकती है और न परलोक-यात्रा ही। लौकिकों का उनके विषय में ऐकमत्य भी नहीं है। मायिक कहकर भी तदर्थानुष्ठान में प्रवृत्ति नहीं होती। इस तरह परस्पर विगान (मतभेद) से किन्हीं ही म्लेच्छादिकों से परिगृहीत होने के कारण उन आगमों को आप्तप्रोक्त नहीं कहा जा सकता। मन्वादिवाक्य जैसे वेदमूलक होने से प्रमाण समझे जाते हैं, वैसे ही बुद्धादि-आगमों का प्रामाण्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि मन्वादि वेद एवं तदर्थ के ज्ञाता और अनुष्ठाता थे। अतः उनके वाक्यों में वेदमूलकत्व का अनुमान किया

जा सकता है। इतर आगमों के कर्ता वेदविरोधी थे। फिर उनके वाक्यों का वेदमूलकत्व कैसे समझा जाय ? उन लोगों की सर्वज्ञता सन्दिग्ध होने से उनके आगमों को अनुभव-मूलक भी नहीं कहा जा सकता। मन्त्र एवं आयुर्वेद में प्रवृत्ति की सफलता से अर्थात् प्रत्यक्षफलोपलम्भ से उनका प्रामाण्य निश्चित हो जाता है। उनमें भी वैदिक, शान्तिक, पौष्टिक आदि कर्मों की अभ्यनुज्ञा, रसायनादि क्रियाओं के आरम्भमें वेदविहित चान्द्रायणादि प्रायश्चित्त का उपदेश होने से आप्तप्रणीत आयुर्वेद से भी वेदों का प्रामाण्य निश्चित होता है। 'कारीरी' आदि यज्ञों की प्रत्यक्ष सफलता से भी स्थाली-पुलाक-न्याय से वेदों का प्रामाण्य निश्चित होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि मन्त्र और आयुर्वेद का फल प्रत्यक्ष दृष्ट है, अतएव अन्वय-व्यतिरेकादि युक्तियों से ही उनका कार्य-कारणभाव नहीं जाना जा सकता। क्योंकि अपरिगणित औषधियों और उनके अपरिगणित संयोगों से उद्भूत एवं अभिभूत होनेवाले अपरि-गणित गुणों एवं दोषों का ज्ञान असर्वज्ञ को सहस्रों जन्मों में भी नहीं हो सकता। ऐसे ही इनका प्रथम अन्वय-व्यतिरेक भी दुर्ज्ञेय है। यही स्थिति मन्त्रों की है। भिन्न-भिन्न अक्षरों के आवाप-उद्वाप भेद और उनकी शक्तियाँ भी दुर्ज्ञेय हैं।

इस तरह नैयायिकों की दृष्टि से भी वेदार्थबाध आदि वेदों पर किये गये आक्षेपों का निराकरण और वेदों का प्रामाण्य सिद्ध किया जाता है। इस तरह नैयायिक आदिकों की दृष्टि से परमाप्त सर्वज्ञ-शिरोमणि परमेश्वरप्रोक्त होने से वेदों का प्रामाण्य है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'दृष्टान्त में जिन हेतु-साध्यों की व्याप्ति गृहीत होती है, पक्ष में भी उसी प्रकार का साध्य सिद्ध

होता है। उक्त अनुमान के घर, शय्या, प्रासाद आदि दृष्टान्त-स्थलों में कुलालादि कर्ता अल्पज्ञ ही होते हैं, सर्वज्ञ नहीं। फिर तनु, भुवनादि के कर्ता में सर्वज्ञता किस प्रकार सिद्ध होगी? कार्यत्वरूप हेतु से सर्वज्ञता के साथ कहीं पर व्याप्तिग्रह नहीं है। अतः सर्वज्ञता का अनुमान नहीं हो सकता। परन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि पक्षधर्मता के बल पर अनुमान सामान्य की सिद्धि द्वारा विशेष का भी साधक होता ही है। जैसे शब्दादि की उपलब्धिरूप की क्रिया के द्वारा करण-सामान्य सिद्धि से श्रोत्रादि इन्द्रियों की सिद्धि होती है। यद्यपि किसी दृष्टान्त में श्रोत्रादि इन्द्रियों के साथ क्रिया की व्याप्ति गृहीत नहीं है, तथापि छिदादि क्रियाओं में क्रिया-सामान्य के साथ करण-सामान्य का व्याप्तिग्रह है ही। अतः उस अनुमान का पर्यवसान श्रोत्रादि इन्द्रियरूप विशेष करण में ही होता है। इसी तरह घटादि कार्यों में बुद्धिमत्पूर्वकत्व सामान्य के साथ ही कार्यत्व या उत्पत्तिमत्त्व हेतु का व्याप्तिग्रह है, तथापि सम्पूर्ण विश्वरूप कार्य का कर्ता यदि सम्पूर्ण विश्व का जानकार है, तो सुतरां उसकी सर्वज्ञता सिद्ध होती है। घटादि एक-एक कार्य के निर्माता घटादि एवं उनके उपादानादि को जानते ही हैं। इसी तरह परमेश्वर सम्पूर्ण विश्व का कर्ता है, तो वह सुतरां सम्पूर्ण विश्व, उसके उपादान, निमित्त आदि सबका ज्ञाता होने से सर्वज्ञ ही होगा। नास्तिक वृक्षादि को स्वतः उत्पन्न कहता है, परन्तु उसके मत में वादि-प्रतिवादिसम्मत कोई दृष्टान्त नहीं है।

आस्तिक के पक्ष में बुद्धियुक्त कुलालादि से घटादि कार्य उत्पन्न होते हैं, पर दृष्टान्त आस्तिक-नास्तिक उभयसम्मत है। अतः सर्वज्ञ चेतन से ही विश्व की उत्पत्ति मानना सर्वथा बुद्धिसङ्गत है। कुछ लोगों का कहना है कि 'इन्द्रियों की सिद्धि अनुमान

से नहीं होती, किन्तु शब्दादि की उपलब्धि श्रोत्रादि इन्द्रियरूप करण के बिना अनुपपन्न होकर अर्थापत्ति द्वारा श्रोत्रादि इन्द्रियों की कल्पना का हेतु बनती है। अर्थापत्ति में दृष्टान्त और व्याप्ति की अपेक्षा नहीं होती। अतः इन्द्रियानुमान के समान सर्वज्ञता का अनुमान नहीं हो सकता।' परन्तु ईश्वरवादी पक्ष के अनुसार कहा जा सकता है कि इसी तरह सर्वज्ञ के बिना विश्व की उत्पत्ति अनुपपन्न होकर अर्थापत्ति के द्वारा सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि करा सकती है। कुछ लोग कहते हैं कि 'क्षेत्रज्ञ चेतन से अधिष्ठित अदृष्ट (शुभाशुभ कर्मजन्य अपूर्व) से ही विश्व की उत्पत्ति हो सकती है। अतः अनुपपत्ति न होने से अर्थापत्ति का उत्थान ही असम्भव है। फिर उसके द्वारा ईश्वर की सिद्धि असम्भव है।' परन्तु यह कहना ठीक नहीं है. क्योंकि अदृष्ट जड़ है, क्षेत्रज्ञ अल्पज्ञ है, अतः उन दोनों के ही द्वारा विश्व की उत्पत्ति उपपन्न नहीं हो सकती। यह सर्वमान्य है कि कोई व्यक्ति 'जानाति, इच्छति, अथ करोति' जानता है, इच्छा करता है फिर व्यापार द्वारा कार्य उत्पन्न करता है। जड़, अदृष्ट एवं अल्पज्ञ चेतन को विश्व का ज्ञान, भोक्ताओं का ज्ञान एवं प्राणियों के विभिन्न कर्मों का ज्ञान असम्भव ही है। अतः सर्वज्ञ चेतन से ही विश्व का निर्माण सम्भव है। जैसे लोक में सेवादि कर्मों का फल सेवादि कर्मों के ज्ञाता स्वामी से ही मिलता है, वैसे ही प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों का फल भी सर्वज्ञ परमेश्वर से ही मिल सकता है। अतएव अनन्त ब्रह्माण्ड के अनन्त जीवों, उनके अनन्त जन्मों, तत्तत् जन्म के विभिन्न कर्मों एवं कर्मफलों को जाननेवाले तथा कर्मफलों को देने की क्षमता रखनेवाले सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर के बिना विश्वोत्पत्ति एवं कर्मफल-व्यवस्था कथमपि उपपन्न नहीं हो सकती। अतः अर्थापत्ति से भी ईश्वर की सिद्धि हो सकती है।

सर्वकार्य का कारण होने से ही ज्ञान के लिए ईश्वर को देह तथा अन्तःकरण आदि की अपेक्षा नहीं होती। यदि जन्य देह या अन्तःकरण की अपेक्षा से ईश्वर का ज्ञान उत्पन्न हो, तब तो ईश्वरीय ज्ञान के निमित्तभूत देह, अन्तःकरणादि के लिए भी कोई अन्य ज्ञान अपेक्षित होगा। फिर उसके लिए अन्य देहादि अपेक्षित होंगे। फिर तो अनवस्थाप्रसङ्ग अपरिहार्य ही हो जायगा। अतएव अन्यथानुपपत्ति से ईश्वर का ज्ञान देहादि-निरपेक्ष ही मान्य होता है। नैयायिक ईश्वर के ज्ञानादि को नित्य मानते हैं। वेदान्ती ईश्वरीय ज्ञान को ईश्वर का स्वरूप ही मानते हैं। 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तपः' इत्यादि श्रुतियाँ ईश्वर की सर्वज्ञता का प्रतिपादन करती हैं।

मीमांसक इस पक्ष को इसलिए स्वीकार नहीं करते कि वेद अपौरुषेय होने से स्वतन्त्र प्रमाण है, परमेश्वर-प्रोक्त होने से नहीं। ऐसा न मानने पर ईश्वरसिद्धि में वेद प्रमाण उपस्थित करने में अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होता है। वेद-प्रामाण्य होने पर ही ईश्वरसिद्धि होगी तथा ईश्वरसिद्धि होने पर तत्प्रोक्त होने से वेद-प्रामाण्य सिद्ध होगा। यदि अन्योन्याश्रय दोष के वारणार्थ 'क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्' (पृथ्वी वृक्षादि सकर्तृक हैं, अर्थात् इनका कोई कर्ता है, क्योंकि सावयव होने से ये सब कार्य हैं। जैसे घटकार्य सकर्तृक है, उसका कुलाल कर्ता है, उसी तरह पृथ्वी, वृक्षादि का भी कोई कर्ता अवश्य है। पृथ्वी, वृक्षादि कार्य जीव के नहीं हो सकते। अतः सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही पृथिव्यादि का कर्ता मानना उचित है) इत्यादि अनुमानों के आधार पर ईश्वर-सिद्धि करें और अनुमानसिद्ध ईश्वर से प्रोक्त होने से वेदों का प्रामाण्य माना जाय, तो भी अड़चनें खड़ी होती हैं।

ईश्वर-सिद्धि की सारी अड़चनें दूर भी हो जायँ, सर्वज्ञता की विप्रतिपत्ति दूर भी हो जाय तो भी अनुमान द्वारा ईश्वर-सामान्य की ही सिद्धि हो सकती है। अनुमानसिद्ध ईश्वर वेदकार है, यह सिद्ध करना अनुमान के बूते के बाहर की बात है, क्योंकि वेदकार ईश्वर-सामान्य न होकर ईश्वरविशेष है; उसकी सिद्धि अनुमान से नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त जिन-जिन युक्तियों से नैयायिक वेदकार को ईश्वर सिद्ध करेगा, उन्हीं-उन्हीं युक्तियों से यदि विभिन्न मतानुयायी, अपने-अपने धर्मग्रन्थकारों को ईश्वर सिद्ध करने लगेंगे, तो नैयायिकों के पास कौन-सी विशिष्ट वाचो-युक्तियाँ हैं, जिनसे वेदकार ही ईश्वर सिद्ध हो, अन्य ग्रन्थकार ईश्वर न सिद्ध हों। सभी ईश्वर हों, तो उनके ग्रन्थों में परस्पर विरोध न होना चाहिए, अतः अपौरुषेय होने से ही वेदों का स्वतःप्रामाण्य मानना उचित है और वेदों के प्रमाण होने से ही धर्म, ब्रह्म दोनों की मान्यता निर्विघ्न सम्पन्न होती है। अतएव जैसे धर्म शास्त्रैक-गम्य है, वैसे ही ब्रह्म भी शास्त्रैकगम्य होता है। अनुमानादि युक्तिरूप से सम्भावनामात्र से श्रुत्यर्थ बुद्ध्यारोहणार्थ उपयुक्त होते हैं।

समस्त वेद का प्रामाण्य : ३ :

मनु ने 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' इत्यादि वचनों से 'मन्त्रब्राह्मण-योर्वेदनामधेयम्' इस आपस्तम्बसूत्र के अनुसार मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद को ही धर्म में मूल नहीं कहा; अपि तु श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्या से अनुमित अतिदेशकल्प वेद भी धर्म में प्रमाण माना है। अतएव अथर्ववेदप्रोक्त, तुला-पुरुष-शान्त्यादि सर्वसाधारण कर्म भी धर्म ही हैं। अर्थात् वेद के कर्म एवं उपासना और ज्ञान के प्रतिपादक तीनों ही काण्ड धर्म में प्रमाण हैं।

क्योंकि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिवाक्य से 'स्वाध्याय' पद-वाच्य समस्त वेदराशि का अध्ययन विहित है। यद्यपि 'अधीयत इत्यध्यायः, स्वस्याध्यायः स्वाध्यायः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्वशाखीय वेद ही स्वाध्याय पदार्थ है। फिर भी उसे उपलक्षण मानकर स्वशाखोपलक्षित समस्त वेदराशि के ही अध्ययन में विधि का तात्पर्य माना जाता है। 'वायुर्वा व गौतम अग्निः, 'योषा वाव गौतम अग्निः, आदित्यो वै देवानाम् मधु' इन उपासना-काण्डगत वाक्यों से उपासना का विधान है। जैसे प्रतिमाओं में देवताओं की उपासना की जाती है, वैसे ही वायु, स्त्री आदिकों में अग्निभावना से उपासना की जाती है। यद्यपि भेद में अभेदबुद्धि भ्रान्ति ही है और भ्रान्ति से फल की आशा भी दुराशा ही है ; तथापि भ्रान्ति संवादी-विसंवादी भेद से दो प्रकार की होती है। मणि और प्रदीप की प्रभा में मणिबुद्धि से दौड़नेवालों की भ्रान्तियाँ बराबर हैं। फिर भी फल में भेद प्रत्यक्ष ही है। सिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करनेवाली उपनिषदों का भी प्रामाण्य 'तत्तु समन्वयात्' इस सूत्र-भाष्य में श्रीमच्छङ्कर भगवत्पाद ने व्यक्त किया है। 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' इत्यादि वचनों से ज्ञानकाण्ड का महत्त्व गीता में भी प्रतिपादित है। अर्थवादों का विधि-निषेध की स्तुति में और मन्त्रों का द्रव्यदेवता-स्मरण करने में तात्पर्य है। किंबहुना 'हाबु' 'होयि' आदि स्तोत्रों की भी सामरूप गीति की पूरक होने से सार्थकता है, तो फिर मन्त्रों की सार्थकता में सन्देह ही नहीं हो सकता।

वेदों में मन्त्र, ब्राह्मण ये दो भेद एवं ऋक्, साम, यजु, अथर्वभेद वेद; उनमें भी मण्डल, अनुवाक् सूक्त, त्र्यृच, प्रपाठक, अध्याय और ब्राह्मण भेद हैं। ब्राह्मणों में भी विधि, अर्थवाद और अनुवाद ये तीन भेद कहे गये हैं। अर्थवाद में भी स्तुति,

निन्दा, परकृति, पुराकल्प ये चार विभाग और अनुवाद में भी विध्यनुवाद, विहितानुवाद भेद से दो भाग कहे गये हैं। इष्टसाधनाबोधक लिङ्, लोट्, तव्यदादि प्रत्यययुक्त वाक्य विधिवाक्य हैं। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि। विध्यर्थ-प्रशंसापरक वाक्य अर्थवाद कहे जाते हैं। स्तुति द्वारा विध्यर्थ में अधिकारी की शीघ्र ही प्रवृत्ति होती है। निन्दा के द्वारा निषिद्ध से निवृत्ति में सहायता मिलती है। ये ही दोनों स्तुति और निन्दारूप अर्थवाद हैं। 'सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन्'—देवताओं ने सर्वजित् याग से सबपर विजय पायी है, अतः सबको जीतने के लिए सर्वजित् यज्ञ करना चाहिए। 'सोऽरोदीत्' इत्यादि निन्दार्थवाद है। किसी पुरुष-विशेष में अन्योन्यविरुद्ध दो धर्म कहे जायँ, यह परप्रकृति है। जैसे 'हुत्वा वपामेवाग्रेऽभिघारयन्त्यथ पृषदाज्यम्'। तदुह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिघारयन्ति" अर्थात् होमकर वपा ही को बघारते हैं, उसके बाद पृषदाज्य को बघारते हैं। यजुर्वेद के चरक नामक अध्वर्यु पृषदाज्य को ही बघारते हैं। यहाँ सन्देह से विलम्ब न करना और दो में से किसी एक के बघारने में लग जाना, बताया है, इसीलिए यह परकृति है। 'अमुक लोग प्रथम इस कार्य को करते थे', इस तरह के वाक्य को 'पुराकल्प' कहते हैं। जैसे—'तस्माद्वा एतेन पुरा ब्राह्मणा बहिष्पवमानं सामस्तोम स्तौषन्'। यज्ञविस्तारार्थ ब्राह्मण लोग पूर्वकाल में बहिष्पवमान नामक सामस्तोत्र का प्रशंसन करते थे। शब्द का अनुवाद, विध्यनुवाद और अर्थ के अनुवाद को विहितानुवाद कहा जाता है। यह विभाग नैयायिकों के मतानुसार है। भट्टपाद ने अनुवाद को अर्थवाद में अन्तर्भूत कर गुणवाद, अनुवाद, भूतार्थवाद आदि तीन भेद माने हैं।

'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः॥'

इसी तरह विधि, निषेध, अर्थवाद, मन्त्र, नामधेय, उपनिषद् भेद से छः प्रकार का भी वेद परम्परा से प्रचालित है।

मनु, व्यास आदि शब्द प्राड्विवाक (जज) आदि के समान पदविशेष के ही वाचक हैं। तथा च मनु, व्यास आदि सर्वज्ञकल्प उक्त महर्षि गण अनादि काल से समय-समय पर आविर्भूत होते आये हैं। अतः उनके द्वारा प्रचलित वेद भी अनादि ही समझने चाहिए।

शास्त्रों के अर्थवाद की कल्पना लोक में भी बहुत प्रसिद्ध है। परन्तु वस्तुदृष्टि से कौन वाक्य किस तरह का अर्थवाद है, इसका ज्ञान बहुत कम लोगों को है। जिसे जो वाक्य मान्य नहीं होता, वह उसे क्षेपक या अर्थवाद कह देता है। परिस्थिति यहाँतक बिगड़ गयी कि विकराल पापों के फलों, दारुण नरक-यातनाओं के वर्णन को भयानक (अर्थवाद), सत्कर्मों के स्वर्गादि दिव्यफलों के बोधक वाक्यों को रोचक (अर्थवाद) कह दिया जाता है। परन्तु पूर्वकथनानुसार यह समझना परमावश्यक है कि अर्थवाद क्या है? 'अर्थस्य प्रयोजनस्य वदनं विध्यर्थप्रशंसापरं वचनमर्थवादः। स च स्तुत्यादिद्वारा विध्यर्थशीघ्रप्रवृत्तये प्रशंसति।" प्रयोजन बतलानेवाले विध्यर्थप्रशंसक वचनों को अर्थवाद कहा जाता है।

पूर्वमीमांसा के सूत्र, भाष्य, वार्तिक आदि ग्रन्थों में अर्थवादों और मन्त्रों पर पर्याप्त विवेचन किया गया है। अर्थवाद-वचनों के प्रामाण्य पर प्रथम पूर्वपक्ष किया गया है। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते।' समस्त आम्नाय वेदादिशास्त्र का प्रवृत्तिरूप अथवा निवृत्तिरूप किसी क्रिया के ही प्रतिपादन में तात्पर्य होता है।

अतः जिन वचनों का क्रिया अर्थ नहीं है, उनकी अनर्थकता है। अतएव उनका अप्रामाण्य ही समझना चाहिए। 'शिष्यते हित-मुपदिश्यतेऽनेनेति शास्त्रम्' इस व्युत्पत्ति से हित-उपदेश करनेवाले वाक्यसमूह को ही शास्त्र कहा जा सकता है। अनिष्ट-परि-जिहीर्षु प्राणी को अनिष्ट-परिहार का उपाय एवं इष्ट-प्रेप्सु को इष्टप्राप्ति का उपाय उपदेश करना ही शास्त्र का काम है। 'न सर्पायाङ्गुलिं दद्यात्' (सर्प को अङ्गुलि न दे) 'ज्वरितः पथ्यम-श्नीयात्' (ज्वराक्रान्त को पथ्य ही खाना चाहिए) इस तरह के अनिष्ट से निवृत्ति बतलानेवाले निषेध और इष्ट में प्रवृत्ति का उपदेश करनेवाले विधि को ही मुख्यशास्त्रत्व होता है। इस दृष्टि से वेद के भी 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत, अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि (इष्टसाधनाताबोधक या इष्टप्राप्ति में प्रव-र्त्तक) विधिवाक्यों का एवं 'सुरां न पिबेत्' 'ब्राह्मणा न हन्तव्यः इत्यादि निषेधवाक्यों का ही मुख्य शास्त्रत्व और प्रामाण्य सिद्ध होता है। अर्थवाद और मन्त्रों में प्रवर्त्तकता या निवर्तकता न होने से उनका क्रिया में तात्पर्य नहीं है। अतः उनका प्रामाण्य दुर्घट है। अतएव 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः, तस्य ज्ञानमुपदेशः, तद्-भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः' इत्यादि सूत्रों से विधि और निषेध का ही प्रामाण्य कहा गया है। तद्भिन्न शब्दों से धर्माधर्म का ज्ञान कथमपि नहीं हो सकता। अज्ञात अर्थ का ज्ञान कराना ही शब्दों का कार्य है। अतः साध्य (स्वर्गादि फल), साधन (यज्ञादि क्रिया) और उसकी इतिकर्त्तव्यता (अनुष्ठान का प्रकार और अङ्ग-क्रियाओं) के बोधक जितने शब्द विधि-प्रतिषेध के अन्तर्गत हो जाते हैं, उन्हींका प्रामाण्य होता है। जिन वाक्यों का साध्य, साधन, इतिकर्त्तव्यता अर्थ नहीं हैं, उन मन्त्र एवं नामधेय में आनेवाले 'सोऽरोदित्, इषेत्वोर्जे त्वा (वह रोया, रोने से ही उसका नाम रुद्र पड़ गया, उसके आँसू

ही रजत बन गये, हे शाखे ! अन्न या अभीष्टपूर्ति के लिए मैं तुझे काटता हूँ) इत्यादि अर्थवाद-वाक्यों का अपौरुषेय और स्वार्थप्रतिपादनक्षम होने पर भी धर्माधर्म में प्रामाण्य नहीं है, कारण उनके सरल और स्पष्ट अर्थ से प्रवृत्ति तथा निवृत्ति की प्रतीत नहीं होती।

क्लिष्ट कल्पना से तो विधि, निषेध दोनों ही बनाये जा सकते हैं। जैसे "जब रुद्र जैसे बड़े लोगों ने रोदन किया है, तब मुझे भी रोदन करना चाहिए", इस तरह विधि बन सकती है। दूसरे यह कि 'रोना' बड़े-बड़े लोगों को भी आक्रान्त कर लेता है, अतः उससे बचने का प्रयत्न करना चाहिए' इस तरह निषेध भी निकल सकता है। ऐसी स्थिति में विधि-निषेध का निर्णय अशक्य हो जाता है। इसीलिए यथाश्रुत स्पष्ट अर्थ का ही ग्रहण उचित है। उसमें विधि, निषेध का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

सभी अर्थवाद झूठी स्तुति या झूठे (मिथ्या) अर्थ को प्रतिपादन करते हों, यह बात नहीं। "धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे" दिन में अग्नि का धूम ही दिखाई देता है। इन मिथ्यार्थ प्रतिपादक अर्थवादों के अतिरिक्त "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" इत्यादि अर्थवाद सत्यार्थ के ही प्रतिपादक हैं। तथापि विधि-निषेध से बहिर्भूत होने से उनका प्रामाण्य नहीं है। किसी विधि-निषेध के भीतर लाने के लिए इनके अर्थ में परिवर्तन करना भी ठीक नहीं, कारण विधि-निषेधसम्बन्ध के बिना भी वे अपने सत्य या मिथ्या अर्थ का प्रतिपादन कर ही सकते हैं। जो यह कहा जाता है कि विधि-निषेधसम्बन्ध बिना किसी वृत्तान्त मात्र का प्रतिपादन व्यर्थ है, अतः अर्थवादों की सार्थकता के लिए विधि-निषेधसम्बन्धानुकूल स्तुति या निन्दारूप अर्थान्तर की

कल्पना युक्त ही है, जिससे प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप प्रयोजन के साधक होने से वाक्य में सार्थकता आ जायगी। यह कथन भी अनर्गल है; कारण जिस वाक्य का जो अर्थ है, उसका वही अर्थ है। निष्प्रयोजक होने मात्र से अर्थ का परिवर्त्तन नहीं हो सकता।

क्या लोष्ठ या पाषाणादि का दर्शन निष्प्रयोजन है? अतः लोष्ठ-दर्शन को सुवर्ण-दर्शन मान लिया जाय। वस्तुतः शब्द ही क्या, सभी प्रमाण अपने यथाभूत विषय का ही प्रकाश करते हैं। चाहे वह सप्रयोजन हो, चाहे निष्प्रयोजन, उसीसे हान, उपादन एवं उपेक्षाबुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। यदि प्रमाण सप्रयोजन विषय का ही बोध करायें, तब तो उनसे केवल उपादानबुद्धि का ही प्रादुर्भाव होगा; हान, उपेक्षाबुद्धि की कथा ही मिट जायगी। किञ्च प्रमाण से अर्थज्ञान होने के उपरान्त ही अर्थ की सप्रयोजनता और निष्प्रयोजनता का निर्णय होगा। फिर सप्रयोजनता के अधीन प्रमाणोत्पत्ति की कल्पना कैसे संगत हो सकती है?

इसलिए जो अर्थ जिस रूप से प्रमाण द्वारा निश्चित होता है, उसे वैसा ही समझना चाहिए, चाहे वह सप्रयोजन हो या निष्प्रयोजन। सप्रयोजन वस्तु की ही प्रमिति हो, ऐसा कोई भी नियम नहीं है। फिर बुद्धिप्रयत्ननिरपेक्ष, नित्यसिद्ध वेद-जन्य-ज्ञान से ग्राह्य अर्थ में तो सुतरां अर्थ बदलने की कोई आवश्यकता नहीं। इसलिए जो अर्थवादों का सहज अर्थ हो, वही ग्रहण करना चाहिए। यदि प्रयोजनवत्ता के लिए अर्थ बदला जायगा, तब तो शब्दों का भी बदलना अनिवार्य हो जायगा, क्योंकि स्तुति या निन्दारूप अर्थ उनके वास्तविक शब्दों से नहीं निकलते।

इस तरह शब्द और अर्थ दोनों ही बदल दिये जायँगे, तब तो उनकी मूल सत्ता ही मिट जायगी। फिर जो वाक्य किसी पुरुष द्वारा रचा गया हो, उसमें वक्ता का तात्पर्य निकालने के लिए खींच-खाँच करने का अवकाश भी रहता है, परन्तु जो किसीके द्वारा रचित नहीं हैं, ऐसे नित्य वेद के अर्थवाद-वाक्यों में तो तात्पर्यानुसार भी अर्थ बदलने का अवसर नहीं है। फिर यह तो अभी विचारणीय विषय है कि वेद सफल ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं या निष्फल का भी ?

फिर वेद जैसे अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, हमलोग जानकर केवल उसके अनुष्ठान के ही अधिकारी हैं अथवा वेद क्यों निष्प्रयोजन अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, ऐसा प्रश्न भी कर सकते हैं ? यदि वेद निष्प्रयोजन अर्थ के प्रतिपादक हों, तो उनका आदरपुरस्सर क्यों अध्ययन किया जाता है ? अध्ययन के अनन्तर वेदार्थज्ञान से तो सभीको वेद के परतन्त्र ही होना पड़ेगा। उसके पहले कोई परीक्षा भी कैसे कर सकता है। अध्ययन के अनन्तर मीमांसा द्वारा वेदों के सफल या निष्फल अर्थ पर विचार करने से यही निश्चय होगा कि जैसे विधि-वाक्यों का सप्रयोजन होना उनके अर्थ से ही निश्चित है, वैसे ही अर्थवादों का सप्रयोजन होना उनके अर्थ से ही निश्चित नहीं होता। मीमांसा से परीक्षा करनेवालों का यही कार्य है कि प्रमाणसिद्ध वस्तु को स्वीकार करें, चाहे वह अपने प्रयोजन की हो अथवा न हो।

यदि क्लिष्ट-कल्पना से अर्थवादों का स्तुति या निन्दारूप अर्थ निकाल भी लिया जाय, तब भी वह साध्य, साधन, इति-कर्त्तव्यता के वहिर्भूत होने से विधि-निषेध के भीतर नहीं आ सकता। विधि-निषेध-सम्बन्ध के विना स्तुति न विहित कर्म

में प्रवृत्ति करा सकती है, न निन्दा निषिद्ध कर्म से निवृत्ति करा सकती है। इसके अतिरिक्त अर्थवादों की स्तुति एवं निन्दारूप अर्थकल्पना करने के उपरान्त उनका विधि-निषेध के साथ सम्बन्ध हो सकता है। सम्बन्ध के उपरान्त ही अर्थवादों का विधि-निषेधसम्बन्धोपयोगी स्तुति या निन्दारूप अर्थ कल्पित होगा। इस तरह सम्बन्धकल्पनाधीन स्तुतिनिन्दाकल्पना से सम्बन्ध की कल्पना होगी। तथा च अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य होगा। तस्मात् अर्थवाद और मन्त्र का कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

अर्थवाद व्यर्थ और असत्य अर्थ का ही बोधन करते हैं— 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाक्' (मन चोर है, वाणी झूठी है) यह अर्थवाद स्वतः पुरुष की प्रवृत्ति-निवृत्ति में कथमपि उपयोगी नहीं है। यदि इसकी सफलता के लिए 'मनः स्तेनं वाचमनृतां कुर्यात्' (मन को चोर और वाक् को झूठी बनायें) ऐसी विधि की कल्पना की जाय, तो शास्त्र-विरोध उपस्थित होगा। क्योंकि 'नानृतं वदेत्' यह शास्त्र अनृतवदन का निषेध करता है। इसके अतिरिक्त 'धूम एवाग्निर्दिवा ददृशे' (अग्नि का धूम ही दिन को दीखता है, अग्नि नहीं) यह अर्थवाद प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध अर्थ का बोधक है, कारण प्रत्यक्ष ही दिन में भी अग्नि का दर्शन होता है।

ऐसे ही प्रत्यक्ष ब्राह्मण में भी 'वयं ब्राह्मणा वा अब्राह्मणा वा' (हम लोग ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण) इत्यादि सन्देह प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। कहा जा सकता है कि ब्राह्मणत्वादि तो प्रत्यक्ष नहीं हैं, फिर प्रत्यक्ष-विरोध कैसे कहा जा सकता है? परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातः' ब्राह्मणी में ब्राह्मण से उत्पन्न होने का औपदेशिक ज्ञान होने पर 'यह ब्राह्मण है'

यह प्रत्यक्ष ही होता है। जैसे मूल ब्राह्मणों में प्रजापतिमुख-जत्वज्ञान ब्राह्मणत्व का व्यञ्जक है, उसी तरह शाखाभूत ब्राह्मणों में ब्राह्मण माता-पिता से जन्य होने का ज्ञान ब्राह्मणत्व का व्यञ्जक होता है। उदयनाचार्य के अनुसार यद्यपि सामान्य ब्राह्मण ब्राह्मण-ब्राह्मणी से ही उत्पन्न होते हैं, तथापि मूल ब्राह्मण प्रजापति की मुखशक्ति से ही उत्पन्न हुए थे। जैसे सामान्य बिच्छू बिच्छू से ही उत्पन्न होते हैं फिर भी प्रथम बिच्छू गोमय से होते हैं। सामान्य चौराई से चौराई उत्पन्न होती है, फिर भी प्रथम चौराई तण्डुलकण से उत्पन्न होती है। वह्नि से वह्नि की उत्पत्ति दृष्ट होने पर भी प्रथम अग्नि अरणि से उत्पन्न होती है। इसी तरह क्षीर, दधि, घृत आदि अपने अवयव-भूत दुग्धादि से ही उत्पन्न होते हैं। परंतु प्रथम दुग्धादि निरवयव परमाणुओं से ही होते हैं। इसी तरह सामान्य मनुष्यादि मनुष्यादि से ही उत्पन्न होते हैं, तथापि प्रथम मनुष्यादि पूर्वजन्मकृत कर्मसापेक्ष भूतों से ही उत्पन्न होते हैं। जैसे गोव्यक्ति के प्रत्यक्ष होने पर गोत्व प्रत्यक्ष होता है, इसी तरह ब्राह्मण-जन्यताज्ञान से व्यक्ति में ब्राह्मणत्वादि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद।'—गर्गत्रिरात्र ब्राह्मण में कहा है कि इस पूर्वोक्त विषय के जाननेवाले का मुख शोभित होता है, परन्तु जो कुमुख है, उसका मुख उस विषय के जानने पर भी सुन्दर नहीं होता। अतः ये वेदवचन झूठा ही अर्थ कहते हैं। ऐसे ही 'पूर्णाहुतिमुत्तमां जुहोति' (यज्ञान्त में पूर्णाहुति दे) इस विधि का अर्थवाद है—'सर्वमेवाप्नोति' (सभी फल पाता है)। यदि यह सत्य है कि पूर्णाहुति से ही सब फलों की प्राप्ति हो जाती है, तब तो पूर्व की क्रियाओं का विधान व्यर्थ ही हुआ।

सर्वत्र प्राप्त का ही निषेध होता है, परन्तु 'नान्तरिक्षे चिन्वीत' यहाँ अत्यन्त अप्राप्त अन्तरिक्ष में अग्निचयन का निषेध है। 'बर्बरः प्रावहणि' इत्यादि में अनित्य पुरुषों का भी सम्बन्ध वेद में आता है, जिससे वेदों की अनित्यता भी सिद्ध होती है। यहाँ सिद्धान्ती कह सकता है कि अर्थवादों का अर्थ चाहे सत्य हो अथवा झूठ, स्तुति तो असत्य गुणों से भी हो ही जाती है। अर्थवादों का स्तुति में ही तात्पर्य है, वाच्यार्थ में उनका तात्पर्य ही नहीं है। फिर वाच्यार्थ के झूठे होने से क्या हानि है? परन्तु उसका यह कथन सङ्गत नहीं, क्योंकि अर्थवादों का अपने वाच्य में तात्पर्य नहीं है, तो दूसरा भी उनका तात्पर्य नहीं हो सकता। स्तुतिरूपी अर्थ उनके शब्दों से निकलता नहीं है, तब अवश्य ही वाच्यार्थ में उनका प्रामाण्य मानना पड़ेगा। फिर तो बर्बर आदि की अनित्यता उनमें अवश्य ही आयेगी। कथञ्चित् बर्बर का वायु आदि अर्थ मान भी लिया जाय, तो भी हर एक आख्यानों के शब्दों का अर्थ नहीं बदला जा सकता। यदि उन अंशों का अप्रामाण्य होगा ही, तब बर्बर आदि का ही अर्थ बदलने का क्यों आयास किया जाय? स्थिति तो यह है जैसे कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों में शब्द और शब्दों में वेद का प्रामाण्य है, उसी तरह वेदों में भी विधि-निषेध-वाक्य ही प्रमाण हैं और सब अप्रमाण ही है। जो कहा जाता है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि से वेद का सभी अंश पुरुषार्थ का साधन है, वह भी 'कथञ्चित्' पाठ से अदृष्ट-उत्पादन द्वारा हो सकता है, परन्तु उनका कुछ अर्थ है—ऐसा तो नहीं कहा जा सकता।

इस तरह पूर्वपक्ष करके मीमांसा में ही 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इत्यादि सूत्रों से अर्थवाद आदि का

प्रामाण्य कहा गया है। अभिप्राय यह है कि विधि-वाक्य अपने विधेय यज्ञादि क्रिया में पुरुषों को प्रवृत्त करने के लिए विधेय की स्तुति चाहता है। इसलिए स्तुतिरूप अर्थ के द्वारा अर्थवाद-वाक्य विधि-वाक्यों से मिलकर, विधि-वाक्यों में ही अन्तर्गत होकर दोनों एक महावाक्य हो जाते हैं। अतः प्रवर्त्तक होने से, प्रमाणभूत विधि-वाक्य के अन्तर्गत होने से अर्थवादों का भी प्रामाण्य हो जाता है। नष्टाश्वदग्धरथन्याय से दोनों मिल-कर, विधि-वाक्य अर्थवाद की प्रयोजनाकांक्षा और अर्थवाद विधि-वाक्य की प्रशंसाकांक्षा को पूरा कर दोनों ही सफल और कृतकार्य हो जाते हैं।

यद्यपि विधिवाक्य यज्ञादि में पुरुष को स्वयं ही प्रवृत्त करते हैं, तथापि परिश्रम और धनव्यय के कारण यज्ञों से मन हटता है। ऐसी स्थिति में अर्थवाद प्रशंसा द्वारा मन को हटने न देकर प्रोत्साहन देते हैं। इसलिए विधि-वाक्यों के अङ्ग (सहायक) होकर अर्थवाद भी धर्म में प्रमाण होते हैं। जैसे लोक में 'यह गौ खरीदो' यह विधि होती है, तो 'यह गौ बिकाऊ और बहुत दूध देनेवाली है, इसके बच्चे जिया करते हैं' इत्यादि अर्थवाद भी होते हैं। विधि-वाक्य से पुरुष की क्रय में प्रवृत्ति होती है, परन्तु मूल्य ज्यादा होने से मन हटता है। तब अर्थ-वाद से गौ के गुण दिखाकर उसे खरीदने को प्रोत्साहित किया जाता है। वैसे ही 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' (ऐश्वर्य चाहनेवाला श्वेत छाग द्वारा वायु का यजन करे।) इस विधि का अर्थवाद है—'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, 'वायुमेव स्वेन भागधेयेनो-पधावति', स एवैनं भूतिं गमयति।' वायु अतिशीघ्रकारी देवता है। यज्ञकर्त्ता को शीघ्र ही ऐश्वर्य देता है।

यहाँ शङ्का होती है कि 'इस विषय में लोकदृष्टान्त नहीं चल

सकता, क्योंकि लौकिक अर्थवादों के पदों का वाच्यार्थ विधि के साथ सम्बन्ध रखता है, परन्तु वैदिक अर्थवादों के तो किसी पद का यह अर्थ नहीं होता कि यह यज्ञ अच्छा है। ऐसी स्थिति में विधि के साथ एकवाक्यता कैसे हो सकती है ?' इसका समाधान यह है कि पदों का अर्थ चाहे जो भी हो, परन्तु पूर्ण अर्थवाद का अर्थ स्तुति (ये यज्ञ आदि अच्छे हैं) ही है। यह अर्थ उनका वाच्यार्थ नहीं है, किन्तु लक्ष्यार्थ है। शब्दों का साक्षात् सम्बन्ध शक्ति और व्यवहित (परम्परा) सम्बन्ध लक्षणा कहलाता है। शक्ति सम्बन्ध से बोधित अर्थ शक्य और लक्षणा से बोधित अर्थ लक्ष्य कहलाता है। यष्टि शब्द का शक्यार्थ लाठी है, परन्तु 'यष्टियों को खिलाओ' यहाँ यष्टिशब्द से लाठीवाले पुरुष लक्षणा से विवक्षित होते हैं। इसी तरह अर्थवाद भी लक्षणा से यज्ञ की प्रशंसा का बोध करायेंगे।

फिर भी कहा जाता है कि 'अर्थवाद के पद लक्षणा से स्तुतिबोधक होते हैं, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि विधियों के साथ एकवाक्यता की अनुपपत्ति से शक्यार्थ छोड़कर लक्ष्यार्थ ग्रहण करने में एकवाक्यता को ही प्रमाण कहें, तो यह प्रश्न होगा कि एकवाक्यता ही क्यों हो ? यदि लक्षणा द्वारा स्तुति का विधि के साथ सम्बन्ध है, अतः लक्षणा ही एकवाक्यता में प्रमाण है, तब तो अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य होगा। बिना एकवाक्यता के लक्षणा नहीं और बिना उसके एकवाक्यता नहीं।' उसका उत्तर यह है कि अर्थवाद धर्म-मूल है, अतः धर्म-मूलता की उपपत्ति के लिए वे वाच्यार्थ को छोड़कर लक्षणा से विधेय की स्तुति करते हैं। जैसे 'यह घट है' इस वाक्य से पुरुष की किसी क्रिया में प्रवृत्ति नहीं होती, इसी

तरह सिद्ध अर्थ के बोध से यज्ञादि में पुरुष प्रवृत्ति नहीं होती। अतएव लक्षणा से स्तुतिरूप अर्थ का विधि के अर्थ से सम्बन्ध होता है। तभी एकवाक्यता से अर्थवाद धर्म में प्रमाण होते हैं।

कहा जाता है कि 'यष्टियों को भोजन कराओ, यहाँ तो यष्टि और भोजन का सम्बन्ध स्पष्ट है, अतः लक्षणा से यष्टि का अर्थ यष्टिवाला होना ठीक ही है। परन्तु अर्थवाद का तो यज्ञ या यज्ञ कारण कोई भी अर्थ नहीं है, तब उनके अर्थ से किसी पुरुषार्थ की कल्पना ही नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में अर्थवाद को पुरुषार्थ या धर्म का मूल भी कैसे माना जाय? फिर धर्ममूलता के उपपादन के लिए लक्षणा से उनका स्तुतिरूप अर्थ क्यों माना जाय?' इसका समाधान यही है कि जैसे लौकिक अर्थवाद 'यह गौ अच्छी है' इत्यादि गोक्रयण द्वारा दुग्ध आदि पुरुषार्थप्राप्ति का मूल है, उसी तरह वैदिक अर्थवाद भी लक्षणा से यज्ञस्तुति द्वारा यज्ञ में प्रवृत्त कराकर यज्ञफलरूप पुरुषार्थ का मूल होता है। अतः धर्म-मूलत्व अर्थवाद में स्पष्ट है। फिर उसकी उत्पत्ति के लिए अर्थवाद की स्तुति में लक्षणा क्यों न हो?

फिर भी कुछ लोगों का कहना है कि 'लौकिक अर्थवाद-वाक्यों का निर्माता तो कोई पुरुष होता है और वह प्रमाणान्तर से अर्थों को समझता है। अतः लौकिक अर्थवादों की प्रमाणता अन्य प्रमाणों के अधीन है। इसीलिए वक्ता का तात्पर्य स्तुति में समझकर वाच्यार्थ छोड़कर स्तुति में अर्थवादों की लक्षणा मानी जाती है। परन्तु वैदिक अर्थवाद तो अपौरुषेय वाक्य है। उनका अर्थ अन्य प्रमाणों से ज्ञात नहीं होता। जैसे वायु का देवता होना, शीघ्र ही ऐश्वर्य का देना, आदि। इससे वक्ता के तात्पर्य और प्रत्यक्षादि प्रमाण के अनुसरण से

भी उनके वाच्यार्थ का भङ्ग नहीं हो सकता और न लक्षणा ही ही हो सकती है। अतः उनके अक्षरों से जो अर्थ निकले, वही अर्थ मानना चाहिए।

'कहा जाता है कि साधारण चिकित्सा-शास्त्र आदि के वाक्यों का भी मुख्य अर्थ छोड़कर लक्षणा से मनमाना अर्थ नहीं किया जाता। शास्त्रकारों की सत्यवादिता पर विश्वास के कारण ही लोग उनके वाक्यों का अर्थ समझते हैं। फिर निर्दोष अपौरुषेय वैदिक अर्थवादों के वाच्यार्थ का त्याग कैसे किया जा सकता है? स्वतः वैदिक अर्थवादों की विधि के साथ एकवाक्यता झलकती नहीं। अर्थवाद पुरुषार्थ के सहकारी हैं, इसमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। फिर एकवाक्यता भी कैसे हो?'

परन्तु यह सब कहना ठीक नहीं है। क्योंकि "तुल्यञ्च साम्प्रदायिकम्"। अनादि सम्प्रदाय-परम्परा से सिद्ध होना और अनध्याय में न पढ़ने आदि का नियम जैसे विधिभाग में पाला जाता है, वैसे ही अर्थवाद भागों में भी पाला जाता है। अतः अर्थवाद की ही कौन कहे, वेद का सभी अंश धर्म में प्रमाण है। धर्म के प्रति प्रमाण होना ही पुरुषार्थ का सहकारी कारण होना है। अर्थवाद यदि पुरुषार्थोपयोगी न होता, तो विचारशील पुरुष अनादिकाल से आदरपूर्वक उसका अध्ययन ही न करते। बिना प्रमाण के उन अध्येताओं को अज्ञानी कहना भी सिवा मोह के और क्या है? इस तरह पुरुषार्थ के उपकारक अर्थवादों की लक्षणा द्वारा अवश्य ही स्तुति-अर्थ मानकर विधि-वाक्यों से एकवाक्यता करनी चाहिए।

यहाँ शङ्का की जाती है कि 'क्या अर्थवादों की पुरुषार्थ-सम्बन्धिता अपने आदर और परिश्रम की अन्यथानुपपत्ति से

मानी जायगी, अथवा अन्य लोगों के आदर आदि से ? पहले पक्ष में तो अन्योन्याश्रय होगा, क्योंकि पुरुषार्थसम्बन्धित्व-ज्ञान से ही अध्ययनादि में आदर होगा और आदर से ही उनकी पुरुषार्थसम्बन्धिता मानी जायगी। यदि अन्य लोगों के आदर से ऐसी कल्पना करें, तो भी मूल प्रमाण के बिना वह भी अन्धपरम्परा ही समझी जायगी। जैसे किसी अन्धे ने कह दिया 'दूध काला होता है'। उसे सुनकर दूसरे-तीसरे एवं अनेक अन्धे कहने लग जायँ, तो क्या इतने से ही दूध काला हो जायगा ?

'परन्तु स्पष्ट है कि श्वेत या काले दूध के ज्ञान के मूल चक्षुप्रमाण के बिना यह कहना और मानना व्यर्थ ही है। इसी तरह किसको अर्थवादों का आदर करते या पुरुषार्थ-मूल मानते देख या समझकर अन्यान्य लोग भी वैसा ही मानने लगते हैं, परन्तु जबतक कोई मूल प्रमाण न मिले, तब-तक उनकी पुरुषार्थमूलता मानना अन्धपरम्परा ही है। अनुमान या प्रत्यक्ष किसीसे भी मन्त्रार्थवादों में पुरुषार्थमूलता नहीं सिद्ध होती। ऐसा कोई वेदवाक्य भी नहीं है, जिससे अर्थवादों की पुरुषार्थमूलता सिद्ध हो। यदि हो, तो भी उसे पहले अपनी पुरुषार्थमूलता और प्रमाणता सिद्ध करनी होगी। क्योंकि जो स्वयं ही अप्रमाण है, उससे दूसरे की पुरुषार्थमूलता आदि कैसे सिद्ध होगी ? स्वयं अपने में प्रमाण का व्यापार नहीं होता, अतः उस वेदवाक्य से उसकी पुरुषार्थसम्बन्धिता या प्रमाणता भी सिद्ध नहीं हो सकती। अतः अर्थवादों की पुरुषार्थानु-बन्धिता स्तुति में लक्षणा, विधि के साथ एकवाक्यता आदि कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता।'

इन शङ्काओं का समाधान यह है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'

यह विधिवाक्य ही वेद के सभी अंशों की पुरुषार्थसाधनता में प्रमाण है। यह अपने सहित समस्त वेदवाक्यों को पुरुषार्थमूल सिद्ध करता है। इसका अर्थ है—वेद का अध्ययन अवश्य ही करे। अतः वेद में एक अक्षर या मात्रा की भी निरर्थकता नहीं कही जा सकती। फिर शब्दसमूहरूप मन्त्र, अर्थवाद कैसे निरर्थक होंगे? जिसकी निरर्थकता होती है, उसके अध्ययन में विवेकियों को विधिवाक्य प्रवृत्त नहीं करा सकता। जब वह समस्त वेद के अध्ययन में विवेकियों को प्रवृत्त कराता है, तो किसी भी अंश की पुरुषार्थशून्यता नहीं हो सकती।

इस पर लोगों का कहना है कि 'इस तरह अर्थवाद आदि की सार्थकता मान लेने पर भी इस वाक्य से यह तो नहीं सिद्ध होता कि अर्थवाद आदि किस तरह पुरुषार्थ के साधक हैं। अतः यही मान लेना बहुत है कि उनके पाठ से कुछ अदृष्ट या घृत-कुल्यादि फल प्राप्त होता है। परन्तु उनके अर्थज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। फिर स्तुति में लक्षणा, विधि के साथ एकवाक्यता आदि की बात तो दूर ही हो जाती है।'

इसका समाधान यह है कि जैसे इसी अध्ययनविधि से विधिवाक्यों की सफलता के लिए उनका अपने अर्थ का ज्ञान कराकर, उसीके द्वारा यज्ञादि क्रियाओं का अनुष्ठान कराकर, स्वर्गादि अलौकिक पुरुषार्थ का साधन करना आदि अर्थ निकाला जाता है। जैसे 'व्रीहीन् अवहन्ति' (धान को कूटें) इस विधि को नियमविधि इसलिए मानना पड़ता है कि पुरोडाश के लिए व्रीहि से तण्डुल बनाना आवश्यक है। वह जैसे कूटने से हो सकता है, वैसे ही नखविदलनादि द्वारा भी हो सकता है। तण्डुल बनाने के ये दोनों ही उपाय लौकिक दृष्टि से ही प्राप्त हैं। परन्तु विधि लोक से अप्राप्त में ही होती है—'विधिरत्यन्त-

मप्राप्तौ'। जब यहाँ लोकदृष्टि से ही चावल के लिए व्रीहि का अवघात प्राप्त है, तब तो उसके विधान के लिए अपूर्वविधि नहीं हो सकती। अतः 'नियमः पाक्षिके सति' पाक्षिक प्राप्ति में नियम होता है, इस दृष्टि से 'अवघातेनैव तण्डुलनिष्पत्तिं कुर्यात् न तु नखविदनादिना' इस नियमविधि से यह सिद्ध किया गया कि अवघात से ही निष्पन्न तण्डुल के द्वारा किये गये पुरोडाश से साध्य यज्ञादि से स्वर्ग होगा, नखविदलनादि से निष्पन्न तण्डुल द्वारा किये गये यज्ञ से नहीं। इसी तरह उक्त 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह अध्ययनविधि विधिवाक्यरूप वेदभाग के विषय में नियमविधि रूप से लागू होती है, क्योंकि साधारण रूप से किसी भी ग्रंथ का अर्थज्ञान करने के लिए उसका अध्ययन अन्वय-व्यतिरेकादि लौकिक युक्तियों से ही प्राप्त होता है। इसके लिए विधि निरर्थक है। फिर तो नियम से ही विधि की सार्थकता हो सकती है। वह नियम इस तरह का बनता है कि 'गुरुपूर्वक अध्ययन से ही वेदों को पढ़कर उनके अर्थों को जानकर, किये यज्ञों से स्वर्गादिरूप पुरुषार्थ की सिद्धि होती है।' व्याकरण, निरुक्त आदि द्वारा उनका अपने-आप अर्थ जानकर किये गये यज्ञों से स्वर्गादि नहीं होते। जैसे विधिवाक्य वेद हैं, वैसे ही अर्थवाद और मन्त्र भी वेद हैं। अतः उनके विषय में भी अध्ययनविधि को नियमविधि ही होना चाहिए। परन्तु यदि अक्षरपाठमात्र द्वारा उनकी पुरुषार्थसाधकता मानी जायगी, तब तो वह व्याकरण, निरुक्तादि द्वारा अर्थज्ञान की तरह मानान्तर से प्राप्त नहीं है। अतः "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" से ही अर्थवादादि की अक्षरपाठ द्वारा अदृष्टसाधकता सिद्ध होगी। इस दृष्टि से अर्थवाद आदि अंशों में "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" विधि अपूर्व-विधि समझी जायगी।

कहा जायगा कि 'तब क्या हानि है, विषयभेद से अध्ययन-विधि को अपूर्व और नियम दोनों ही विधि मान लें' परन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति' इस न्याय के अनुसार एक बार उच्चरित शब्द एक ही अर्थ का बोध कराता है। अतः एक ही विधिवाक्य से विधि आदि के अंश में नियमविधि और मन्त्र-अर्थवाद के विषय में अप्राप्तांश का विधान ये दोनों अर्थ बोधित होंगे, यह नहीं कहा जा सकता।

कहा जाता है कि जब विधिवाक्यों और अर्थवादादि वाक्यों दोनों के ही अध्ययन का विधान 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इसी एक विधि से ही करना है तब विधि-अंश में नियम-विधि मानने का ही आग्रह क्यों किया जाय? सर्वत्र ही पाठ-मात्र से पुरुषार्थ प्राप्त है ही। विधि-मन्त्र अर्थवाद सभीके अध्ययन का विधान अपूर्व ही क्यों न मान लिया जाय? तात्पर्य यह कि वेद का अध्ययन-विधान उसके किसी भी भाग के अर्थज्ञान द्वारा पुरुषार्थप्राप्ति के लिए न मानकर, पाठ द्वारा ही सभी भाग का फलप्राप्त्यर्थ क्यों न माना जाय? इस पर मीमांसकों का कहना है कि अध्ययन का अर्थज्ञानरूप दृष्ट (लोकसिद्ध) फल है, परन्तु अक्षरपाठ का कोई दृष्ट-फल लोकप्रसिद्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में दृष्टफल को छोड़कर अदृष्टफल की कल्पना करना अनुचित है। तस्मात् अध्ययन-विधि का अर्थज्ञानरूप दृष्ट ही फल मानना उचित है। यथा—"सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात्।" परन्तु जब कि वह लोक से ही प्राप्त है, तब अध्ययनविधि को नियमविधि-मान 'गुरुपरम्परा के द्वारा अर्थ जाने विना यज्ञादि का अनुष्ठान न करना चाहिए' इस निषेध में अवश्य ही उसका तात्पर्य मानना चाहिए।

इस स्थिति में विधि की तरह अर्थवाद-मन्त्र में अर्थज्ञान द्वारा ही स्वर्गादि-साधकता माननी चाहिए। यदि अध्ययनविधि का अर्थज्ञान ही मुख्य फल माना जाय। तब सन्देहविरोधादि मिटाने के लिए तत्प्रयुक्त वेदार्थविचाररूप पूर्वोत्तरमीमांसा का उत्थान हो सकता है। अन्यथा पाठ से ही पुरुषार्थ सिद्ध हो जाने पर वेदार्थ-विचार के लिये मीमांसा की अपेक्षा ही क्या रह जाती है? अतः जैसे अध्ययनविधि वेद के अध्ययन का विधान करती हुई वेद में प्रामाण्य सिद्ध करती है, वैसे ही वेदार्थ के विचार का विधान करती हुई वही अध्ययनविधि मीमांसादर्शन में भी प्रामाण्य सिद्ध करती है। इस तरह जब अध्ययनविधि के बल पर ही समस्त वेद स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ के साधक हैं, तब उसके ही भाग मन्त्र और अर्थवाद पुरुषार्थ-साधक क्यों न होंगे?

इसपर कहा जाता है कि 'अध्ययनविधि से वेद के अध्ययन का विधान होता है। 'वेद पुरुषार्थ का साधन है' यह तो उसके किसी भी अक्षर से नहीं निकलता। स्वयं अध्ययन भी परिश्रम-रूप दुःख से प्राप्त होने से 'पुरुषार्थ' नहीं कहा जा सकता। विधि या अर्थवाद के किसी भी वाक्य के अध्ययन में पुरुषार्थ-रूपता या पुरुषार्थसाधकता नहीं कही जा सकती।" परन्तु विचार करने से विदित होगा कि उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है। 'अध्येतव्यः' शब्द में आये हुए 'तव्य' प्रत्यय का अर्थ 'भावना' (करना) है। उसमें क्या (किसे) करे?—इस तरह भाव्य (किसी अभीष्ट) की आकाङ्क्षा होती है। 'अध्ये-तव्यः' 'इस पद में 'तव्य' से भिन्न अधि' + इ (अधि उपसर्ग पूर्वक इङ्) धातु ही बचा रहता है, जिसका अर्थ अध्ययन (पढ़ना) होता है। यदि उस अध्ययन से भाव्याकाङ्क्षा को

पूर्ति हो, तब तो 'अध्येतव्यः' का 'अध्ययन करें' ऐसा अर्थ निकलता है। परन्तु जब अध्ययन स्वयं कष्टरूप है, फलतः पुरुषार्थ नहीं है, तब उसकी भावना में सहस्रों उपदेशों से भी पुरुष क्यों प्रवृत्त होगा ? चूँकि उपदेशों का फल पुरुषप्रवृत्ति ही है, अतः यदि 'अध्येतव्यः' इस उपदेश से पुरुष की अध्ययन में प्रवृत्ति न हुई, तब तो यह उपदेश ही व्यर्थ होगा। अतः अध्ययन को भाव्याकाङ्क्षा का पूरक न मानकर साधनाकाङ्क्षा का ही पूरक मानना चाहिए। क्योंकि भावना (करने) को क्या (किसे) करे ? किससे करे और कैसे करे ?—इस तरह साध्य, साधन और इतिकर्तव्यताकाङ्क्षाएँ होती हैं।

जब अध्ययन का अन्वय 'साधनाकाङ्क्षापूरकत्वेन' हो गया, तब 'अध्येतव्यः' का "अध्ययन से सिद्ध करें" ऐसा अर्थ हुआ। फिर भी अभी साध्याकाङ्क्षा बनी ही है। यदि अध्ययन-साध्य अक्षरग्रहण से उसकी पूर्ति करें, तब अध्ययन से अक्षर ग्रहण करे—'अध्येतव्यः' का ऐसा अर्थ होगा। परन्तु तो भी व्यर्थ होगा। क्योंकि अक्षरग्रहण भी स्वयं पुरुषार्थ नहीं है। अक्षरग्रहण से भी, क्या करे ?—यह आकाङ्क्षा फिर भी बनी ही रहती है। यदि अध्ययन से अक्षरग्रहण और उससे स्वर्गादि अदृष्ट फल मानें अर्थात् अध्ययन से अक्षरग्रहण द्वारा स्वर्गादि फल की प्राप्ति—ऐसा 'अध्येतव्यः" विधि का अर्थ करें, तब भी 'अश्रुत एवं अदृष्ट फल की कल्पना और अक्षरग्रहण से उसकी सिद्धि'—ये दो कल्पनाएँ करनी पड़ेंगी। यदि अक्षरग्रहण से परे वाक्यज्ञान की कल्पना करें, तो वह भी स्वयं अपुरुषार्थ है। अतः वहाँ भी 'उससे क्या करें ?' ऐसी आकाङ्क्षा बनी ही रहेगी। इस तरह जबतक पुरुषार्थ से साध्याकाङ्क्षा की पूर्ति नहीं होगी, तबतक पुरुष की प्रवृत्ति न होगी और उपदेश भी

तब तक व्यर्थ ही रहेगा। अतः अन्त में अदृष्ट स्वर्गादि फल से ही साध्याकाङ्क्षा की पूर्ति करनी होगी। वहींसे साध्याकाङ्क्षा की निवृत्ति होगी।

साधन में तो 'उससे क्या करें?' इस तरह साध्य की आकाङ्क्षा होती है। परन्तु 'फल या सुख से क्या करें?' ऐसी आकाङ्क्षा नहीं होती। इस तरह अध्ययनविधि का अब यह आकार होगा कि 'अध्ययन से यथाक्रम अक्षरग्रहण, पदज्ञान, वाक्यार्थज्ञान तथा यज्ञानुष्ठान के द्वारा स्वर्गरूपी पुरुषार्थ प्राप्त करें।' यज्ञों से स्वर्ग का होना 'श्रुत' है। यज्ञादि के बिना केवल अध्ययन से ही स्वर्गकल्पना अयुक्त है। स्वर्ग सुख-साधन होने से ही यज्ञों में भी पुरुषों की प्रवृत्ति होगी। इस रीति से यज्ञानुष्ठान के कारण वाक्यार्थज्ञान और उसके कारण पदज्ञान, अक्षरग्रहण और अध्ययन में भी पुरुष की प्रवृत्ति हो सकेगी।

साक्षात् या परंपरा से जो पुरुषार्थ का कारण होता है, उसीमें पुरुष की प्रवृत्ति होती है। अतः एक ही पुरुषार्थरूप साध्य या भाव्य अपने साक्षात् कारण यज्ञानुष्ठान और परम्परागत कारण वाक्यार्थज्ञान, पदज्ञान, अक्षरग्रहण और अध्ययन सर्वत्र प्रवृत्ति करा देगा। अध्ययनविधि की सार्थकता तभी सिद्ध होती है। सम्पूर्ण विधिवाक्यों की यही रीति है। पुरुषार्थ-लाभ के बिना किसी भी विधिवाक्य की भाव्याकाङ्क्षा पूर्ण नहीं होती और उसके बिना विधि की चरितार्थता भी नहीं। इस तरह जब अध्ययनविधि से यह सिद्ध हो चुका कि समस्त वेद अर्थज्ञान द्वारा ही पुरुषार्थ के साधक होते हैं, तब तो अर्थवादादि वाक्यों का भी ऐसा ही अर्थज्ञान होना आवश्यक है, ताकि उनके ज्ञान-द्वारा परम्परया पुरुषार्थ का लाभ हो। जब अर्थवादों का वाच्य अर्थ ऐसा नहीं है, तब

'लक्षणा' से स्तुतिरूप अर्थ लेकर विधिवाक्य के साथ उनकी एकवाक्यता समझनी चाहिये।

कहा जाता है कि 'जैसे 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' (वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्न्याधान करे) इस विधि की भाव्याकाङ्क्षा आहवनीय (होमयोग्य अग्निविशेष) से ही पूर्ण हो जाती है, जो कि स्वयं पुरुषार्थ नहीं है। इसी तरह अपुरुषार्थरूप अक्षरग्रहण से ही 'अध्येतव्यः' इस विधिकी भाव्याकाङ्क्षा क्यों न पूर्ण की जाय ?' परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि आधानविधि तो अङ्गविधि है। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस प्रधान विधि के भाव्य स्वर्गफल से ही वह भी फलवान् है। अतः उसे पुरुषार्थ की आकाङ्क्षा नहीं है। अतएव वहाँ अपुरुषार्थ किन्तु परम्परया पुरुषार्थ में उपयुक्त आहवनीय (अग्नि) से भी भाव्याकाङ्क्षा की पूर्ति मानी जाती है। किन्तु 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह अध्ययनविधि तो प्रधान विधि है। अतः इसकी भाव्याकाङ्क्षा बिना पुरुषार्थ के पूर्ण नहीं हो सकती।

इसपर फिर भी शङ्का होती है कि 'यदि पुरुषार्थ से ही विधि की भाव्याकाङ्क्षा पूर्ण होती है, तब तो अध्ययनविधि का साक्षात् ही स्वर्गरूप फल क्यों न मान लिया जाय ? फिर वाक्यार्थज्ञान आदि की कल्पना क्यों की जाती है ?' इसका उत्तर यही है कि जब अक्षरग्रहण, पदज्ञान, वाक्यार्थज्ञान तथा यज्ञानुष्ठान के द्वारा अध्ययनविधि का स्वर्गरूप पुरुषार्थ में पर्यवसान हो ही जाता है, तब अध्ययन का स्वतंत्र स्वर्गफलमान कल्पना गौरव क्यों स्वीकार किया जाय ? दृष्टफल के संभव होते अदृष्टफल की कल्पना करना अनुचित है। इसलिए लोकानुभवानुसार यज्ञ द्वारा ही अध्ययन को स्वर्ग का हेतु मानना उचित है।

जिस व्यापार के बाद जिसकी उत्पत्ति होती है। उसका वही फल होता है। जैसे कुठार चलाने का 'द्वैधीभाव' फल समझा जाता है। इसी तरह अध्ययन से अर्थज्ञान होता है, अतः वह दृष्टानुसारी अध्ययन का फल कहा जा सकता है। यद्यपि यह भी कहा जा सकता है कि 'इस तरह तो होमविधि का भी अग्नि में हवि आदि काप्रक्षेप ही फल मानना चाहिए, फिर वहाँ भी अदृष्ट स्वर्गादि फल क्यों माना जाय?' पर यह ठीक नहीं। क्योंकि जो साक्षात् स्वयं ही पुरुषार्थ हो या पुरुषार्थ का साधन हो, वही फल हो सकता है। जिस विधिवाक्य में भाव्य की आकाङ्क्षा को पूर्ण करने के लिए अनेक क्रमिक पदार्थों की कल्पना से पुरुषार्थ लाभ हो सकता है, वहाँ उसी पुरुषार्थ में मध्यवर्ती दृष्ट पदार्थों द्वारा अदृष्ट फल से विधि की सफलता होती है। इसी से वहाँ अदृष्ट पुरुषार्थ साक्षात् प्रयोजन नहीं माना जाता। जैसे अध्ययनविधि से दृष्ट अक्षरग्रहणादि द्वारा अदृष्ट स्वर्गफल का लाभ हो सकता है। परन्तु होमविधि में तो होम के अनन्तर हवि का अग्नि में गिरना या जलना ही है। वह न स्वयं पुरुषार्थ ही है और न पुरुषार्थ का साधन। ऐसी स्थिति में वहाँ अगत्या होम का अदृष्ट ही साक्षात् पुरुषार्थ फल माना जाता है। ऐसा बिना माने होम में किसीकी प्रवृत्त नहीं हो सकती।

कहा जाता है कि 'अध्ययनविधि में अध्ययन का अक्षरग्रहणफल हो सकता है, क्योंकि वह अध्ययन का समीपवर्ती है। पूर्वोक्त रीत्या उसका परम्परया पुरुषार्थ से सम्बन्ध भी है। इसी तरह होमादि के समान अध्ययन का भी अदृष्ट स्वर्गादि भी साक्षात् फल हो सकता है। परन्तु वाक्यार्थज्ञान अध्ययन का फल कैसे हो सकता है? क्योंकि वह तो न अध्ययन के अनन्तरभावी है, न स्वयं पुरुषार्थ ही है।'

यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सभी विधिवाक्यों के विषय में मीमांसा में ऐसा विचार है कि 'व्रीहीनवहन्ति'। इस विधिवाक्य में व्रीहि का कूटना कहा गया है, जिसका फल भूसी मिटाना प्रत्यक्ष ही है। किन्तु वह पुरुषार्थ नहीं है अतः उसमें पुरुषप्रवृत्ति के लिए पुरुषार्थरूप भाव्य की आकांक्षा शान्त नहीं होती। उस आकांक्षा के पुरुषार्थपर्यवसान से पहले ही याग के लिए पुरोडाश का स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ के लिए यज्ञों का अन्य विधिवाक्यों से विधान होता है। अतएव उक्त पुरोडाशादि ही यज्ञ का और यज्ञादिक ही पुरुषार्थ का साधक होता है। अवघातादिक तो इन दोनों में से किसीका भी साधन नहीं है, इसीसे उसका पुरुषार्थ में पर्यवसान नहीं होता। किन्तु अवघातादि से पुरोडाश और यागादिरूपी साधनों का ही उपकार होता है। अवघात से लेकर पुरोडाश निर्माण तक जिन कार्यों का विधान होता है, जैसे 'तण्डुलान् पिनष्टि' (तण्डुलपेषण आदि), वे सब पुरोडाशादि की सिद्धि के लिए अवघातादि के द्वार अर्थात् व्यापारमात्र हैं। क्योंकि बिना पेषणादि-व्यापार के अवघातादि से पुरोडाश की सिद्धि ही नहीं हो सकती। इसी कारण पेषणादि का भी पुरुषार्थ में पर्यवसान नहीं होता। यह भी नहीं कह सकते कि 'पेषणादि अवधान और पुरोडाश के फल हैं।' ऐसा तब हो सकता, जब अवघातादि के विधान से प्रथम ही यह ज्ञात होता कि पेषणादि के फल पुरोडाशादि हैं।

यहाँ तो अवघातादि का ही विधान प्रथम है। पुरोडाश जिनसे बनता है, उन व्रीहियों के ही अवघात का विधान है। इससे प्रथम यही ज्ञात होता है कि अवघातादि पुरोडाशादि के साधक हैं। तब यह जिज्ञासा होती है कि किस

व्यापार से? इसी जिज्ञासा को पेषणविधि पूर्ण करती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पुरोडाशादि पेषण का फल नहीं, किन्तु अवघातादिक का ही है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि अवघातादि रूप अङ्गविधियों में पुरुषार्थ का पर्यवसान नहीं है, तो होमविधियों में भी अदृष्ट पुरुषार्थ की कल्पना नहीं होनी चाहिए। क्योंकि हवन किये हुए द्रव्य के भस्मीभाव में लोग श्रद्धा करते हैं। उस श्रद्धा के अनुसार यह भी विधि बन सकती है, कि 'हुतं द्रव्यं भस्मीकुर्यात्' (होम किये हुए द्रव्य को भस्म कर दें)। भस्मीभाव में अदृष्टफल-साधनता अवगत है, अतः भस्मीभाव भी फलरूप है। ऐसी दशा में जब होम-विधि के समीप कोई अदृष्ट पुरुषार्थरूपी फल नहीं कहा गया है, तब इस भस्मीभावरूप अदृष्टफल से ही होम की भाव्याकाङ्क्षा पूर्ण हो सकती है। अदृष्ट पुरुषार्थ की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है।' परन्तु उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि हविर्दाह में श्रद्धा इसलिए होती है कि हवि के वैसे ही अदग्ध रहने पर अस्पृश्य-स्पर्शन आदि से यज्ञ में वैगुण्य दोष आ सकते हैं। ऐसी स्थिति में वैगुण्य-निवारणार्थ उक्त विधि के बिना भी दाह-श्रद्धा की उपपत्ति हो सकती थी, तब श्रद्धा से 'हुतं द्रव्यं भस्मीकुर्यात्' इस विधिवाक्य की कल्पना को कहाँ अवकाश रहता है? कथंचित् उक्त विधिकल्पना मान भी लें, तो भी भस्म होना होम का फल नहीं कहा जा सकता। किन्तु अदृष्टरूपी पुरुषार्थ की उत्पत्ति में दाह की श्रद्धा को होम का व्यापारमात्र मान लेने से अनुमित विधि चारितार्थ हो सकती है। सारांश यही है कि 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि प्रधान विधिवाक्यों की अध्ययनविधि उनके अर्थों के ज्ञान और अनुष्ठान के द्वारा पुरुषार्थपर्य्यन्त पहुँचाती है। उक्त न्याय से जैसे पुरोडाश की सिद्धि के लिए विहित व्रीहि के अवघात का फल पुरोडाश ही है, वैसे ही वाक्यार्थ ज्ञान के

लिए विहित वेदाध्ययन का फल वाक्यार्थज्ञान ही है। जैसे पुरोडाश स्वयं पुरुषार्थ न होने पर भी यज्ञ द्वारा पुरुषार्थ का साधक होने से अवघात का फल होता है, वैसे ही यज्ञ द्वारा पुरुषार्थ का साधक होने से वाक्यार्थज्ञान वेदाध्ययन का फल है। जैसे 'व्रीहीनवहन्ति' इस वाक्य के अर्थ से ही मालूम होता है कि पुरोडाश व्रीहि का फल है। वैसे ही अध्ययनविधि के अर्थ से ही वेदार्थज्ञान अध्ययन का फल है—यह भी मालूम होता है। जैसे अवघात और पुरोडाश के मध्य में पेषणादि अवघात के फल नहीं हैं, किन्तु व्यापारमात्र हैं; वैसे ही अध्ययन और वाक्यार्थ-ज्ञान के बीच अक्षरग्रहणादि अध्ययन के फल नहीं, किन्तु अध्ययन के व्यापारमात्र हैं। तथा च अध्ययनविधि से विधिवाक्यों का अध्ययन, उनसे अक्षर-ग्रहण द्वारा वाक्यार्थ-ज्ञान, उससे यज्ञ और यज्ञ से स्वर्गादि पुरुषार्थ प्राप्त होता है।

'यदेव विद्या करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति'—ज्ञान से, श्रद्धा से किया गया कर्म ही वीर्यवान् होता है। सारांश यह कि समस्त वेद अपने ज्ञान के द्वारा ही पुरुषार्थ का साधक है। तस्मात् विधिवाक्यों से विहित यज्ञादि कर्मों की प्रशंसा के लिए ही अर्थवाद वाक्य सार्थक होते हैं। यद्यपि प्रशंसा अर्थवादों का वाच्यार्थ नहीं है, तथापि लक्ष्यार्थ अवश्य है। लक्षणा में प्रमाण 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह वाक्य ही है। इसका अर्थ है—अर्थज्ञान के द्वारा समस्त वेद पुरुषार्थ का साधक है। अर्थवाद-वाक्य भी वेद के ही अन्तर्गत हैं। अतः वे भी अर्थज्ञान द्वारा पुरुषार्थ के साधक होने ही चाहिए। अर्थवादों का वाच्यार्थ सिद्धरूप है। अतः उसके ज्ञान से यज्ञादि क्रिया में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, जिससे पुरुषार्थसिद्धि

हो सके। इसीलिए प्रवर्तक विधि-वाक्यों के साथ अर्थवाद-वाक्यों की एकवाक्यता होती है।

एकवाक्यता से ही अर्थवादों में पुरुषार्थ-साधकता हो सकती है। वाच्यार्थ से एकवाक्यता सम्भव नहीं। अतः लक्षणा से प्रशंसा ही अर्थवादों का अर्थ होता है। "अतः प्रशस्तेनानेन यज्ञेन स्वर्गं भावयेत्।"—यह यज्ञ प्रशस्त है, इसके द्वारा स्वर्गभावन करना चाहिए, यह सारांश निकलता है।

फिर भी कहा जाता है कि 'यद्यपि पूर्वोक्त रीति से अध्ययन-विधि से अर्थज्ञानपर्यन्त अध्ययन निश्चित होता है, परन्तु उसके बाद अध्ययनविधि निर्व्यापार हो जायगी। 'यदेव विद्यया करोति' इत्यादि श्रुति भी इतना ही बतलाती है कि वाक्यार्थ-ज्ञान यज्ञ का साधन है, इसके अनन्तर यह भी निर्व्यापार हो जायगी। ऐसी स्थिति में वाक्यार्थज्ञान यज्ञ के द्वारा स्वर्गादि-रूप पुरुषार्थ का साधक है—यह किस प्रकार सिद्ध हो गया ?' परन्तु इसका समाधान यही है कि जैसे 'अध्ययनेन वाक्यार्थज्ञानं भावयेत्'—अध्ययन से वेदवाक्यों का अर्थज्ञान प्राप्त करें, यह अध्ययनविधि का व्यापार होता है और इससे वाक्यार्थज्ञान अध्ययन का फल सिद्ध होता है। इसी तरह 'यदेव विद्यया करोति' इस श्रुति के द्वारा भी "ज्ञानेन कर्म भावयेत्" (ज्ञान से कर्म सम्पादन करे।) इस विधि की कल्पना होगी, उससे वाक्यार्थ-ज्ञान की क्रत्वर्थता सिद्ध होगी। उसके अनन्तर "स्वर्गकामो यजेत्", आदि विधिवाक्यों से 'यागेनस्वर्गं भावयेत्' (याग से स्वर्ग की भावना करे) इस व्यापार द्वारा याग भावना-भाव्य होने से यज्ञादि का स्वर्गादि फल सिद्ध होता है। इस तरह यज्ञ

की साक्षात् पुरुषार्थसाधकता एवं यागार्थ कर्मविधायक वैदिक वाक्यार्थज्ञान एवं ज्ञानार्थ वेदाध्ययन की भी परम्परा से पुरुषार्थसाधकता सिद्ध हो जाती है।

यहाँ कहा जाता है कि 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि प्रधान विधिवाक्यों का तात्पर्य अपने अर्थज्ञान कराने ही में होने से अध्ययनविधि का उनके अर्थज्ञान कराने में पर्यवसान हो सकता है, परन्तु "व्रीहीनवहन्ति" (धान कूटे) इत्यादि अङ्गविधियों के अर्थज्ञान में अध्ययनविधि का पर्यवसान नहीं हो सकता क्योंकि उनका तात्पर्य अपना अर्थज्ञान कराने में समाप्त नहीं होता। जैसे प्रधान विधियों के बल से मंत्रों के अर्थ और शब्द दोनों गृहीत होते हैं। अतएव कर्म के समय मंत्रों का पाठ होता है। इसी तरह प्रधान विधिवाक्यों के बल से अङ्गविधियों का भी स्वार्थ प्रतिपादनमात्र में तात्पर्य नहीं है, किन्तु स्वाक्षरपाठ में भी तात्पर्य होगा। इस दृष्टि स जैसे मन्त्रों के सम्बन्ध में "अध्ययनेनार्थं ज्ञात्वा पाठं भावयेत" (अध्ययन से अर्थ जानकर पाठ करें) इस प्रकार अध्ययनविधि का समन्वय होता है, उसी प्रकार अङ्गविधियों से भी समन्वय होगा। निष्कर्ष यह कि अध्ययनविधियों का अर्थ-ज्ञानपर्यन्त ही व्यापार होता है—यह नहीं कहा जा सकता।

पर इसका भी समाधान यही है कि मंत्रों का कर्म के समय पाठ प्रधान-विधियों से नहीं ज्ञात होता। किंतु "उरू प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति "उरू प्रथस्व" (इस मन्त्र से पुरोडाश की प्रथा करे) इत्यादि अन्यान्य विधियों से ही मन्त्रों का पाठ प्राप्त होता है, परन्तु अङ्ग विधियों के कर्मकाल में पाठ का विधायक कोई विधिवाक्य नहीं है। अतः अंगविधियों के सम्बन्ध में भी अर्थ-

ज्ञानपर्यन्त ही अध्ययनविधि का व्यापार होता है। 'समिधो यजति'— इत्यादि प्रयाजादि वाक्य प्रयाज आदि की प्रधान कर्माङ्गता मात्र बोधन कराते हैं, उनका पाठ विधान नहीं करते हैं। प्रधान विधिवाक्य भी अंगविधियों के अक्षरपाठ में प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्रधान विधि-विहित यज्ञ स्वर्गरूप अदृष्ट के साधक हैं, अतः उसे अदृष्ट उपकार की ही अपेक्षा है। उसकी पूर्ति प्रयाज आदि अङ्ग-याग-साध्य अदृष्ट से हो जाती है। अक्षर-पाठ तो लोकदृष्ट ही है, उसमें प्रधान विधि का प्रामाण्य कथमपि नहीं है। अंगविधियों का उनके अर्थों के अनुष्ठान द्वारा यज्ञ में संबंध हो सकता है। तब बिना किसी प्रमाण के कर्म-काल में उनके पाठ की कल्पना कथमपि सङ्गत नहीं हो सकती। यदि बिना प्रमाण के भी पाठ-कल्पना हो सकती, तो "उरू प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति" इत्यादि विधि-वाक्य व्यर्थ ही हो जाते।

इसपर भी कहा जाता है कि 'अध्ययनविधि तो समस्त वेद के लिए है, परन्तु वेदान्त-वाक्यों की तो यज्ञों में उपकारकता किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकती।' पर यह तर्क भी युक्तियुक्त नहीं है। कारण जैसे अग्न्याधान-विधिवाक्य दूर से ही यज्ञोपकारी होता है, उसी प्रकार वेदान्त-वाक्य देह, इन्द्रियादि से भिन्न नित्य जीवात्मा का ज्ञान कराकर यज्ञोपकारी होते हैं। बात यह है कि नित्यात्मबोध के बिना देहात्मवादी प्राणी की पारलौकिक यज्ञादि में प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती।

यद्यपि कहा जा सकता है कि 'आत्मा का ज्ञान यज्ञादि की तरह क्रियारूप नहीं है, अतः उसका विधान अध्ययन-विधि से कैसे हो सकेगा ?' पर यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादि विधिवाक्यों से आत्मा की उपासना प्रतीत होती है। तदर्थ आत्मस्वरूप प्रतिपादन आवश्यक है और फिर उसके लिए वेदान्तवाक्य भी सार्थक हैं। अथवा सफल एवं निश्चित अर्थ का बोधक होने से समस्त वेदों का प्रामाण्य है। जैसे विधि-वाक्य फलवान् निश्चित अर्थ के बोधक हैं, वैसे ही वेदान्त भी। वेदान्त-जन्य ब्रह्म-साक्षात्कार सकल अनर्थों का निवर्तक एवं परमानन्द का प्रापक होने से वेदान्त भी सफल ही है। इस प्रकार सफल स्वार्थबोध के द्वारा वेद पुरुषार्थ का साधक है।

यद्यपि अर्थवादों के द्वारा किसी क्रिया का विधान नहीं होता, साथ ही स्वर्गादितुल्य किसी भाव्यांश क्रियाफल का भी प्रतिपादन अर्थवाद नहीं करते और न 'व्रीहीनवहन्ति' के तुल्य अर्थवादों के द्वारा इतिकर्तव्यता का ही प्रतिपादन होता है, तथापि विधिवाक्यों से विहित यज्ञ आदि की प्रशंसा ही अर्थवाद-वाक्यों का लक्ष्य अर्थ है। तभी विधि के साथ एकवाक्यता द्वारा 'प्रशस्तेनानेन यज्ञेन स्वर्गं भावयेत्' यह अर्थ निष्पन्न होता है।

विध्यर्थ भावना-विचार : ४ :

कहा जाता है कि जैसे अध्ययनविधि से यह नहीं सिद्ध होता कि अर्थवादों के वाच्यार्थ का ज्ञान उनके अध्ययन का फल है, क्योंकि वाच्यार्थ सिद्धरूप है, वह पुरुषार्थ का साधक नहीं हो सकता है, वैसे ही प्रशंसारूप लक्ष्यार्थ का ज्ञान भी तब तक अर्थवादों के अध्ययन का फल नहीं हो सकता है जब तक प्राशस्त्यज्ञान की कर्तव्यता में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं मिलता। राग-

वशात् या विधिवशात् जिस कार्य में कर्तव्यता नहीं ज्ञात होती, वह किसी क्रिया का फल नहीं हुआ करता—यह लोकसिद्ध बात है। उसी कर्तव्यता को गौण भाव्यता भी कहा जाता है। इसीलिए कर्तव्य, भाव्य, फल इन तीनों शब्दों का एक ही अर्थ होता है। अर्थवादों का अर्थ जब विध्यर्थ भावना के तीनों ही अंशों में से किसीमें नहीं आता, ऐसी स्थिति में अर्थवादों का प्रशंसारूप लक्ष्यार्थ अध्ययनविधि का फल नहीं हो सकता। फिर अध्ययनविधि से उसकी कर्तव्यता भी कैसे सिद्ध होगी?' परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि यद्यपि प्रशंसारूपी अर्थवादों का लक्ष्यार्थ आर्थी-भावना के साध्य, साधन, इतिकर्तव्यता का इनमें से किसीमें नहीं आता, तथापि अध्ययनविधि की शाब्दी भावना में उसका निवेश हो जाता है। विधिवाक्यों में लिङ्, लोट् या तव्य प्रत्यय अवश्य होते हैं। उनका भावना ही अर्थ होता है। वह भावना भी दो प्रकार की होती है—एक आर्थी भावना, दूसरी शाब्दी भावना। जैसे 'यजेत' से 'यज्' प्रकृति है, लिङ्-प्रत्यय है। लिङ् में लिङ्त्व और आख्यातत्व ये दो धर्म होते हैं। आख्यातत्व दसों लकारों में रहता है, किन्तु लिङ्त्वधर्म लिङ् में ही रहता है। आख्यात का अर्थ है—आर्थीभावना और लिङ् का शाब्दी भावना। "अर्थयते इत्यर्थः" इस व्युत्पत्ति से फलकामना-वाला पुरुष ही 'अर्थ' शब्द का वाच्य है। उसीकी भावना आर्थी-भावना कही जाती है। इस प्रकार भावयिता पुरुष में रहनेवाला वह यत्न-विशेष आर्थी-भावना कहा जाता है, जिससे फल-भावना पैदा होती है। उस आर्थी-भावना के तीन अंश होते हैं–'किं भावयेत्', 'कथं भावयेत्' एवं 'केन भावयेत्'। अर्थात् साध्य, साधन एवं इतिकर्तव्यता (प्रक्रिया)। स्वर्ग आदि से साध्याकांक्षा पूरी होती है, याग से साधनविषयक आकांक्षा पूरी होती है। प्रयाज

आदि रूप अङ्गों से इतिकर्तव्यता की आकांक्षा पूरी होती है।

'रथो गच्छति' (रथ जाता है) इत्यादि स्थलों में अचेतन की प्रवृत्ति आख्यात का लाक्षणिक अर्थ है। मुख्य आर्थी-भावना तो पुरुष का आन्तरिक प्रयत्न ही है, और वही 'पचति', 'खादति' आदि सभी क्रियाओं के तिबादि आख्यातों का अर्थ है। आख्यातों का क्रियासामान्य लक्ष्यार्थ होता है, वह सचेतन, अचेतन-सबमें रह सकता है। अतएव माधवाचार्य का यह कथन भी संगत होता है—"सर्वधात्वर्थसम्बद्धः करोत्यर्थो हि भावना।" अर्थात् सब धात्वर्थों से सम्बद्ध क्रिया (करोत्यर्थ) ही भावना है।

नैयायिक भी यही मानते हैं—

"भावनैव हि यत्नात्मा सर्वाख्यातस्य गोचरः।
तया विवरणध्रौव्यादाक्षेपानुपपत्तितः॥"

अर्थात् पुरुषों का आन्तरिक प्रयत्न (प्रवृत्ति) रूप भावना ही सब आख्यातों का अर्थ है। "भोजनाय काष्ठादिना पाको भवतु", "स्वर्गाय हविरादिना यागो भवतु" (भोजन के लिए काष्ठादि से पाक सम्पन्न हो, स्वर्ग के लिए हवि आदि से याग सम्पन्न हो) इस तरह इच्छा के समान ही इस भावना का आकार होता है। इस प्रवृत्ति का भोजन एवं स्वर्ग आदि से जो सम्बन्ध है, उसीको फलता, भाव्यता या उद्देश्यता कहते हैं। इसीसे भोजन, स्वर्ग आदि फल उद्देश्य या भाव्य कहे जाते हैं। उनमें भी सुखरूप एवं दुःखाभावरूप स्वर्गादि मुख्यफल का है, भोजनादि सुखादि - साधन होने से गौणफल है। प्रवृत्ति, पाक यागादि से जो सम्बन्ध है, उसीको साध्यता या विधेयता कहा जाता है। फलतः पाक एवं याग आदि साध्य, विधेय या करण कहे जाते हैं। पाक, याग आदि क्रियाओं के साधन काष्ठ, हवि आदि सिद्धपदार्थ उपादान कहे जाते हैं—

"सिद्धं साध्यं फलञ्चेति प्रवृत्तेर्विषयस्त्रिधा।
तत्र सिद्धमुपादानं क्रिया साध्यं फलं सुखम्॥"

पार्थसारथि मिश्र के अनुसार भावना व्यापार-विशेषरूप ही है, जिससे कि दूसरी क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। जैसे पुरुष के आन्तरिक व्यापार से पाकक्रिया होती है, उसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिए। वह व्यापाररूप भावना प्रायः चेतन में ही रहती है, परन्तु चेतन में ही रहने का सर्वथा नियम नहीं है। अतएव "रथो गच्छति" (रथ जाता है) इत्यादि वाक्योंमें चक्र-भ्रमणरूप भावना अचेतन की ही है, उसीसे अग्रिमदेश-प्राप्ति के लिए रथ में गमनक्रिया होती है। इसलिए "रथो गच्छति" के 'ति' आख्यान का भी भावनारूप मुख्य ही अर्थ है। लक्षणा की आवश्यकता नहीं है। लोक में जैसे 'पचति' क्रिया की आर्थी-भावना का पाक भाव्य है, काष्ठ आदि करण हैं, अग्नि-ध्मान [आग, फूकना] आदि इतिकर्तव्यता है, वैसे ही वैदिक वाक्यों में भी आर्थी भावना होती है। लोक में तीनों अंश लौकिक होते हैं, वेद में तीनों अंश वैदिक ही होते हैं, क्योंकि भावना वेदैकगम्य है। इस आर्थी-भावना का स्वर्ग आदि फल है, यागादि साध्य (अनुष्ठेय) है। स्वर्गादि के प्रति यागादि साधन भी है। प्रयाजादि इतिकर्तव्यता है। यागादि के प्रति हवि आदि साधन हैं। इनमें अर्थवाद के लक्ष्यार्थ प्रशंसा का कुछ भी उपयोग नहीं है।

तथापि विधिरूप लिङादि आख्यातों का असाधारण अर्थ दूसरी भावना है, उसीको शब्द-भावना और अभिधा-भावना कहा जाता है। उसमें भी भाव्य, करण एवं इतिकर्तव्यता होती है। इस शाब्दी भावना का भाव्य पूर्वोक्त यागसम्बन्धिनी पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थी भावना है। लिङादि सम्बन्ध का ज्ञान ही

उसका करण है, अर्थवादों की लक्ष्यार्थभूत प्रशंसा इतिकर्तव्यता है। जैसे पिछली आर्थी भावना में 'किं भावयेत्, केन भावयेत्, 'कथं भावयेत्' इस प्रकार त्रिविध आकाङ्क्षाएँ होती हैं, उनकी पूर्त्ति भी 'स्वर्गं भावयेत्, यागेन भावयेत् प्रयाजादिभिरङ्गैरुपकृत्य भावयेत्' इस तरह होती है, उसी तरह शाब्दी भावना में भी 'किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेत्' यह साध्याकाङ्क्षा, साधनाकाङ्क्षा तथा इतिकर्तव्यताकाङ्क्षा होती है और उनकी पूर्ति भी इस तरह होती है 'पुरुषप्रवृत्तिरूपामंशत्रयवतीमार्थींभावनां भावयेत्, लिङादिज्ञानेन भावयेत्, अर्थवादैः प्राशस्त्यमवबोध्य भावयेत्।' यही बात भट्टपाद ने भावार्थाधिकरण में कही है :—

"अभिधा भावनामाहुरन्यामेव लिङादयः।
अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते ॥"

अर्थात् लिङादि विधिरूप आख्यात का अर्थ अभिधा भावना है, यह लिङादिरूप आख्यात का ही अर्थ है। आर्थी भावना सभी आख्यातों का साधारण अर्थ है। लिङादि विधि आख्यात भी है, किन्तु उसमें आख्यातांश का अर्थ आर्थी भावना है, लिङंश का अर्थ शाब्दी या अभिधाभावना है। 'पथ्यमश्नीयात्' इत्यादि लौकिक विधिवाक्यों में भी आख्यातार्थ, लिङर्थ दोनों ही भावनाएँ होती हैं। पुरुषप्रवृत्तिरूपा भावना आख्यातार्थ है, पुरुषप्रवृत्ति के प्रयोजक प्रवर्तयिता की भावना लिङर्थ है। वेद अपौरुषेय है, अतः वहाँ प्रवर्तयिता कोई पुरुष नहीं है। अतः लोक में यद्यपि लिङर्थ भी प्रयोजक पुरुष की ही भावना है, किन्तु वेद में शब्द ही प्रवर्तक है, अतः अंशत्रयवती आर्थी भावना की प्रवर्त्तिका शाब्दी भावना कही जाती है। लिङ् के श्रवण से श्रोता समझता है कि यह मुझे प्रवृत्त कर रहा है। लोक में पिता आदि पुत्रादि के प्रवर्तक होते हैं, वैदिक व्यवहार में वेद ही प्रवर्तक समझा

वशात् या विधिवशात् जिस कार्य में कर्तव्यता नहीं ज्ञात होती, वह किसी क्रिया का फल नहीं हुआ करता—यह लोकसिद्ध बात है। उसी कर्तव्यता को गौण भाव्यता भी कहा जाता है। इसीलिए कर्तव्य, भाव्य, फल इन तीनों शब्दों का एक ही अर्थ होता है। अर्थवादों का अर्थ जब विध्यर्थ भावना के तीनों ही अंशों में से किसीमें नहीं आता, ऐसी स्थिति में अर्थवादों का प्रशंसारूप लक्ष्यार्थ अध्ययनविधि का फल नहीं हो सकता। फिर अध्ययनविधि से उसकी कर्तव्यता भी कैसे सिद्ध होगी ?' परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि यद्यपि प्रशंसारूपी अर्थवादों का लक्ष्यार्थ आर्थी-भावना के साध्य, साधन, इतिकर्तव्यता का इनमें से किसीमें नहीं आता, तथापि अध्ययनविधि की शाब्दी भावना में उसका निवेश हो जाता है। विधिवाक्यों में लिङ्, लोट् या तव्य प्रत्यय अवश्य होते हैं। उनका भावना ही अर्थ होता है। वह भावना भी दो प्रकार की होती है—एक आर्थी भावना, दूसरी शाब्दी भावना। जैसे 'यजेत' से 'यज्' प्रकृति है, लिङ्-प्रत्यय है। लिङ् में लिङ्त्व और आख्यातत्व ये दो धर्म होते हैं। आख्यातत्व दसों लकारों में रहता है, किन्तु लिङ्त्वधर्म लिङ् में ही रहता है। आख्यात का अर्थ है—आर्थीभावना और लिङ् का शाब्दी भावना। "अर्थयते इत्यर्थः" इस व्युत्पत्ति से फलकामना-वाला पुरुष ही 'अर्थ' शब्द का वाच्य है। उसीकी भावना आर्थी-भावना कही जाती है। इस प्रकार भावयिता पुरुष में रहनेवाला वह यत्न-विशेष आर्थी-भावना कहा जाता है, जिससे फल-भावना पैदा होती है। उस आर्थी-भावना के तीन अंश होते हैं—'किं भावयेत्', 'कथं भावयेत्' एवं 'केन भावयेत्'। अर्थात् साध्य, साधन एवं इतिकर्तव्यता (प्रक्रिया)। स्वर्ग आदि से साध्याकांक्षा पूरी होती है, याग से साधनविषयक आकांक्षा पूरी होती है। प्रयाज

आदि रूप अङ्गों से इतिकर्तव्यता की आकांक्षा पूरी होती है।

'रथो गच्छति' (रथ जाता है) इत्यादि स्थलों में अचेतन की प्रवृत्ति आख्यात का लाक्षणिक अर्थ है। मुख्य आर्थी-भावना तो पुरुष का आन्तरिक प्रयत्न ही है, और वही 'पचति', 'खादति' आदि सभी क्रियाओं के तिबादि आख्यातों का अर्थ है। आख्यातों का क्रियासामान्य लक्ष्यार्थ होता है, वह सचेतन, अचेतन—सबमें रह सकता है। अतएव माधवाचार्य का यह कथन भी संगत होता है—"सर्वधात्वर्थसम्बद्धः करोत्यर्थो हि भावना।" अर्थात् सब धात्वर्थों से सम्बद्ध क्रिया (करोत्यर्थ) ही भावना है।

नैयायिक भी यही मानते हैं—

> "भावनैव हि यत्नात्मा सर्वाख्यातस्य गोचरः।
> तया विवरणध्रौ व्याघाताक्षेपानुपपत्तितः॥"

अर्थात् पुरुषों का आन्तरिक प्रयत्न (प्रवृत्ति) रूप भावना ही सब आख्यातों का अर्थ है। "भोजनाय काष्ठादिना पाको भवतु", "स्वर्गाय हविरादिना यागो भवतु" (भोजन के लिए काष्ठादि से पाक सम्पन्न हो, स्वर्ग के लिए हवि आदि से याग सम्पन्न हो) इस तरह इच्छा के समान ही इस भावना का आकार होता है। इस प्रवृत्ति का भोजन एवं स्वर्ग आदि से जो सम्बन्ध है, उसीको फलता, भाव्यता या उद्देश्यता कहते हैं। इसीसे भोजन, स्वर्ग आदि फल उद्देश्य या भाव्य कहे जाते हैं। उनमें भी सुखरूप एवं दुःखाभावरूप स्वर्गादि मुख्यफल का है, भोजनादि सुखादि - साधन होने से गौणफल है। प्रवृत्ति, पाक यागादि से जो सम्बन्ध है, उसीको साध्यता या विधेयता कहा जाता है। फलतः पाक एवं याग आदि साध्य, विधेय या करण कहे जाते हैं। पाक, याग आदि क्रियाओं के साधन काष्ठ, हवि आदि सिद्धपदार्थ उपादान कहे जाते हैं—

"सिद्ध' साध्यं फलञ्चेति प्रवृत्तेर्विषयस्त्रिधा ।
तत्र सिद्धमुपादानं क्रिया साध्यं फलं सुखम् ॥"

पार्थसारथि मिश्र के अनुसार भावना व्यापार-विशेषरूप ही है, जिससे कि दूसरी क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। जैसे पुरुष के आन्तरिक व्यापार से पाकक्रिया होती है, उसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिए। वह व्यापाररूप भावना प्रायः चेतन में ही रहती है, परन्तु चेतन में ही रहने का सर्वथा नियम नहीं है। अतएव "रथो गच्छति" (रथ जाता है) इत्यादि वाक्योंमें चक्र-भ्रमणरूप भावना अचेतन की ही है, उसीसे अग्रिमदेश-प्राप्ति के लिए रथ में गमनक्रिया होती है। इसलिए "रथो गच्छति" के 'ति' आख्यान का भी भावनारूप मुख्य ही अर्थ है। लक्षणा की आवश्यकता नहीं है। लोक में जैसे 'पचति' क्रिया की आर्थी-भावना का पाक भाव्य है, काष्ठ आदि करण हैं, अग्नि-ध्मान [आग, फूकना] आदि इतिकर्तव्यता है, वैसे ही वैदिक वाक्यों में भी आर्थी भावना होती है। लोक में तीनों अंश लौकिक होते हैं, वेद में तीनों अंश वैदिक ही होते हैं, क्योंकि भावना वेदैकगम्य है। इस आर्थी-भावना का स्वर्ग आदि फल है, यागादि साध्य (अनुष्ठेय) है। स्वर्गादि के प्रति यागादि साधन भी है। प्रयाजादि इतिकर्तव्यता है। यागादि के प्रति हवि आदि साधन हैं। इनमें अर्थवाद के लक्ष्यार्थ प्रशंसा का कुछ भी उपयोग नहीं है।

तथापि विधिरूप लिङादि आख्यातों का असाधारण अर्थ दूसरी भावना है, उसीको शब्द-भावना और अभिधा-भावना कहा जाता है। उसमें भी भाव्य, करण एवं इतिकर्तव्यता होती है। इस शाब्दी भावना का भाव्य पूर्वोक्त यागसम्बन्धिनी पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थी भावना है। लिङादि सम्बन्ध का ज्ञान ही

उसका करण है, अर्थवादों की लक्ष्यार्थभूत प्रशंसा इतिकर्तव्यता है। जैसे पिछली आर्थी भावना में 'किं भावयेत्, केन भावयेत्, 'कथं भावयेत्' इस प्रकार त्रिविध आकाङ्क्षाएँ होती हैं, उनकी पूर्ति भी 'स्वर्गं भावयेत्, यागेन भावयेत् प्रयाजादिभिरङ्गैरुपकृत्य भावयेत्' इस तरह होती है, उसी तरह शाब्दी भावना में भी 'किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेत्' यह साध्याकाङ्क्षा, साधनाकाङ्क्षा तथा इतिकर्तव्यताकाङ्क्षा होती है और उनकी पूर्ति भी इस तरह होती है 'पुरुषप्रवृत्तिरूपामंशत्रयवतीमार्थींभावनां भावयेत्, लिङादिज्ञानेन भावयेत्, अर्थवादैः प्राशस्त्यमवबोध्य भावयेत्।' यही बात भट्टपाद ने भावार्थाधिकरण में कही है :—

"अभिधा भावनामाहुरन्यामेव लिङादयः।
अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते॥"

अर्थात् लिङादि विधिरूप आख्यात का अर्थ अभिधा भावना है, यह लिङादिरूप आख्यात का ही अर्थ है। आर्थी भावना सभी आख्यातों का साधारण अर्थ है। लिङादि विधि आख्यात भी है, किन्तु उसमें आख्यातांश का अर्थ आर्थी भावना है, लिङंश का अर्थ शाब्दी या अभिधाभावना है। 'पथ्यमश्नीयात्' इत्यादि लौकिक विधिवाक्यों में भी आख्यातार्थ, लिङर्थ दोनों ही भावनाएँ होती हैं। पुरुषप्रवृत्तिरूपा भावना आख्यातार्थ है, पुरुषप्रवृत्ति के प्रयोजक प्रवर्तयिता की भावना लिङर्थ है। वेद अपौरुषेय है, अतः वहाँ प्रवर्तयिता कोई पुरुष नहीं है। अतः लोक में यद्यपि लिङर्थ भी प्रयोजक पुरुष की ही भावना है, किन्तु वेद में शब्द ही प्रवर्तक है, अतः अंशत्रयवती आर्थी भावना की प्रवर्त्तिका शाब्दी भावना कही जाती है। लिङ् के श्रवण से श्रोता समझता है कि यह मुझे प्रवृत्त कर रहा है। लोक में पिता आदि पुत्रादि के प्रवर्तक होते हैं, वैदिक व्यवहार में वेद ही प्रवर्तक समझा

जाता है। इसीलिए वैदिक विधिवाक्यों में आख्यातांश का अर्थ पौरुषेयी या आर्थी भावना होता है तथा लिङंश का अर्थ शाब्दी-भावना होता है।

यहाँ यह आक्षेप होता है कि 'लिङादि विधिरूप आख्यातों में आर्थी भावना से अन्य कोई भावना सिद्ध नहीं होती, जो कि शाब्दी भावना कही जा सके। लिङादि शब्दों के श्रवणानन्तर जो यज्ञ, पाकादि क्रियाओं में श्रोता पुरुषों की प्रवृत्ति होती है, उसके हेतुभूत पदार्थ को ही शब्द-भावना कहा जाता है। परन्तु वह कोई पदार्थ सिद्ध नहीं होता।

'कई लोग लिङ्गादिरूप आख्यात से ही पुरुषों की प्रवृत्ति मानते हैं। कई लिङादि शब्दों की विलक्षण क्रिया को ही प्रवृत्ति-हेतु मानते हैं। कोई लिङादि आख्यातों की शक्ति को ही प्रवर्त्ति-का मानते हैं। कोई आज्ञा को तो कोई नियोग (अलौकिक व्यापार) को प्रवर्तक मानते हैं। कोई इच्छा को, कोई फलनिष्ठ प्रीति को, कोई साधनता को, कोई फलनिष्ठ साध्यता को, कोई कृतिसाध्यता को, कोई इष्टसाधनता को, कोई कृतिसाध्यता, इष्टसाधनता दोनों ही को, कोई इष्टसाधनता, कृतिसाध्यता और बलवदनिष्टा-ननुबन्धिता (इष्ट की अपेक्षा बलवान् अनिष्ट का साधन न होना) तीनों को प्रवर्तक मानते हैं। कोई प्रवर्तना रूप से लिङादि वाच्य इष्ट साधनता को ही प्रवर्तक मानते हैं। कोई आप्तों के अभिप्राय को प्रवर्तक मानते हैं।'

किन्तु लिङादि आख्यात ही पुरुष का प्रवर्तक है, यह प्रथम पक्ष सम्भव नहीं, क्योंकि जैसे वायु साक्षात् तृणादि में व्यापार उत्पन्न करता है, वैसे लिङादि शब्दस्वरूप से पुरुष में प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं करते। क्योंकि शब्द अपने अर्थबोधन द्वारा ही प्रमाण कहलाता है। लिङादि शब्द यदि अपने अर्थबोध के बिना वायु की

तरह प्रवृत्ति करायेंगे, तो वे प्रमाण नहीं हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त घटादि शब्द तभी अपने अर्थों का बोध कराते हैं, जब उनका पूर्व से ही अपने अर्थ के साथ श्रोता को सम्बन्धज्ञान रहता है। इसी तरह लिङादि भी सम्बन्ध (शक्ति) - ज्ञानपूर्वक ही श्रोता को स्वार्थ का बोध करायेंगे। परन्तु यदि लिङादि वायु के समान प्रवर्तक हों, तो उन्हें सम्बन्धज्ञान की आवश्यकता ही क्यों होगी ?

साथ ही 'यजेत्' आदि क्रिया गत 'एत्' रूप आख्यात बिना 'यजि' के स्वार्थबोध नहीं कराते। किन्तु यदि लिङादि वायु के समान प्रवर्तक हैं, तो वे यजि आदि की अपेक्षा क्यों रखेंगे ? यदि लिङादि शब्द वायुवत् प्रवृत्ति कराते हैं, तब तो फलानुसन्धान के बिना भी तृणादिवत् पुरुषों की प्रवृत्ति होनी चाहिए। जिस विधिवाक्य में फल श्रुत नहीं होता, उसमें भी लिङादि बलसे फल की कल्पना की जाती है। जैसे 'विश्वजिता यजेत' इस विधि में फलश्रुत नहीं है, तो भी स्वर्ग की कल्पना की जाती है। 'स हि स्वर्गः सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्' अर्थात् विश्वजित् याग से साध्य फल स्वर्ग ही है, क्योंकि वह सबके प्रति समान रूप से अभीष्ट होता है। यदि लिङादि शब्द वायु के समान प्रवर्तक हों, तब तो फलानुसन्धान के बिना ही उनसे प्रवृत्ति हो हो जाती। फिर स्वर्गादि की कल्पना क्यों की जाय ? यदि कहा जाय कि लिङादि शब्द ऐसे व्यापार का बोध कराते हैं, जिससे यज्ञादि कर्मों में पुरुषों की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् यज्ञादि कर्मों में एक ऐसी शक्ति होती है, जिसके कारण उनमें पुरुषों की प्रवृत्ति होती है। वही शक्ति लिङादि का अर्थ है। उसी शक्ति का बोध लिङादि कराते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि 'कारीर्य्या वृष्टिकामो यजेत्' (वृष्टि की कामना से कारीरी नामक यज्ञ करे)

इत्यादि वैदिक विधियों में लिङादि शब्द व्यर्थ हो जायँगे, क्योंकि जलवृष्टि आदि प्रत्यक्ष पदार्थ हैं, उनके सिद्ध करने की शक्ति भी 'कारीरी' आदि यज्ञों में आपके अनुसार लोकसिद्ध ही है। तथाच 'कारीरी' आदि वैदिक विधियों में लिङादि शब्द व्यर्थ हो जायँगे। जैसे भोजन से तृप्ति लोकसिद्ध है, वैसे ही कारारी में वृष्टि सिद्ध करने की शक्ति लोकसिद्ध है। अतः वह शक्ति वैदिक लिङादि शब्दों का अर्थ नहीं हो सकती। क्योंकि वैदिक लिङादि शब्दों से उसी अर्थ का बोध होता है, जो कि प्रमाणान्तर से प्राप्त नहीं होता। तभी वैदिक वाक्य सार्थक होते हैं। अन्यथा 'तृप्तिकामो भुञ्जीत' इत्यादि वाक्यों के तुल्य 'कारीरी' वाक्य भी व्यर्थ ही होगा।

इसी तरह कोई विलक्षण क्रिया ही लिङादि का अर्थ है, यह दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि अलौकिक-प्रेरणारूपा क्रिया में लिङादि का शक्ति-ग्रह ही सम्भव न होगा। फिर वह प्रवर्तक कैसे होगी ? घटादि शब्द का लोकप्रसिद्ध घटादि पदार्थ में ही शक्तिग्रह होता है। फिर जिस अलौकिक प्रेरणा को लोग जानते ही नहीं, उससे लिङादि का शक्तिग्रह तथा उसके द्वारा पुरुषों की प्रवृत्ति सर्वथा ही असम्भव है। यदि किसी तरह अलौकिक प्रेरणा के साथ लिङादि का सम्बन्धज्ञान हो भी जाय, तो भी उससे पुरुषप्रवृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि लोक में राजा आदि की प्रेरणा से उन्हीं लोगों की प्रवृत्ति होती है, जो यह जानते हैं कि राजा स्वतन्त्र रूप से फल दे सकता है। परन्तु लिङादि शब्द तो स्वतन्त्र रूप से फल दे नहीं सकते, फिर उनकी प्रेरणा से पुरुषप्रवृत्ति कैसे हो सकेगी ? फिर यह भी प्रश्न होगा कि पुरुषप्रवृत्ति मानने में लिङादि शब्द प्रधान हैं या प्रेरणा ? पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि लिङादि शब्दों से किसी फल की

कल्पना नहीं की जा सकती है, कारण वे किसी पुरुषार्थ साक्षात् सिद्ध नहीं करते हैं। प्रेरणा प्रधान है, यह भी नहीं क जा सकता; क्योंकि प्रेरणामात्र के ज्ञान से किसी विवेकी पुरुष प्रवृत्ति नहीं हो सकती। कारण सभी प्रेरणाएँ उचित नहीं होतीं। अतः यह कहना पड़ेगा कि वेद स्वतःप्रमाण है। अतएव वैदिक लिङादि की प्रेरणा के ज्ञान से पुरुषों की प्रवृत्ति होती है। अतः वैदिक लिङादि शब्दों की प्रेरणा ही प्रवृत्ति का कारण हो सकती है, केवल प्रेरणा नहीं। ऐसी स्थिति में वैदिक लिङादि शब्द भी प्रवृत्ति के कारण में अन्तर्भूत हुए। अर्थात् लिङादि शब्दविशिष्ट प्रवृत्तिकारण लिङादि का अर्थ है, यह कहना पड़ेगा, जो कि सर्वथा विरुद्ध है।

अभिधा (लिङादि की शक्ति) लिङादि का अर्थ है, यह तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि 'अभिधा' शब्द की उसी शक्ति को कहते हैं, जिससे अर्थबोध होता है। यह शक्ति लोक में प्रसिद्ध ही होती है। लिङादि भी शब्द ही हैं अतः उनमें शक्ति है ही। उसकी कल्पना अनावश्यक ही है। वही शक्ति प्रवृत्तिरूप आर्थी भावना का बोध कराकर पुरुषप्रवृत्ति उत्पन्न करेगी, अतः उसीको प्रवर्तना कहा जाता है। लिङादि शब्द का अर्थ भी वही है। परन्तु इस पक्ष में दोष यह है कि प्रवृत्तिरूप आर्थी भावना का बोध तो लिङादिभिन्न अन्य आख्यातों से भी होता है, फिर तो उन आख्यातों से भी प्रवृत्ति होनी चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं। 'पचति' 'पक्ष्यति' आदि आख्यातों से किसी पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती। यदि कहा जाय कि लिङादि के अर्थ में कोई ऐसा विशेष है, अतएव लिङादि से प्रवृत्ति होती है। वह विशेष अन्य आख्यातों में नहीं होता, अतः उनसे प्रवृत्ति नहीं

होती। तब तो उसी विशेष की प्रवर्तना और लिङादि का अर्थ मानना चाहिए अभिधा को नहीं।

यदि कहा जाय कि अभिधा का यह स्वभाव है कि वह अन्य आख्यातों से उक्त होकर प्रवृत्ति नहीं कराती, पर लिङादि से अभिहित अभिधा प्रवृत्ति कराती है। यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह तो अभिधा को लिङर्थ मानना व्यर्थ ही है। कारण लिङादि शब्दों की अभिधा प्रवृत्ति कराती है, यह प्रसिद्ध ही है। फिर भी यदि अभिधा लिङ का अर्थ माना जाय, तब तो फिर अन्य आख्यातों से भी पुरुषप्रवृत्ति होनी चाहिए। यदि कहा जाय कि दूसरे आख्यात अभिधा को प्रवृत्ति के कारणरूप से नहीं बतलाते, क्योंकि अभिधा उनका अर्थ नहीं है। लिङादि शब्दों का तो अभिधा अर्थ है, इसी से लिङादि अभिधा को प्रवृत्ति का कारण बतलाते हैं, इसीसे प्रवृत्ति होती है। इसीलिए अभिधा को लिङादि का अर्थ कहा जाता है। परन्तु यह भी ठीक नहीं है, कारण यहाँ यह प्रश्न होगा कि अभिधा प्रवृत्ति का कारण है, ऐसा बतलाने के पूर्व अभिधा में प्रवृत्ति कराने की शक्ति है या नहीं? यदि है, तो ऐसा बतलाने का प्रयोजन ही क्या है, शक्ति से ही प्रवृत्ति हो जायगी। अतः अभिधा को लिङर्थ मानना व्यर्थ है। यदि अभिधा प्रवृत्ति का कारण है, यह बतलाने के पूर्व लिङादि शब्दों में प्रवृत्ति कराने की शक्ति नहीं है, तब तो बतलाने के अनन्तर भी उससे प्रवृत्ति की उत्पत्ति संभव नहीं है। फिर प्रवृत्ति कैसे होगी।

आज्ञादि लिङर्थ है, यह चौथा पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि छोटों के प्रति बड़ों की प्रेरणा ही आज्ञा या प्रेषणा कहलाती है। बड़ों के प्रति छोटों की प्रेरणा प्रार्थना या अध्येषणा कही जाती है। समान पुरुषों को अपने समान पुरुषों के प्रति प्रेरणा को अनुमति या अनुज्ञा कहा जाता है—ये तीनों ज्ञानविशेष होने से

चेतन के ही धर्म हैं। वेद अपौरुषेय हैं। उनके लिङादि भी अचेतन ही हैं। अतः वैदिक लिङादि का आज्ञा, प्रार्थना, अनुज्ञा, कोई भी अर्थ नहीं हो सकता।

नियोग लिङादि का अर्थ है। यह पाँचवाँ पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस कार्यरूप वस्तु को मीमांसक नियोग कहते हैं, वह अत्यन्त अप्रसिद्ध है तथा किसी प्रमाण का गोचर नहीं है। फिर ऐसी वस्तु में वैदिक लिङादि शब्दों का शक्ति (सम्बन्ध)-ग्रह ही असम्भव है, फिर ऐसी वस्तु से प्रवृत्ति कैसे संभव होगी ?

यहाँ यह कहा जा सकता है कि नियोगरूपी कार्य में लोकप्रसिद्ध तथा दृढ़ प्रमाण यह है कि जब बालक के सामने प्रयोज्य वृद्ध प्रयोजकवृद्ध के गामानय (गो लाओ) इस वाक्य को सुनकर गाय लाता है, तब प्रयोज्य एवं प्रयोजक पुरुषों के इन व्यवहारों को देखकर बालक यह अनुमान करता है कि जैसे मेरी स्तनपानरूप चेष्टा मेरी आन्तरिक प्रवृत्ति से होती है, वैसे ही नियोज्य पुरुष की गौ ले आने की चेष्टा भी उसकी आन्तरिक चेष्टा से ही हुई है। बालक दूसरा अनुमान यह भी करता है कि जैसे मुझे स्तनपान करना चाहिए, इस प्रकार के ज्ञान से मेरी स्तनपान में प्रवृत्ति होती है, वैसे ही मुझे गौ लाना चाहिये—इस प्रकार के ज्ञान से ही नियोज्य पुरुष की गौ ले आने में प्रवृत्ति हुई है। इसी ज्ञान को कार्यता-ज्ञान कहा जाता है। पुनश्च बालक तीसरा अनुमान यह करता है कि जैसे मेरी तृप्ति का स्तनपान कारण है, वैसे ही मुझे गौ ले आना चाहिए, इस प्रयोज्य वृद्धनिष्ठ कार्यताज्ञान का कोई विशेष कारण अवश्य है। फिर बालक सोचता है कि नियोज्य पुरुष के उक्त कार्यताज्ञान का कारण क्या है। यहाँ कोई अन्य कारण उपलब्ध नहीं है। प्रयोजक वृद्ध का 'गामानय' (गौ ले आओ) यह वाक्य ही उपस्थित है, अतः नियोज्य के

कार्यताज्ञान (मुझे गौ ले आना चाहिए) का कारण उस वाक्य को ही बालक समझता है। अनन्तर 'गां बधान' (गाय को बाँधो), अश्वमानय (घोड़ा को लाओ) इत्यादि प्रयोजक वाक्यों को सुनकर प्रयोज्य पुरुष के कामों को देखकर बालक समझ लेता है कि गाम्-अश्वम्, ये शब्द गौ एवं घोड़े के बोधक हैं, आनय एवं बधान ये शब्द ले आना और बाँधना आदि क्रियाओंके बोधक हैं।

पूर्वमीमांसा के षष्ठाध्याय के प्रथमाधिकरण में कहा गया है कि नियोज्य पुरुष यागादिक्रिया को अपना कार्य समझता है। 'याग मेरा कार्य है' इस बोध को ही नियोग कहा जाता है। अभीष्ट स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ का उपाय ही ऐसा कार्य हो सकता है। परन्तु यागादि क्रिया प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली है, अतः वह कालान्तरभावी स्वर्गादि का उपाय नहीं हो सकती। इसलिए यागादि क्रिया से उत्पन्न स्वर्ग पर्यन्त रहनेवाला आत्मनिष्ठ, अपूर्व या अदृष्ट माना गया है। उसीको कार्य कहते हैं। वही वैदिक लिङादि शब्दों का अर्थ है और वही शाब्दी भावना है। उक्त नियोग ही यागादि क्रिया में पुरुषों की प्रवृत्ति कराता है। इस तरह जैसे लोक में लिङादि शब्दों का ले आना आदि कार्य अर्थ है, उसी तरह वेद के लिङादि शब्दों का अपूर्वरूपी कार्य अर्थ है। जैसे, लौकिक गाय को ले आने आदि कार्य में उक्त कार्यता (मुझे गौ ले आना चाहिए) ज्ञान से नियोज्य पुरुषों की प्रवृत्ति होती है, वैसे ही वैदिक यागादि क्रियाओं में भी नियोग (याग मेरा कार्य है, यज्ञ ज्ञान) रूपी शाब्दी भावना से नियोज्य पुरुषों की प्रवृत्ति होती है। यह प्रभाकर (गुरु) का मत है। तथा च कार्यताविषयक नियोगरूप बोध या विषयभूत कार्य ही प्रवर्तक है। परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ प्रश्न उठता है कि अपूर्व में कार्यत्व क्या है, कृति (आन्तरिक प्रवृत्ति) की उद्देश्यता (जो कि क्रियाओं

का फल अर्थात् पुरुषार्थ में रहती है) है अथवा कृति की विषयता अर्थात् अनुष्ठेयतारूप (जो कि क्रिया में रहती है) है ? अपूर्व में दोनों ही नहीं बन सकती, क्योंकि अपूर्व न तो पुरुषार्थ है और न क्रियारूप ही। नियोग स्वयं व्यापाररूप नहीं है, अतः वह नियोग विषय नहीं हो सकता।

सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्मों के विधिवाक्यों में और ब्रह्म-हत्यादि के निषेधवाक्यों में उक्त अपूर्वरूपी कार्य की कल्पना नहीं हो सकती। क्योंकि सन्ध्यादि करने तथा ब्रह्महत्यादि न करने से कोई फल नहीं होता (जिस कर्म के करने से कोई फल नहीं होता है, परन्तु न करने से पाप होता है, उसे नित्य कर्म कहते हैं)। अतः ऐसे स्थलों में अपूर्व की कल्पना नहीं की जा सकती। स्वर्गादिरूप फल ही कार्य है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यद्यपि उसमें कृति की उद्देश्यता है, तथापि यदि उसे ही कार्य माना जाय, तब तो उसीके ज्ञान से प्रवृत्ति भी माननी पड़ेगी। और यदि उसीको प्रवर्तक मान लिया जाय, तब तो लिङादि के अर्थज्ञान से प्रवृत्ति होती है—यह सिद्धान्त भङ्ग हो जायगा, क्योंकि स्वर्गादि कार्य लिङादि शब्द का अर्थ नहीं है।

इच्छा लिङादि का अर्थ है, यह छठा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि यद्यपि इच्छा प्रवृत्ति का कारण है। जिस विषय में इच्छा होती है, उसमें प्रवृत्ति होती हैं, यह सर्वसम्मत है। उसीके प्रभाव से इच्छाजनक अन्यों में भी प्रवर्तकता होती है। तथापि इच्छा लिङादि का अर्थ नहीं हो सकती। क्योंकि जैसे 'गामानय' इत्यादि लौकिक लिङादि का वक्ता पुरुष ही प्रवर्तक होता है, वैसे ही वैदिक लिङादिस्थल में भी इच्छा करनेवाला पुरुष ही प्रवर्तक समझा जायगा। परन्तु यह वैदिकों को सम्मत नहीं है। वैदिकों का सिद्धान्त यही है कि वैदिक लिङादि शब्द ही प्रवर्तक हैं,

इच्छा करनेवाला पुरुष तो उनका प्रवक्ता ही है (आज्ञाकारी ही है)। साथ ही यह भी दोष है कि शब्द अर्थज्ञान के लिए ही प्रयुक्त होता है। इच्छा का भी स्वभाव यह है कि वह स्वरूप से ही प्रवृत्ति कराती है, ज्ञान से नहीं। ऐसी स्थिति में लिङादि शब्द से इच्छा का ज्ञान कराये बिना भी प्रवृत्ति हो ही सकती है। फिर इच्छा को लिङादि का अर्थ मानना व्यर्थ ही है। इस पक्ष में यह भी एक दोष है कि यदि मान भी लिया जाय कि इच्छा के स्वरूप से प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु इच्छा के ज्ञान से प्रवृत्ति होती है; तो भी जैसे ज्ञान, सुख आदि का मन ही से ज्ञान होता है, उसी तरह इच्छा का भी मन से ही ज्ञान हो सकता है। फिर उसके ज्ञान के लिए लिङादि का प्रयोग व्यर्थ ही है।

फलनिष्ठ प्रीतिरूपता यह सातवाँ पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि इस पक्ष में प्रीतिरूप लिङादि अर्थ ही प्रवर्तना होगी। अतः प्रवर्तना के आश्रय स्वर्गादिरूप फल में ही प्रवृत्ति हो जायगी। यदि कहा जाय कि प्रवृत्तिरूप कृति क्रिया में ही होती है, फल में नहीं; क्योंकि फल कृति का विषय नहीं होता। अमुक क्रिया अमुक फल का साधक है, इस ज्ञान से ही क्रिया में प्रवृत्ति होती है। स्वर्गादि फल तो किसी अन्य फल का साधक नहीं होता, अतः उसमें प्रवृत्ति असम्भव है। परन्तु यह भी ठीक नहीं। क्योंकि फिर तो लाघवात् यही कहना चाहिए कि यागादि क्रियाओं में जो स्वर्गादि फलों के प्रति साधकता है, वही लिङादि शब्दों का अर्थ है। क्योंकि उसीके ज्ञान से क्रियाओं में पुरुषों की प्रवृत्ति होती है। यदि यह मान लिया जाय, तब तो सातवाँ पक्ष आठवें पक्ष में ही अन्तर्भूत हो जाता है।

फलसाधनता लिङादि अर्थ है, यह आठवाँ पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि यदि साधकता (फल का कारण होना) लिङादि

शब्दों का अर्थ है, तो वह तो यागादि क्रिया में ही रहती है, अतः क्रिया ही प्रवृत्ति का कारण हो जायगी। परन्तु यह इष्ट नहीं है, क्रिया तो प्रवृत्ति के पूर्वकाल में न रहकर प्रवृत्ति के उत्तर काल में ही रहती है, फिर वह प्रवर्त्तक कैसे होगी ?

फल में रहनेवाली साध्यता लिङादि अर्थ है, यह नवम पक्ष भी ठीक नहीं। क्योंकि फल भी प्रवृत्ति के पहले नहीं होता। दूसरा दोष यह भी होगा कि इससे फल में ही प्रवृत्ति का प्रसङ्ग होगा।

कृतिसाध्यता लिङादि अर्थ है यह दसवाँ पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि क्रिया में जो कृतिसाध्यता है वह तो पूर्वोक्त आर्थी भावना में ही अन्तर्भूत हो जाती है। आर्थी भावना सामान्य रूप से सभी आख्यातों का अर्थ है। कृति, प्रवृत्ति तथा आर्थी भावना एक ही वस्तु है। इसके अतिरिक्त कृतिसाध्यता के ज्ञान से यदि प्रवृत्ति हो, तब तो वह सभी आख्यातों से होता ही है। फिर सभी आख्यातों से प्रवृत्ति होनी चाहिए। अथवा जैसे अन्य आख्यातों से प्रवृत्ति नहीं होती, वैसे ही लिङादि से भी प्रवृत्ति नहीं होगी। कहा जाता है कि 'अपचत् (आज के पहले पकाया), पचति (पकाता है), पक्ष्यति (पकायेगा) इत्यादि-इत्यादि आख्यातों में भूतादि कालों का सम्बन्ध भी बोधित होता है। इसीलिए वहाँ कृतिसाध्यता का बोध नहीं होता, अतएव उनसे प्रवृत्ति नहीं होती। किन्तु लिङादि स्थलों में काल का बोध न होने से कृतिसाध्यता का बोध होता है। अतः उससे प्रवृत्ति होती है।' परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि कृतिसाध्यता क्रिया में ही रहेगी। कृतिरूप प्रवृत्ति के पूर्व कृतिसाध्यता भी नहीं रह सकती। अतः जैसे क्रिया और फल प्रवृत्ति के कारण नहीं होते, वैसे ही कृतिसाध्यता भी प्रवृत्ति का कारण नहीं हो सकती। इसके

अतिरिक्त यदि कृतिसाध्यता का ज्ञान प्रवृत्ति का कारण हो, तब तो विषभक्षणादि में भी प्रवृत्ति होगी, क्योंकि कृतिसाध्यता का ज्ञान वहाँ भी हो सकता है।

इष्टसाधनता लिङादि का अर्थ है, ग्यारहवाँ पक्ष भी संगत नहीं है। क्योंकि इष्टसाधनता का ज्ञान तो चन्द्रमण्डलादि के आनयन में भी होता है, फिर तो चन्द्रमण्डल के लाने में भी प्रवृत्ति होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि लिङादि से किसी क्रिया की कर्तव्यता का बोध न होगा, केवल इष्टसाधनता का ही बोध होगा, तब तो सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्मों की विधियों से पुरुषों की सन्ध्यावन्दनादि में प्रवृत्ति न होने से भी पाप न होगा। क्योंकि 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इत्यादि विधियों का इष्टसाधनता ही अर्थ है, कर्तव्यता नहीं। साथ ही एक दोष यह भी होगा कि व्याकरण के अनुसार लिङादि प्रत्यय हैं, अतः वे अपनी यज् आदि प्रकृति के अर्थ से अन्वित ही अपने अर्थ का बोध करायेंगे। अतः इष्टसाध्यनातारूप प्रत्ययोंके अर्थ का सम्बधन यजि आदि (यागादि क्रिया) में ही रहेगा। इस कारण केवल क्रिया ही इष्टसाधन होगी, द्रव्यों में इष्ट साधनता न रहेगी।

यहाँ कहा जाता है कि 'इष्टसाधनता लिङर्थ है, तो आर्थी भावना के अनुसार कर्ता का ही इष्ट लिया जायगा। कर्ता भी वही होता है, जो क्रिया में प्रवृत्त होता है। क्रिया आन्तरिक प्रवृत्ति का विषय होती है, यही क्रिया की कर्तव्यता है। इस रीति से कर्तव्यता का बोध हो जाता है। चन्द्रमण्डल के ले आने में कृतिसाध्यता न होने से कर्तव्यता बोध नहीं होता, इससे वहाँ प्रवृत्ति भी नहीं होती। द्रव्यादि में भी प्रवृत्ति का पूर्वोक्त उपादानता रूप सम्बन्ध रहता है, अतः उससे भी इष्टसाधनता का बोध हो ही सकता है।' परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह तो

आर्थी भावना के बल से इष्टसाधनता का भी बोध अर्थात् ही हो जायगा, तब तो अन्य आख्यातों के समान ही लिङादि का भी इष्टसाधनता अर्थ क्यों किया जाय? 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' अनन्यलभ्य ही शब्द का अर्थ होता है। जिसका बोध अन्य प्रकार से हो सकता है, वह शब्दार्थ नहीं है।

इसके अतिरिक्त एक इष्ट के साधन भी अनेक होते हैं। यदि इष्टसाधन से प्रवृत्ति हो, तो कोई विशेष न होने से एक ही पुरुष की सब साधनों में युगपत् प्रवृत्ति हो जायगी। अतः यह कहना पड़ेगा कि जिसमें इच्छा होती है, उसीमें प्रवृत्ति होती है। अतः इष्टसाधनता का ज्ञान प्रवृत्ति का कारण नहीं होता।

कृतिसाध्यता और इष्टसाधनता दोनों ही लिङादि अर्थ है। यह बारहवाँ पक्ष भी उपर्युक्त दोनों ही पक्ष के खण्डन से ही खण्डित हो जाता है।

इष्टसाधनत्वकृतिसाध्यत्व एवं बलवदनिष्टाननुबन्धित्व (इष्ट की अपेक्षा अधिक अनिष्ट का साधन न होना) यह तीनों ही लिङादि के अर्थ हैं, यह तेरहवाँ पक्ष भी ठीक नहीं है। नव्य नैयायिकों के अनुसार आन्तरिक प्रवृत्ति के तीन कारण होते हैं—पहला, इष्टसाधनताज्ञान; जैसे भोजन तृप्ति का साधन है, इस ज्ञान से पुरुष की भोजन में प्रवृत्ति होती है। दूसरा, कृतिसाध्यताज्ञान; जैसे मैं भोजन कर सकता हूँ, इस ज्ञान से भोजन में प्रवृत्ति होती है। इसी ज्ञान के न रहने से चन्द्रमण्डल के आनयन में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती। चन्द्रमण्डल का आनयन इष्टसाधन होने पर भी उसका लाना अशक्य होने से उसमें कृतिसाध्यता का ज्ञान नहीं है; अतः प्रवृत्ति नहीं होती।

तीसरा, बलवदनिष्टाननुबन्धकत्वज्ञान प्रवृत्ति का कारण होता है। जैसे, भोजन करने में मुखादि का व्यापाररूप परिश्रम थोड़ा

है, उसकी अपेक्षा तृप्तिसुख अधिक है—इस ज्ञान से भोजन में प्रवृत्ति होती है। इसी ज्ञान के न होने से विष-मिश्रित मधुरान्न-भोजन में प्रवृत्ति नहीं होती। क्योंकि पुरुष समझता है कि 'यद्यपि इस अन्न के भोजन से तत्काल तृप्ति हो जायगी और मैं इस अन्न को खा भी सकता हूँ, तथापि इससे इष्ट की अपेक्षा मरणरूपी बलवान् अनिष्ट होता है।' अतः जैसे लौकिक वाक्यों में लिङादि के ये तीनों ही अर्थ होते हैं, उसी तरह वैदिक वाक्यों में भी लिङादि के ये ही अर्थ हैं। शाब्दी-भावना इससे भिन्न और कुछ नहीं है।

परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि शाब्दी-भावना, प्रवर्तना या प्रेरणा की अपेक्षा विधि के ये तीन अर्थ मानने में गौरव दोष है। दूसरा दोष यह होगा कि कृतिसाध्यत्व, इष्टसाधनत्व आदि आर्थीभावना में अन्तर्भूत हैं, जैसे कि ऊपर कहा जा चुका है। इसी तरह बलवदनिष्टासाधनत्व का भी अर्थात् लाभ हो सकता है। ऐसी स्थिति में जो अर्थ सभी आख्यातों से निकल सकता है, उसीको लिङादि का विशेष अर्थ मानना व्यर्थ ही है। तीसरा दोष यह है कि 'मैं भोजन करता हूँ' इत्यादि वाक्यों में भी तीनों अर्थों का अर्थतः बोध होता ही है, तथापि उन वाक्यों से किसी-की प्रवृत्ति नहीं होती। अतः उक्त तीनों ज्ञान प्रवृत्ति के कारण नहीं हो सकते। चौथा दोष यह है कि जब इष्ट के बोधक स्वर्गादि शब्द वैदिक वाक्यों में वर्त्तमान ही हैं, तब लिङादि शब्द के इष्ट-रूपी अर्थ का वाक्यार्थ में सम्बन्ध ही नहीं होगा। पाँचवाँ दोष यह है कि शाब्दी-भावना जब लिङादि का अर्थ होता है, तब इति-कर्तव्यता आकाङ्क्षा के पूरक रूप से अर्थवादों की विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता हो जाती है। 'किं भावयेत्' इस साध्या-काङ्क्षा के पूरणार्थ अंशत्रयवती आर्थीभावना उपस्थित होती

है। साधनाकाङ्क्षा के पूरणार्थ लिङादि-ज्ञान उपस्थित होता है। इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षा के पूरणार्थ अर्थवाद उपस्थित होता है। यथा —

'आर्थीभावनां (पुरुषप्रवृत्तिं) भावयेत्, लिङादिज्ञानेन
भावयेत्, अर्थवादैः प्राशस्त्यमवबोध्य भावयेत्।'

अर्थात् पुरुषप्रवृत्ति उत्पन्न करे। लिङादिज्ञान से पुरुषप्रवृत्ति उत्पन्न करे, अर्थवाद द्वारा स्तुति करके पुरुषप्रवृत्ति उत्पन्न करे। इसी तरह अर्थवाद धर्म में प्रमाण होता है। परन्तु यदि शाब्दी-भावना को लिङादि का अर्थ न माना जायगा, तो अर्थवादों की विधि के साथ एकवाक्यता होने का कोई मार्ग ही न रह जायगा। फलतः नैयायिकसम्मत अर्थ करने पर अर्थवाद अप्रमाण ही ठहरेंगे।

इसी तरह प्रवर्तनारूप इष्टसाधनता लिङादि का अर्थ है, यह चौदहवाँ पक्ष भी संगत नहीं है। यह मण्डनाचार्यसम्मत पक्ष है। उनका कहना है—

"पुंसां नेष्टाभ्युपायत्वात् क्रियास्वन्यप्रवर्तकः।
प्रवृत्तिहेतुं धर्मञ्च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम्॥"

अर्थात् प्रवर्तना ही लिङादि शब्दों का अर्थ है। उसीके ज्ञान से पुरुष की प्रवृत्ति होती है। इष्टसाधनता से भिन्न अन्य कोई प्रवर्तक नहीं हो सकता, अतः प्रवृत्तिहेतु इष्टसाधनतारूप प्रवर्तना ही लिङादि का अर्थ मान्य होना चाहिए, नैयायिकों के समान इष्टसाधनता नहीं। कृतिसाध्यता तो लोक से ही लभ्य होती है, अतः उसे लिङादि का अर्थ मानना ठीक नहीं। बलवदनिष्टाजन-कत्व प्रवृत्तिबाधक द्वेष के अभाव में ही कारण है। परन्तु इस पक्ष में भी अर्थवादों के संग्रह का कोई प्रकार नहीं है।

आप्तों का अभिप्राय लिङादि का अर्थ है, यह पंद्रहवाँ पक्ष भी ठीक नहीं। यह उदयनाचार्य का मत है—

'विधिर्वक्तुरभिप्रायः प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः।
अभिधेयोऽनुमेयात्तु कर्तुरिष्टाभ्युपायता ॥'

—(न्यायकुसुमाञ्जलि)। अर्थात् आप्त (सत्यनिष्ठ) पुरुष की इच्छा ही लिङादि शब्दों का अर्थ है। 'पाकं कुर्याः', 'पाकं कुर्याम्' (तुम भोजन बनाओ, मैं भोजन बनाऊँ) इत्यादि रूप से मध्यम एवं उत्तम पुरुष में लिङादि शब्दों की इच्छाविशेषरूपी आज्ञा (भयजनक इच्छा) ही अर्थ होता है। इसी तरह अध्येषणा (नियोजक की नियोज्य के प्रति अनुग्रहरूपा इच्छा), अनुज्ञा (निषेधाभावद्योतिका इच्छा), प्रश्न (उत्तरवाक्य की प्रयोजिका इच्छा), प्रार्थना (प्राप्ति की इच्छा) भी लिङादि का है। इसी तरह 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि प्रथम पुरुष के वाक्यों में भी आप्त पुरुष की इच्छा ही लिङादि का अर्थ है। अर्थात् आप्त पुरुष की यह इच्छा है कि स्वर्ग की कामनावाला पुरुष यज्ञ करे या स्वर्गकामी को यज्ञ करना चाहिए। इस तरह आप्त का अभिप्राय ही लिङादि का अर्थ है। इसीसे याग में इष्टसाधनता का अनुमान होता है—"स्वर्गकामस्य मम यागः इष्टसाधनम्" (मुझ स्वर्ग चाहनेवाले के लिए याग इष्टसाधन है) "कर्तव्यत्वेनाप्तोक्तलिङ्पदवाच्येच्छाविषयत्वात्" (कर्त्तव्यरूप से याग आप्तोक्त वाक्यगत, लिङादिबोध्य इच्छा का विषयक होने से), जैसे मेरे पिता की इच्छा का विषय मेरा भोजन होता है। अर्थात् जो-जो क्रिया आप्त के कहे हुए लिङादिशब्दों से बोध्य इच्छा का विषय होती है, वह अवश्य इष्टफल की साधक होती है। जैसे मेरे पिता के कहे हुए 'त्वं खाद' (तुम खाओ) इत्यादि

वाक्यगत लिङादिबोध्य इच्छा का विषय मेरा भोजन आदि है और वह तृप्ति आदि का साधक हुआ करता है। यागादि वैदिक क्रियामें भी आप्तपुरुष के कहे हुए 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यगत लिङादिबोध्य इच्छा के विषय हैं, अतः ये भी स्वर्गादि-रूप इष्ट के साधक हैं।

विष-भोजनादि किसीके लिए कृतिसाध्य है तथा ईश्वररूप आप्त की इच्छा का विषय भी होता है, तो भी वह इष्ट का साधक नहीं है। क्योंकि 'स्वर्गकामो यजेत' के समान 'विषं भुञ्जीत' इत्यादि लिङ् शब्द ईश्वर ने नहीं कहा है। अतः उसका इष्टसाधक न होना उचित ही है। वैदिक विधिवाक्यों के स्थल में परमेश्वर ही आप्त-पुरुष है। अतः जैसे कुमारी का गर्भ उसके पुरुषसंयोग में दृढ़-प्रमाण है, वैसे ही वैदिक श्रुतियों के लिङादि शब्द ही उन श्रुतियों के परमेश्वर रचित होने में दृढ-प्रमाण हैं। परन्तु यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि वेद अपौरुषेय है, अतः पुरुष का अभिप्राय वैदिक लिङादि का अर्थ कथमपि नहीं है।

वस्तुतः वेद चाहे पौरुषेय हो या अपौरुषेय, फिर भी वैदिक विधिवाक्यों से अर्थबोध होता ही है। अतः वैदिक लिङादि का ऐसा ही अर्थ करना चाहिए, जो उभयपक्ष से मान्य हो। इस तरह पन्द्रह पक्ष उपस्थित करके पूर्वपक्षी ने सभी पक्षों का निराकरण किया है। किन्तु सिद्धान्त यही है कि लोकप्रवृत्ति-हेतुरूप से प्रवर्तना सर्वलोक के अनुभव से सिद्ध है।

ऐसी स्थिति में लौकिक कर्मों के राजा आदि प्रेरक न कहला सकेंगे। यदि ईश्वर को साधारण प्रेरक और राजादि को असाधारण प्रेरक माना जाय, तब तो फिर वैदिक कर्मों में भी

राजा आदि के समान वेदों को ही प्रेरक मानना चाहिए। जैसे राजादि की असाधारण प्रेरणा के बिना ईश्वर की प्रेरणा लोगों को लौकिक कार्यों में प्रवृत्त नहीं करती, वैसे ही वेद की असाधारण प्रेरणा के बिना ईश्वर-प्रेरणामात्र से वैदिक कर्मों में पुरुषों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। वेद की वह असाधारण प्रेरणा ही उक्त शाब्दी-भावना है। यह बात पौरुषेयत्ववादी को भी माननी होगी।

यदि वेद में ईश्वर-प्रेरणा मानी जाय, तब तो वेदविदित कर्मों को सभी करेंगे ही, उनका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता। अज्ञानी प्राणी स्वयं सुख-दुःख में परतंत्र है, वह तो ईश्वर की प्रेरणा से ही कभी स्वर्ग, तो कभी नरक जाता है।

"अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वाश्वभ्रमेव वा॥"

ऐसी स्थिति में निषिद्ध कर्म भी विहित ही समझे जायँगे। अतः जैसे राजा आदि प्रवर्तनज्ञान कराकर, इच्छा उत्पन्नकर कर्मों में प्रवृत्त कराता है, वैसे ही वेद भी कराता है। अतः लोक-वेद दोनों में प्रवृत्ति कराने की व्यवस्था एक ही है। वेद पूर्व-मीमांसकों के मत में अत्यन्त स्वतंत्र हैं, पर उत्तर मीमांसक वेदान्तियों के मत से वे ईश्वर द्वारा प्रतिकल्प में आविर्भूत होते हैं, तो भी परब्रह्म के श्वास-तुल्य स्वाभाविक हैं। अतः अपौरुषेयता दोनों ही मतों में मान्य है। जैसे जीव, ईश्वर आदि ब्रह्म के अनेक विवर्त्त अनादि माने गये हैं, वैसे वेद भी अनादि ही हैं।

निवृत्ति का कारण और निवृत्तिवाले में रहनेवाली निवारण-रूपी शाब्दी-भावना है। उसीको 'निवर्तना' भी कहते हैं। जैसे

प्रवर्त्तना का मानस प्रत्यक्ष भी होता है, वैसे ही 'मैं इस पुरुष को इस काम से निवृत्त करता हूँ', यह निवारणा भी मानस प्रत्यक्ष से ज्ञात होता है। लौकिकी प्रवर्तना से विलक्षण वैदिकी प्रवर्तना के समान ही निवर्त्तना भी लौकिकी, वैदिकी दो प्रकार की है। प्रवर्तना के समान निवर्तना भी यद्यपि चेतन का ही धर्म है, तथापि वेद का कर्त्ता कोई पुरुष नहीं है। इसीलिए वैदिक लिङादि की निवर्तना भी विलक्षण है। यही निवर्तना 'निषेध' आदि शब्दों से व्यवहृत होती है। यहाँ निवृत्ति भाव्य है, शक्तिज्ञान या शक्ति-विशिष्ट ज्ञान करण है।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन विधि का यह अर्थ है कि गुरु-मुख से अधीत वेदाक्षरों को यथाशक्ति पुरुष का उपकार करना चाहिए। इसी अर्थ के अनुसार अध्ययनविधि अपने और अपने से अन्य वैदिक वाक्यों को अक्षरशः पुरुष के उपकार में लगाती है। एक अक्षर को भी व्यर्थ नहीं होने देती। अतएव वैदिक वाक्यों के सभी लिङादि शब्दों को यही अध्ययनविधि 'ये पुरुषों की प्रवृत्ति करायें' इस रीति से प्रवृत्ति कराने में नियुक्त करती है। इसी दृष्टि से वैदिक लिङादि शब्द ही यज्ञादि कर्मों में पुरुषों को प्रवृत्त कराते हैं। अतः वे प्रयोजक कर्ता हैं और पुरुष प्रयोज्य कर्ता हैं। इस तरह पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थी-भावना के अनुकूल शाब्दी-भावना लिङादि शब्दों से ही सम्पन्न होती है।

शाब्दी-भावना क्या है? इस विषय पर पूर्वमीमांसकों के बहुत शास्त्रार्थ हैं। संक्षेप में यों समझ सकते हैं कि एक पुरुष की आन्तरिक प्रवृत्ति का कारण अन्य पुरुष का आन्तरिक व्यापार प्रसिद्ध है। उसे ही प्रवर्त्तना या प्रेरणा कहा जाता है। 'मैं राजा से प्रेरित हूँ, बालक या ब्राह्मण से प्रेरित हूँ' इत्यादि उक्तियाँ उसी

प्रवर्तना को लेकर होती हैं। प्रवर्तक राजा आदि में यह प्रवर्तना रहती है। बड़ों की छोटों के प्रति प्रवर्तना को 'आज्ञा प्रेषणा' आदि भी कहा जाता है। बड़ों के प्रति छोटों की प्रवर्तना को 'याच्ञा' और 'अध्येषणा' कहते हैं। तुल्य की प्रवर्तना को 'अनुज्ञा' और 'अनुमति' कहा जाता है। आज्ञादिरूप प्रवर्तनाएँ चाहे ज्ञानरूप हों, चाहे इच्छारूप, परन्तु चेतन का ही धर्म है, अचेतन का नहीं। वेद में भी विधिवाक्यों से प्रवृत्त होकर 'मैं यज्ञ करता हूँ' इत्यादि व्यवहार प्रसिद्ध ही है। परन्तु वेद स्वयं अचेतन है, इससे उसमें आज्ञारूप प्रवर्तना नहीं बन सकती। वेद का कोई कर्ता नहीं, अतएव कर्ता के द्वारा परम्परा सम्बन्ध से भी आज्ञादि नहीं बन सकते। फिर भी 'मैं वेदविधि की प्रेरणा से यज्ञ करता हूँ' इत्याकारक व्यवहार होने से वैदिक लिङादि शब्दों में उक्त आज्ञादि से भिन्न प्रवर्तनारूप धर्म सिद्ध होता है। वही 'चोदना, प्रवर्तना, प्रेरणा, विधि, उपदेश शब्द-भावना' आदि शब्दों से कहा जाता है। पूर्वोक्त व्यवहार और शब्द-भावना में रहनेवाला प्रवर्तनात्व धर्म, जो कि आज्ञादिरूप प्रवर्तनाओं में भी रहता है, दोनों ही प्रत्यक्ष है। यह शाब्दी-भावना ज्ञान-इच्छादिरूप चेतन-धर्मों से भिन्न है। वह अलौकिक क्रिया है। प्रवर्तना प्रवर्तक पुरुष में ही रहती है, यह लोकप्रसिद्ध है। अन्यथा 'अमुक ही मुझे प्रवृत्त करा रहा है' ऐसी व्यवस्था ही न बन सकेगी।

कहा जाता है कि 'प्रवर्त्तना का ज्ञान करानेवाला ही प्रवर्तक होता है। प्रवर्तना उसमें रहे, यह आवश्यक नहीं' किन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि ऐसी स्थिति में तो 'देवदत्त तुम्हें प्रवृत्त कराता है' यह कहनेवाला यज्ञदत्त भी प्रवर्त्तक समझा जायगा, कारण प्रवर्त्तना का ज्ञान करानेवाला वही है। इसीलिए न्यायसुधाकार

ने प्रवर्त्तक पुरुष में रहनेवाले प्रवृत्तिकारण को ही प्रवर्तना कहा है--"प्रवृत्तिहेतुः प्रवर्तयितुर्धर्मः प्रवर्तना।" "मैं इसे प्रवृत्त करा रहा हूँ" इस तरह प्रवर्त्तयिता का मानस-प्रत्यक्ष ही इसमें प्रमाण है।

लिङादि शब्दों की शाब्दी-भावना का निश्चय इस क्रम से होता है कि बालक के रोदन से माता 'बालक भूखा है, मुझे दूध पिलाने के लिए प्रवृत्त करता है' यह जानकर प्रवृत्त होती है। तब बालक भी जानता है कि इसकी प्रवृत्ति का कारण मेरी प्रवर्तना ही है। इसी तरह प्रयोजक वृद्ध के "गामानय" (गौ लाओ) इस वाक्य से प्रयोज्य पुरुष की प्रवृत्ति देख, माता की प्रवृत्ति के दृष्टान्त से, बालक जानता है कि इस प्रवृत्ति का भी कारण प्रवर्तना का ज्ञान ही है। फिर वह विचार करता है कि प्रयोज्य पुरुष को प्रयोजक पुरुष ही प्रवर्तना का ज्ञान कैसे हुआ? जब उसे 'आनय' (लाओ) इत्यादि लिङादि शब्द के अतिरिक्त और किसी कारण का पता नहीं लगता, तो उसे ही प्रवर्तनाज्ञान का कारण समझ लेता है। इसी प्रवर्तना में लिङादि शब्दों का शक्तिग्रह है। प्रवर्तनारूप होने से आज्ञादि भी लिङादि के ही अर्थ हैं। वैदिक लिङादिकों में अचेतन होने के कारण आज्ञादि प्रवर्तनाओं का होना सम्भव नहीं है। इसीसे उनसे विलक्षण एक नये प्रकार की प्रवर्तना वेद में मानी जाती है, जिसे 'विधि-प्रेरणा' या 'नियोग' कहा जाता है। विशेषरूप से ज्ञात घटादि अर्थ में ही घटादि शब्दों की शक्ति का ज्ञान होता है। अतएव यद्यपि इस अलौकिक नियोग में लिङ् का शक्तिग्रह सम्भव नहीं, तो भी प्रवर्तना सामान्य वस्तु में ही लिङादि की शक्ति का ज्ञान होता है। प्रवर्तना सामान्य में अन्तर्भूत होने के कारण वैदिक लिङादि शब्दों का अमुख्य (लक्ष्य) अर्थ नियोग भी होता है। अतएव

अलौकिक वैदिक प्रेरणा में विशेष रूप से लिङादि शब्दों की शक्ति का निश्चय न होने पर भी वैदिक लिङादि शब्दों से प्रेरणा का बोध होता है।

यद्यपि राजा आदि के समान लिङादि शब्द साक्षात् फल-दाता नहीं है, तथापि इष्टफलसाधनता के बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः इष्टफलसाधक होने से लिङादि शब्दों से यज्ञादि में प्रवृत्ति होती है। अतएव वैदिक लिङादि शब्द प्रवर्तक होते हैं, क्योंकि प्रवर्तक पुरुष की प्रवर्तनारूपी भावना का प्रवर्त्त्य पुरुष की प्रवृत्तिरूप आर्थी-भावना होती है। यह देखा जाता है कि 'गामानय' (गौ लाओ) इस आज्ञा के अनन्तर प्रयोज्य पुरुष ने गौ को ढूँढ़ा, परन्तु गौ के न मिलने से गवानयन न होने पर भी आज्ञा देनेवाला यही मानता है कि इसने मेरी आज्ञा मानी। 'मेरे सामने से हटो' ऐसी आज्ञा से, स्वयं प्रयत्नशील न होने पर एवं किसी दूसरे द्वारा हटाये जाने पर भी, प्रयोजक यह समझता है कि इसने मेरी आज्ञा नहीं मानी। यह प्रवर्तना चेतन की ही होती है। इसीलिए प्रवृत्तिरूपी अर्थभावना ही प्रवर्तना का विषय होती है। प्रवृत्ति आन्तरिक प्रयत्नरूप है, वह इच्छा के बिना नहीं होती। परन्तु यागादिरूप श्रमसाध्य उपायों के बिना स्वर्गादि पुरुषार्थप्राप्ति असम्भव होती है। अतएव यदि यागादि पुरुषार्थ साधक न हो, तो उनमें किसीकी भी इच्छा नहीं हो सकती। एवं विना प्रकृति के लिङादि शब्द प्रवर्तक नहीं होते। ये सब बातें लोक ही सिद्ध हैं। अतः वैदिक वाक्य लिङादि द्वारा ही यागादि पुरुषार्थ के साधक हैं, यह कल्पना होती है।

कहा जा सकता है कि 'यागादि पुरुषार्थ के साधक हैं' इस ज्ञान से ही इच्छा और उससे प्रवृत्ति बन जायगी। फिर लिङादि

क्यों प्रवर्तक माने जायँ ?' परन्तु यह तो तब सम्भव था, जब लौकिक प्रत्यक्ष से ही यागादि को स्वर्गादि के प्रति साधनता सिद्ध होती। तब तो भोजनादि के सामान यागादि में इच्छा और प्रवृत्ति हो सकती। जब यहाँ लिङादि शब्दों को प्रवर्तक बनाने के लिए ही यागादि को स्वर्गादिसाधक होने की कल्पना की जा रही है, तब तो लिङादि के बिना यह कुछ भी नहीं सिद्ध हो सकता। अतएव वैदिक शब्दों में रहनेवाली प्रवर्तना प्रत्यक्ष से बोध्य नहीं है। इसीसे वैदिक लिङादि शब्दों से ही उसकी कल्पना की जाती है। अतः वही शाब्दी-भावना है। यह सोमेश्वर भट्ट का मत है।

शास्त्रदीपिकाकार का कहना है कि 'साध्य, साधन, इतिकर्तव्यता इन तीनों अंशों से युक्त आर्थी-भावना का ज्ञान कराना ही वैदिक लिङादि शब्दों का व्यापार है। यही व्यापार प्रवृत्ति का कारण है। अतएव प्रवर्त्तनारूप भी है। इस दृष्टि से अभिधा ही भावना है—"अभिधा भावनामाहुरन्यामेव लिङादयः।" सारांश यह है कि अभिधा उस शक्ति का नाम है, जिससे अर्थ का बोध होता है। वह शक्ति और लिङादि शब्द दोनों ही लोकप्रसिद्ध हैं। अतः वह शक्ति प्रवृत्तिरूपा आर्थी-भावना का बोध कराकर पुरुषों की प्रवृत्ति को उत्पन्न करती है। इसी से वह प्रवर्त्तना कहलाती है। लिङादि शब्द का अर्थ भी वही है। इस पक्ष में यह दोष दिया जाता है कि प्रवृत्तिरूप भावना का बोध तो लिङ् से अन्य लडादि, पचति, गच्छति (पकाता है, जाता है) आदि आख्यातों से होता है, परन्तु उनसे प्रवृत्ति नहीं होती। यदि अन्य आख्यातों की अपेक्षा लिङादि का कोई विशेष अर्थ हो, जिससे प्रवृत्ति सिद्ध होती हो—अन्य से नहीं, तब तो उसीं

विशेष अर्थ को प्रवर्तना और लिङादि का अर्थ मानना चाहिए। फिर तो अभिधा को प्रवर्तना या लिङ् का अर्थ मानना व्यर्थ है। यदि कहा जाय कि 'अन्य आख्यातों से कही गयी अभिधा से प्रवृत्ति नहीं होती, लिङादि से कहीं जाकर वह प्रवृत्ति कराती है। इस तरह की विशेषता अभिधा में रहती है।' तो वह भी उचित नहीं, क्योंकि वैसी स्थिति में उस विशेष से ही काम चल जायगा, अभिधा को लिङ् का अर्थ मानना व्यर्थ होगा।

फिर प्रश्न होगा कि 'अभिधा लिङादि द्वारा प्रवृत्ति का कारण है' यह बतलाने के पहले भी उनमें प्रवृत्ति कराने की शक्ति है या नहीं? यदि है, तो बतलाने का प्रयोजन ही क्या? यदि नहीं, तो बतलाने के अनन्तर भी वह असम्भव ही है। जैसे राजा और आचार्य अभिधाज्ञान कराये बिना ही प्रवर्तक होते हैं, वैसे ही वैदिक लिङादि भी अभिधा का ज्ञान कराये बिना ही प्रवर्तक होंगे। फिर अभिधा को लिङादि का अर्थ मानना व्यर्थ ही है।' परन्तु इन दोषों का निराकरण इस तरह हो जाता है कि वैदिक लिङादि शब्द प्रवृत्ति के कारण हैं। अभिधा तो उनका व्यापारमात्र है। यह बात प्रथम पक्ष-पोषक को भी माननी होगी कि अग्निहोत्रादि कर्मों में पुरुषों की प्रवृत्ति देखकर वैदिक लिङादि में एक अलौकिक व्यापार मानना चाहिए और वही लिङादि शब्दों का अर्थ और प्रवर्तनारूप है। प्रवृत्ति की कारणभूत इच्छा और उसके भी मूल इष्टसाधकता का अनुमान भी इसी प्रवर्तना से होता है। ये ही सब बातें इस पक्ष में भी हैं। भेद इतना ही है कि वहाँ अलौकिक व्यापार की कल्पना होती है, पर यहाँ वह गौरव नहीं है; क्योंकि प्रवृत्ति के कारणीभूत व्यापार को ही प्रवर्तना कहा जाता है। प्रवृत्तिरूप आर्थीभावना सभी आख्यातों का अर्थ है। लिङादि भी उन्हींमें हैं। प्रवृत्तिरूपी आर्थीभावना का ज्ञान लिङादि शब्द

कराते हैं, इसीसे वे उसके वाचक हैं। लिङादि शब्दों के द्वारा प्रवृत्ति को विना जाने पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती। इसीसे प्रवृत्ति के ज्ञान द्वारा लिङादि शब्द प्रवृत्ति के कारण होते हैं। 'लिङादि शब्द प्रवृत्ति के वाचक हैं' यह श्रोताओं का ज्ञान ही लिङादि शब्दों का वह व्यापार है, जो प्रवृत्तिरूपी आर्थीभावना के ज्ञान का जनक है। इसीसे इसको प्रवर्तना भी कहते हैं। क्योंकि शब्द ज्ञान के द्वारा ही प्रवृत्ति का कारण होता है, इसी से ज्ञान का जनक व्यापार ही शब्द का व्यापार हो सकता है।

आर्थीभावनारूप प्रवृत्ति के ज्ञान को उत्पन्न करनेवाला लिङादि शब्दों का व्यापार तीन प्रकार का होता है—'एक लिङादि शब्दों का श्रवण; दूसरा प्रवृत्ति का ज्ञान कराने की शक्ति का ज्ञान और तीसरा 'प्रवृत्ति' बोध कराने की शक्ति लिङादि शब्दों में है—इसका ज्ञान। प्रथम दो में से किसीको भावना कहा जा सकता है। तीसरा ज्ञान इस शाब्दी-भावना का कारण है। लिङादि शब्दों के श्रवण द्वारा उन्हींसे उक्त शक्ति का ज्ञान होता है और यही ज्ञान उनका अर्थ है। अतः उसी ज्ञान को प्रवर्तनारूप से भी बोध कराते हैं। जैसे आर्थी-भावना के साध्य, साधन, इतिकर्तव्यता ये तीन अंश होते हैं, वैसे ही शाब्दी-भावना में भी तीन अंश होते हैं। इस भावना का प्रवृत्तिरूपा आर्थी-भावना ही भाव्य है, प्रवृत्ति-बोधक लिङादि का ज्ञान साधन और अर्थवादों से बोधित स्तुति इतिकर्तव्यता है।

किसीका यह भी मत है कि तृतीय ज्ञान ही शाब्दी-भावना है और द्वितीय ज्ञान उसका कारण है। यहाँ कहा जा सकता है कि 'पिछला मत अर्थात् प्रथम दो में से एक ज्ञान शाब्दी-भावना है, तीसरा ज्ञान उसका कारण है, यह ठीक नहीं; क्योंकि वाणादि-

रूप करण मरण आदिरूप क्रिया के अव्यवहित पूर्वकाल में रहते हैं। किन्तु यहाँ तो तृतीय पक्ष उक्त दो ज्ञानों के पश्चात् होता है। फिर वह पूर्व में होनेवाली शाब्दी-भावना का करण कैसे हो सकता है?' समाधान यह है कि जैसे "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि वाक्योंमें याग प्रवृत्तिरूपा आर्थी-भावना का करण होता है, वैसे ही तृतीय ज्ञान भी पूर्वज्ञानरूपा शाब्दी-भावना का करण होता है।

परन्तु यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'यागादि क्रिया आर्थी-भावना का करण है, यह दृष्टान्त भी ठीक नहीं है। क्योंकि आर्थी-भावना आन्तरिक प्रवृत्तिको ही कहा जाता है। वही सब क्रियाओं का कारण होती है। इसीसे वह सब क्रियाओं के पूर्व में ही रहती है। ऐसी स्थिति में जब यागादि क्रिया आर्थी-भावना के पूर्व में नहीं रहती, तो फिर वह उसका कारण कैसे हो सकती है? फिर इस दृष्टान्त के बल पर यह कैसे कहा जा सकता है कि तृतीय ज्ञान शाब्दी-भावना का कारण है। प्रत्युत यही कहना ठीक है कि 'तृतीय ज्ञान शाब्दी-भावना है, द्वितीय ज्ञान उसका करण है।' विचार करने पर उक्त कथन भी संगत नहीं जान पड़ता। यद्यपि प्रवृत्तिरूप आर्थी-भावना याग के पूर्व में रहती है, परन्तु स्वर्ग आदिरूप पुरुषार्थ, जो कि आर्थी-भावना का भाव्य (फल) है, वह याग से उत्तर काल ही में होता है। याग स्वर्ग आदि का करण भी है, अतएव यद्यपि यागादि केवल आर्थी-भावना का करण नहीं है, तथापि फल का करण होने से याग स्वर्ग आदि फलयुक्त भावना का करण है। आर्थी-भावना के सम्बन्ध में सभी मीमांसकों का यही मत है। शाब्दी-भावना भी भावना ही

है, अतः इसमें भी वैसा मानना अनुचित नहीं। यद्यपि तृतीय ज्ञान उक्त दो अन्य ज्ञानरूप शाब्दी-भावना के पूर्व में नहीं रहता, तथापि उस शाब्दी-भावना के भाव्य आन्तरिक प्रवृत्तिरूप आर्थी-भावना के पूर्वकाल में अवश्य रहता है और उसका कारण भी है। अतः प्रवृत्तिरूप फल से युक्त पूर्वज्ञानरूप शाब्दी-भावना का तृतीय ज्ञान ही कारण हो सकता है। आर्थी-भावना याग-क्रिया का कारण नहीं हो सकती, क्योंकि उसका कोई व्यापार नहीं है। याग का तो अपूर्वरूप व्यापार है। अतः वह करण हो सकता है।

यहाँ यह भी आक्षेप किया जाता है कि 'पदों से जो अर्थ उपस्थित होते हैं, उन्हींके अन्योन्य सम्बन्ध का बोध पदसमूहरूप वाक्यों से होता है। इस रीति से शाब्दी-भावना के साथ प्रवृत्ति-रूप आर्थी-भावना के सम्बन्ध का बोध वैदिक विधिवाक्यों से हो सकता है, क्योंकि आर्थी-भावना आख्यातरूप लिङादि शब्दों से उपस्थित होती है। परन्तु तृतीय ज्ञानरूपी करण के सम्बन्ध का बोध वैदिक विधिवाक्यों से नहीं हो सकता, क्योंकि वह किसी पद से उपस्थित नहीं है।

'इसी प्रकार जिस मत में तृतीय ज्ञान ही शाब्दी-भावना है, उस मत से वह यद्यपि शब्द से उपस्थित है, तथापि द्वितीय ज्ञान-रूप सम्बन्धज्ञान, जो कि करण है, किसी शब्द से उपस्थित नहीं होता। अतः तृतीय ज्ञानरूप शाब्दी-भावना से उसके सम्बन्ध का ज्ञान विधिवाक्य से नहीं हो सकेगा।'

इसका भी समाधान यह है कि लिङादि प्रत्ययरूप शब्द तो श्रवणेन्द्रिय से उपस्थित होता है। आर्थी-भावना का बोध कराने की शक्ति भी स्मरण से उपस्थित है। इस रीति से उन दोनों का

परस्पर सम्बन्ध और उस सम्बन्ध का ज्ञानरूप तृतीय ज्ञान भी श्रोताओं के अन्तःकरण में उपस्थित है। इस रीति से तृतीय ज्ञान का कोई अंश ऐसा नहीं है, जो उपस्थित न हो। अतः सर्वांशपूर्ण तृतीय ज्ञान उपस्थित ही है। इसीसे पूर्वज्ञानरूप शाब्द-भावना के साथ उसका सम्बन्ध-बोध वैदिक लिङादि शब्दों से सहज ही हो जाता है। लिङादि शब्दों का श्रवणरूप पहला ज्ञान है, प्रवृत्तिज्ञान कराने की शक्ति का ज्ञान दूसरा ज्ञान है। प्रवृत्ति का बोध कराने की शक्ति लिङादि शब्दों में है—यह ज्ञान तीसरा ज्ञान है।

जिस मत में द्वितीय ज्ञान शाब्दी-भावना का करण है, उसमें भी कोई दोष नहीं है; क्योंकि द्वितीय ज्ञान भी श्रोताओं के अंतः-करण में उपस्थित रहता है। अतः उसका सम्बन्ध-बोध भी लिङादि शब्दों से हो ही सकता है। अर्थात् विधि शब्द श्रवण से उपस्थित है। उसमें पुरुषप्रवृत्ति-वाचकता की शक्ति स्मरण से उपस्थित है। उन दोनों का वैशिष्ट्य एवं उसकी ज्ञातता मन में उपस्थित है। इस तरह वाचकता-शक्तियुक्तरूप से ज्ञान विधि-शब्द से उपस्थित है।

फिर भी यहाँ कहा जाता है कि 'जो अर्थ पदों से उपस्थित होता है, वाक्य से उसीके सम्बन्ध का बोध होता है। अतएव श्रोता के अन्तःकरण में अश्व के उपस्थित होने पर भी "गामानय" (गाय लाओ) इस वाक्य से "अश्व लाओ" का बोध नहीं होता। इसीलिए कि अश्व भले ही अन्तःकरण में उपस्थित हो, परन्तु वह शब्द से उपस्थित नहीं है। अतः उक्त तृतीय या द्वितीय ज्ञान यदि शब्द से उपस्थित नहीं है, तो

अन्तःकरण में उपस्थित होने पर भी उनका सम्बन्ध वाक्यार्थ कैसे होगा ?'

पर उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह पहले कहा जा चुका है कि प्रत्येक विधिशब्दों के विषय में "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस सर्वव्यापी वैदिक विधिवाक्य का यही तात्पर्य है कि इस शब्द से जो हो सकता है, सो करे। इसके अनुसार शब्द के अतिरिक्त करण द्वारा भी जो अर्थ उपस्थित होता है, वह भी शाब्दबोध में भासित होता है। अतएव "उद्भिदा यजेत पशुकामः" इस वाक्य से श्रवणेन्द्रिय द्वारा उपस्थित उद्भिद् शब्द के सम्बन्ध का भी बोध होता है। अतः उद्भिद्-अधिकरण में यह कहा गया है कि "अनुपस्थितविशेषणविशिष्टे बुद्धिर्न भवति, न त्वनभिहितविशेषणेति।" अर्थात् यदि विशेषण उपस्थित ही न हो, तब तो विशिष्ट बुद्धि नहीं होती, परन्तु यदि शब्द द्वारा विशेषण उपस्थित न हो, तो विशिष्ट बुद्धि न होने का नियम नहीं है। अर्थात् यह नियम नहीं कि शब्द द्वारा ही उपस्थित विशेषण के सम्बन्ध का वैदिक शब्दों से बोध होता है। किन्तु अन्य प्रकार से उपस्थित विशेषण के सम्बन्ध का भी उनसे बोध होता है।

वस्तुतः लिङादि शब्दों की आज्ञादि पृथक्-पृथक् अर्थों में शक्ति मानने से गौरव होगा। अतः सामान्य रूप से प्रेरणा ही लिङादि शब्दों का अर्थ है। उसीमें आज्ञा आदि सभी विशेष प्रकार अन्तर्गत हो जाते हैं। प्रेरणा भी एक प्रकार का व्यापार ही है, जो कि चेतन, अचेतन सभीमें सम्भव है। इस दृष्टि से शाब्दी-भावना भी वैदिक लिङादि का अर्थ है, क्योंकि वह भी शब्द-व्यापार ही है। जैसे लोक में राजा आदि पुरुषों के प्रवर्तक होते हैं, वैसे ही वेद में लिङादि शब्द ही यज्ञादि में पुरुषों के प्रवर्तक होते हैं। नैयायिक आदि लिङादि शब्दों को ही देखकर

आज्ञा देनेवाले ईश्वर से वेदों का निर्माण मानते हैं। परन्तु इस पक्ष में अपौरुषेयता-सिद्धान्त का हनन हो जाता है। फिर तो बुद्धवाक्य भी ईश्वरोक्त होने से प्रामाण्य हो जायगा, कई लोग बुद्ध को भी ईश्वरावतार मानते ही हैं।

यदि कहा जाय कि 'महापुरुषों से अस्वीकृत होने से उसका अप्रामाण्य है', तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि कौन महापुरुष है और कौन नहीं, इसका निर्णय ही कठिन हो जायगा। फिर यदि वैदिक कर्मों में ईश्वर को प्रेरक माना जायगा, वैसे ही लौकिक कर्मों में भी उसे प्रेरक मानना पड़ेगा। फिर लौकिक कर्मों में साधारण प्रेरक ईश्वर के होते हुए भी राजादि असाधारण प्रेरक होते हैं। तब तो वैदिक कर्मों में भी साधारण प्रेरक ईश्वर के रहने पर भी राजादितुल्य वेद को ही असाधारण प्रेरक मान लेना होगा। वेदपौरुषेयत्ववादी को यह मान लेना पड़ेगा कि राजादि की असाधारण प्रेरणा बिना ईश्वर की प्रेरणा लौकिक कार्यों में पुरुष को प्रवृत्त नहीं कराती, वैसे ही वेद की असाधारण प्रेरणा के बिना यज्ञादिरूप वैदिक कार्यों में भी ईश्वरप्रेरणा किसीकी प्रवृत्ति नहीं करा सकती। वेद की असाधारण प्रेरणा पूर्वोक्त शब्द-भावना ही है। ऐसी स्थिति में शाब्दी-भावना वेद माननेवालों के लिए गले पतित है। साथ ही यदि ईश्वरप्रेरणा मानी जाय, तो वैदिक कर्मों के सभी अधिकारी होंगे ही, कोई भी कदापि उनका उल्लंघन न कर सकेगा। जैसे, सन्ध्यादि वेदविहित कार्यों में ईश्वर की प्रेरणा से प्रवृत्ति होती है, वसे ही ब्रह्महत्यारूप निषिद्ध कर्मों में ईश्वरप्रेरणा से निवृत्ति होगी। अथवा तो किसीकी भी उक्त कर्मों में प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार फिर निषिद्ध कर्म भी ईश्वरप्रेरित होने से विहित ही समझा जायगा। हम पीछे कह ही आये हैं—

"अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् श्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा ॥"

अर्थात् अज्ञानी प्राणी अपने सुख, दुःख में पराधीन होता है, नरक को प्राप्त होता रहता है। अतः यही सिद्धान्त ठीक है कि राजा आदि के तुल्य अपनी प्रवर्तना का बोध कराता हुआ वेद भी पुरुषों में इच्छा उत्पन्न कर कर्मों में उनकी प्रवृत्ति कराता है। लोक, वेद दोनों में प्रवृत्ति कराने की व्यवस्था एक ही है। इस तरह इस पक्ष में किसी अलौकिक अर्थ की कल्पना नहीं करनी पड़ती।

पूर्वोत्तर मीमांसा, दोनों के अनुसार वेद अपौरुषेय एवं अनादि हैं। उत्तर मीमांसा में वेद ब्रह्म विवर्त है। दोनों मतों में प्रवृत्ति के अनुकूल व्यापार ही प्रवर्तना है। यदि प्रवर्तनात्व ही लिङादि पदों का शक्य है, तो प्रवर्तनात्व के आश्रयभूत प्रवर्तना-विशेषों की उपस्थिति उसी तरह होगी, जैसे गोत्व के गोपद-शक्य होने पर भी गोव्यक्तियों की उपस्थिति होती है। यही विधिरूप शब्द-भावना निवृत्ति का कारण (निवृत्ति करनेवाले में रहनेवाली निवर्तना) निवारणरूप शाब्दी-भावना होती है। जैसे "मैं इसे प्रवृत्त करता हूँ" इस तरह प्रवर्तक पुरुष के मानस प्रत्यक्ष के अनुसार प्रवर्तनारूपी शाब्दी-भावना सिद्ध है, उसी तरह "मैं इस पुरुष को इस कर्म से निवृत्त कराता हूँ" इस मानस प्रत्यक्ष से निवर्तक पुरुष की निवर्तनारूपी शाब्दी भावना भी सिद्ध है। जैसे प्रवर्तक पुरुष की अपेक्षा प्रवर्त्य पुरुष के हीन, समान और उत्तम—इस भाँति तीन भेद होते हैं, वैसे ही निवर्तक की अपेक्षा निवर्त्य में भी तीन भेद होते हैं। जैसे लोक में प्रवर्तनाएँ प्रवर्तक की इच्छा-विशेष हैं, अतएव चेतन के ही धर्म हैं, उसी तरह निवर्तनाएँ भी

चेतनधर्म ही है। वेद में निर्माता पुरुष न होने से लिङादि शब्दों में रहनेवाली चतुर्थी प्रवर्तना होती है। वैसे ही "न हिंस्यात्" इत्यादि निषेधों में रहनेवाला निवर्तना भी चौथे प्रकार की होती है। "न हिंस्यात्" के "यात्" इस लिङंश में ही निवर्तनारूप शाब्दी-भावना रहती है और उसीका अर्थ भी है। मारने से पुरुषों की निवृत्ति ही उस निवर्तना का भाव है। यदि "यात्" शब्द की शक्ति का ज्ञान ही निवर्तना है, तो शक्ति के सहित "यात्" शब्द का ज्ञान उसका कारण है। यदि शक्तिसहित "यात्" शब्द का ज्ञान ही निवर्तना है, तो उस शक्ति का ज्ञान ही निवर्तना है।

कहा जाता है कि 'निवृत्ति तो क्रिया के विरुद्ध होती है। जैसे प्रवृत्ति से क्रिया होती है, उसी तरह प्रवृत्ति के विरुद्ध निवृत्ति-रूप यत्न से क्रिया का अभाव होता है। ऐसी अवस्था में "यात्" आदि आख्यातों का निवृत्ति अर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि वह धात्वर्थ "हिंसा" आदि के प्रतिकूल ही है। आख्यात का अर्थ वही होता है, जो धात्वर्थ के अनुकूल हो। इस रीति से जब आख्यात से निवृत्ति उपस्थित नहीं होती, तब वह कैसे निवर्तना का भाव्य हो सकती है? निवृत्ति का बोध करानेवाली शक्ति यदि आख्यात में नहीं है, तो उसके सहित किस शब्द का ज्ञान निवर्तना का कारण होगा? इसके अतिरिक्त प्रवर्तना विधिरूप है, इससे वह लिङादि शब्द का अर्थ है—"विधिनिमन्त्रणा-मन्त्रणाभीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्"—इस पाणिनीय सूत्र से विधि में लिङ् का विधान है, परन्तु निवर्तना में उसका विधान अप्राप्त है। अतः निवर्तनारूपी शाब्दी भावना कैसे संभव होगी?

परन्तु इसका समाधान यह है कि अनादि लोक-व्यवहार के अनुसार निवर्तना भी लिङादि शब्दों का अर्थ है। "न कूपे

पतेत्" (कूप में न पड़ें) इत्यादि वृद्धवाक्यों से प्रयोज्य पुरुषों की कूपपतन से निवृत्ति और प्रवर्तक वाक्य से "मैं कूपपतन से निवृत्त होता हूँ" इत्यादि व्यवहार से यह समझा जाता है कि प्रयोजक वृद्ध का निवर्तनारूप व्यापार नञ्युक्त लिङादि का वाच्य है। इस रीति से निवृत्तिरूप भाव्य भी लिङादि शब्द का अर्थ है। विधिभावना के समान ही निषेधभावना के भी सभी अंश प्रामाणिक हैं।

अन्य लोग उपर्युक्त शंका का समाधान इस प्रकार करते हैं कि निवर्तना नञ् का ही अर्थ है, किन्तु जहाँ नञ् के समीप लिङादि विधिशब्द रहते हैं—जैसे 'न हन्यात्, न पिबेत्'—वहीं निवृत्ति होती है। जहाँ लिङादि शब्द नहीं रहते, वहाँ "न" शब्द से पुरुषों की निवृत्ति नहीं होती। जैसे—"न पिबति" इत्यादि लट् के समीप होने से भी निवर्तना अर्थ नहीं होता। निवर्तना को लिङादि का अर्थ माननेवालों के समान ही भाव्य, करण आदि की उपपत्ति इस पक्ष में भी हो जायगी। प्रथम पक्ष में लिङ्, लोट्, तव्य, अनीयर् आदि शब्दों का निवर्तना अथ मानना पड़ता है। दूसरे में 'अ, मा, नो, न'—चार ही का अर्थ निवर्तना मानना होता है, अतः लाघव है।

अब अर्थवादों का किस प्रकार शाब्दी भावना की इति-कर्तव्यता कोटि में समावेश होता है—यह समझ लेना चाहिए।

इस तरह अध्ययनविधि से शाब्दी-भावना की कार्यता का ज्ञान होता है। "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" के अनुसार वेद लिङादि शब्दों की शक्ति से पुरुषों की प्रवृत्ति को तभी उत्पन्न कर सकते हैं, जब उसके विषय यागादि के गुणों का ज्ञान कराया जाय। अतः अध्ययनविधि से ही यह निश्चित हुआ कि यागादि की

प्रशंसा भी करनी चाहिए। किन शब्दों से प्रशंसा की जाय, ऐसी आशंका होने पर स्वाध्यायपदवाच्य वेद के अन्तर्गत अर्थवादों द्वारा प्रशंसा की जाय, यह निश्चय होता है। तथा च शाब्दी-भावना की इतिकर्तव्यतारूप से अर्थवादों का उपयोग होता है। तथा च सार यह निकलता है कि अर्थवादों से प्राशस्त्यबोध कराकर लिङादि शब्द शक्तिज्ञान द्वारा पुरुष को प्रवृत्त करें। कहा जाता है कि 'यद्यपि अन्यान्य विधिवाक्यों का अध्ययनविधि से नियुक्त होकर पुरुषोपकार में प्रवृत्त होना युक्त है, परन्तु अध्ययनविधि का नियोजक कौन है? अपौरुषेय वेद में पुरुष तो नियोजक हो नहीं सकता। वह वाक्य ही स्वयं अपना नियोजक हो, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अपने पर अपना नियोग नहीं होता, वह परस्पर भिन्न में होता है। कोई अन्य वैदिक वाक्य भी नहीं है, जो कि अध्ययनविधि को नियुक्त करे।

'ऐसी स्थिति में "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्याकारक वचन अध्ययनविधि के तव्य-शब्दार्थ भावना में कार्यता का ज्ञान किसी तरह भी नहीं हो सकेगा। फिर अध्ययनविधि किस तरह प्रवर्तक होगी? वेदाध्ययन की पुरुषार्थ-साधकता भी अध्ययन के ही बल से सिद्ध होती थी। क्योंकि जब अध्ययनविधि किसी-की नियोज्य ही नहीं है एवं अपनी शाब्दी-भावना में कार्यता का ज्ञान ही नहीं करा सकती, तब किस तरह केवल श्रम के लिए ही अध्ययन में प्रवृत्ति सम्पादित हो सकती है। फिर तो वेदों का प्रामाण्य ही व्याहत हो जायगा।'

इसका उत्तर यही है कि लिङादि शब्दों में लौकिक नियोज्यत्व से विलक्षण ही नियोज्यत्व है। स्वामी की प्रेरणा समझनेवाला लौकिक नियोज्य होता है, परन्तु वैदिक लिङादि

शब्द तो स्वयं अचेतन हैं, उन्हें अपनी प्रेरणा का ज्ञान असंभव है। किन्तु उनकी शक्ति के अनुसार ही अध्ययनविधि यह बतलाती है कि लिङादि शब्द यागादि कर्मों में पुरुष की प्रवृत्ति के लिए आग्रह करें। बोध कराने से ही पुरुष यह समझ लेता है कि यागादि कर्म अवश्य ही पुरुषार्थ के साधक हैं, अन्यथा वैदिक लिङादि उनके करने का आग्रह ही न करते। जैसे लौकिक नियोज्य को अपने आप से कर्म करने की इच्छा नहीं होती, किन्तु वह नियोजक का आदर करता है, उसके अनुसार ही कर्मों में इच्छा और प्रवृत्ति होती है। ठीक इसी तरह वैदिक लिङादि शब्द भी अध्ययनविधि का आदर करते हैं, अर्थात् उसके अनुसार बोध कराते हैं। इस दृष्टि से लिङादि भी नियोज्य कहे जाते हैं। जैसे पुरुष में औपचारिक भाव से सिंह पद का प्रयोग होता है, वैसे ही अचेतन लिङ् आदि शब्दों को भी नियोज्य कहा जाता है। इसीके अनुसार शाब्दी-भावना में कार्यता का ज्ञान होता है। अर्थवादवाक्य लक्षणा द्वारा विध्यर्थ के स्तावक होते हैं, इसलिए विधिवाक्यों के साथ अर्थवादों की एकवाक्यता भी होती है। अध्ययनविधि के नियोज्य सभी वैदिक लिङादि शब्द हैं, अतएव वह स्वयं भी नियोज्य है। यद्यपि लोक में एक ही नियोज्य और नियोजक नहीं हो सकता, तो भी अध्ययनविधि सब वेदों पर नियोग करती हुई अपने पर भी करेगी। अर्थात् सब वेदों के पढ़ने का विधान करती हुई, वेदों में स्वयं भी होने से, अपने भी अध्ययन का विधान करेगी ही। जैसे, 'सर्वं मिथ्या' यह वाक्य घट आदि सबको मिथ्या बतलाता हुआ अपने आप को भी मिथ्या बतलाता है, ठीक ऐसे ही अध्ययनविधि के नियोग के विषय में भी

समझना चाहिए। अतः अध्ययनविधि सब वेद की नियोजक होती हुई अपनी भी नियोजक है।

पूर्वमीमांसा के अनुसार अध्ययनविधि में दो रीतियाँ हैं, जिनसे शाब्दी-भावना की इतिकर्तव्यता में अर्थवादों का अन्तर्भाव होता है। पहली रीति यह है कि वैदिक लिङादि शब्द के अर्थ का यज्ञादि के साथ अन्वय (सम्बन्ध) होकर पश्चात् नियोज्य के साथ अन्वय होता है। इस पक्ष के अनुसार अध्ययनविधि का अर्थ करने की रीति यह है कि प्रथम तो वैदिक लिङादिरूप नियोज्य के साथ तव्यरूप विधिशब्द का अन्वय ही नहीं होता। अतः वैदिक लिङादि शब्दों के शाब्दी-भावना आदि व्यापारों का विशेष रूप से उस समय ज्ञान ही नहीं हो सकता। अतएव पहले अध्ययनविधि का सामान्य रूपसे 'भावयेत्' नियोग (कराये) अर्थ होता है। पश्चात् 'को भावयेत्' "किं भावयेत्" (कौन कराये, किससे कराये) यह जिज्ञासा होती है। तब वैदिक लिङादि करायें और पुरुष से करायें, इस रूप से जिज्ञासा शान्त होती है। तब भाव्य की आकांक्षा होती है—किं भावयेत्', तो उस दृष्ट शक्ति के अनुसार "यच्छक्यते तद्भावयेत्" (जो कार्य करा सके, वह कराये) इस प्रकार उस आकांक्षा की पूर्ति होती है। इस तरह अध्ययनविधि का पहले यही अर्थ होता है। इसके अनन्तर तव्यशब्द के अर्थ का वैदिक लिङादि रूप नियोज्य के साथ सम्बन्ध होता है। उसके अनुसार 'वैदिक लिङ क्या करा सकता है' इस तरह भाव्यविशेष की आकांक्षा उत्पन्न होती है। तब उसकी पूर्ति 'पुरुषप्रवृत्ति कराये' इस तरह होती है। अन्त में अध्ययनविधि का यह अर्थ सम्पन्न होता है कि 'वैदिक लिङादि शब्द यज्ञादिरूप कर्मों में पुरुषों की

प्रवृत्ति करायें।' इस रीति में वेदों की अनर्थकता का परिहार निम्नलिखित ढंग से होता है—प्रवृत्ति प्रयोज्य पुरुष का व्यापार है। इसीसे वह शाब्दी भावना का फल है। अध्ययनविधि भी अन्य विधिवाक्यों द्वारा पुरुषों की प्रवृत्ति कराती है—'लिङादिः पुरुषेण प्रवृत्तिं भावयेत'। परन्तु पुरुषों की यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्ति तबतक नहीं होती, जबतक कि उसे कर्मों के पुरुषार्थ-साधक होने का निश्चय नहीं होता। अतः 'स्वर्गकामो यजेत' आदि वाक्य यज्ञादि के पुरुषार्थ-साधकत्व का ही निर्णय कराते हैं।

दूसरी रीति यह है कि लौकिक लिङादि अर्थ का नियोज्य के साथ सम्बन्ध होकर यज्ञादि विषयों से सम्बन्ध होता है। लौकिक लिङादि का प्रवर्तनरूप व्यापार-विशेष में पहले से ही शक्तिग्रह होता है। अध्ययनविधि के द्वारा वही विधेय होती है। अतः पहले से ही 'प्रवर्तयेत्' (प्रवृत्ति करायें) इस प्रकार का अर्थ होता है और लिङादि प्रवृत्ति करायें, इस प्रकार का लिङादि के प्रयोजक कर्तृत्व का निश्चय होता है। पश्चात् किसकी प्रवृत्ति करायें, इस प्रकार प्रयोज्यकर्त्ता की अपेक्षा होती है। परन्तु उसकी 'लिङादिः पुरुषं प्रवर्तयेत्' (लिङादि पुरुष की प्रवृत्ति करायें) इस प्रकार पूर्ति होती है। दोनों ही रीतियों में वैदिक लिङादि को प्रयोजक कर्ता माना जाता है तथा प्रयोज्य कर्त्ता पुरुष की प्रवृत्ति वैदिक लिङादि शब्द के प्रवर्तनारूप व्यापार का फल होता है। यद्यपि वैदिक लिङादि अचेतन हैं, अतः उनमें प्रयोजक-कर्तृत्व नहीं बन सकता। तथापि इसकी उपपत्ति इस तरह होती है—"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" यह अध्ययनविधि वैदिक लिङादि शब्दों के अध्ययन में पुरुषों को नियुक्त करती है। नियुक्त पुरुष यह जानना चाहता है कि 'वैदिक लिङादि मेरा क्या उपकार करेंगे?' पश्चात् लिङादि शब्दों की शक्ति का विचारकर यह

निश्चय करता है कि प्रवर्तना रूप शाब्दी-भावना के बोध द्वारा लिङादि शब्द पुरुषार्थ-सार्थक कर्मों का बोध कराकर पुरुष के उपकारक होते हैं। परन्तु इतने से भी पुरुषों की प्रवृत्ति नहीं होती है। क्योंकि यज्ञों में श्रम और व्यय का बाहुल्य होने से पुरुष-प्रवृत्ति शिथिल हो जाती है। उसी समय अध्ययनविधि के अनुसार यह निश्चय करता है कि ये वैदिक लिङादि शब्द यज्ञादि कर्मों में मेरी प्रवृत्ति का ज्ञान ही कराते हैं उन्हीं से प्रेरणा पाकर वह उसमें प्रवृत्त होता है। अतः लिङादि में प्रयोजक कर्तृत्व आ जाता है।

अर्थवादों का प्रामाण्य : ५ :

अनादि काल से यह व्यवहार प्रचलित है कि वैदिक लिङादि शब्द "यज्ञविधान के प्रयोजक हैं, फिर भी 'वैदिक लिङादि पुरुष को प्रवृत्त करें' इस अध्ययनविधि के अर्थ की तबतक पूर्ति नहीं होती, जबतक कि 'किसके द्वारा' इस करणाकाङ्क्षा की पूर्ति नहीं होती। अवश्य ही लिङादि शब्दों की शक्तिके अनुसार 'प्रेरणा-ज्ञान' द्वारा, इस अर्थ से उसकी पूर्ति होती है। फिर भी 'प्रेरणा-ज्ञान के द्वारा किस प्रकार से प्रवृत्ति करे' ऐसी इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा बनी ही रहती है। अतः उसकी पूर्ति के लिए "याग से स्वर्गसुख लाभ करे" इस पूर्वोक्त आर्थीभावना की अर्थवादों से प्रशंसाकर प्रवृत्ति करें। इस प्रकार अध्ययन-विधि का सारांश यह निकलता है कि लिङादि शब्द प्रेरणा के ज्ञान और अर्थवाद से आर्थीभावना की प्रशंसा द्वारा यज्ञादि कर्मों में पुरुष की प्रवृत्ति करायें। वैदिक लिङादि शब्द पुरुष को प्रेरणामात्र का ज्ञान कराकर उसकी प्रवृत्ति नहीं करा सकते, क्योंकि प्रेरणा का ज्ञान होने पर भी इच्छा के बिना कर्म करने

में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती। प्रेरणाज्ञान से इच्छा होने पर ही प्रवृत्ति सम्भव है। किन्तु वैदिक कर्मों में बहुत परिश्रम और व्यय देखकर आलस्य और लोभ के कारण यज्ञादि कर्मों से द्वेष भी हो सकता है, जो निवृत्ति का कारण और प्रवृत्ति का बाधक है। उस द्वेष से वैदिक विधिशब्द से उत्पन्न इच्छा दबकर पुरुषप्रवृत्ति में विघ्न भी उत्पन्न हो सकता है। लोक में भी लाभप्रद, किन्तु व्यय-श्रमसाध्य व्यापारों में उत्पन्न हुई इच्छा लोभ, आलस्य एवं द्वेष से दब ही जाती है। अतः वैदिक लिङादि शब्द पूर्वोक्त द्वेष को मिटानेवाले की अपेक्षा अवश्य करते हैं। यदि पुरुष की प्रवृत्ति न हो तो विधिवाक्य ही स्वयं व्यर्थ हो सकते हैं। उस द्वेष को मिटाने के लिए यज्ञादि-भावना की प्रशंसा से अतिरिक्त और कोई भी उपाय नहीं।

अतएव जैसे लोक में भी 'यह गाय बहुत दूध देती है' आदि प्रशंसा बहुवित्तसाध्य गौ के खरीदने में उपयुक्त होती है, वैसे ही अर्थवाद भी प्रशंसा द्वारा पुरुष का उक्त द्वेष मिटाकर यज्ञादि कर्मों में उसकी प्रवृत्ति करा देते हैं। जैसे, लौकिक प्रशंसा-वाक्यों में द्वेष मिटाकर इच्छा उत्पन्नकर प्रवृत्ति कराने की सामर्थ्य है, वैसे ही वह अर्थवादों में भी है। अतः अर्थवादों में प्रवृत्ति कराने की सहकारिणी शक्ति सिद्ध है। प्रशंसा का स्वरूप ही ऐसा है कि वह अपने प्रशंसनीय पदार्थ से द्वेष को मिटा देता है।

अर्थवादों का इष्टफलसाधनतारूप प्रशंसा-अर्थ विवक्षित नहीं, क्योंकि "यागेन स्वर्गं भावयेत्" (याग से स्वर्गसुख प्राप्त करें) इस आर्थी भावना द्वारा लिङादि शब्द से ही वह सिद्ध है। अन्य भी कोई अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं, क्योंकि उसका

प्रवृत्ति में उपयोग नहीं है। किन्तु बलवान् अनिष्ट का कारण न होना भी प्रवृत्ति में आवश्यक है। "यागेन स्वर्गं भावयेत्" इस आर्थीभावना से यद्यपि इष्टसाधनता का ज्ञान होता है, तथापि उतने से ही बलवदनिष्टाननुबन्धित्व (प्रबल अनिष्ट का साधन न होना) निश्चित नहीं होता। क्योंकि तृप्ति आदि इष्ट का हेतु होने पर भी कलञ्ज-भक्षण (जहरीले बाणों से मारे हुए मृग का मांस खाना) पापादि अनिष्ट का भी साधन होता है। यही स्थिति विषमिश्रित अन्न की भी है। वह तृप्ति का हेतु होने पर भी मरणरूप बलवान् अनिष्ट का अनुबन्धी (कारण) है। ऐसे ही वेदविहित श्येनयाग से शत्रुमरणजन्य सुख होता है और उसका स्वरूप किसी प्रबल अनिष्ट का साधन नहीं। फिर भी श्येनयाग का फल शत्रुहिंसा "न हिंस्यात्" से निषिद्ध होने के कारण प्रबल दुःख का कारण है। इस तरह उपर्युक्त उदाहरणों में इष्टसाधनता होने पर भी बलवदनिष्टाननुबन्धित्व नहीं है। अर्थात् इष्टसाधन होते हुए भी वे बलवान् अनिष्ट के साधन हैं।

अतएव मीमांसा के आचार्यों ने कहा है :—

"फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते।
केवलं प्रीतिहेतुत्वात् तद्धर्म इति कथ्यते॥"

अर्थात् जिस कर्म का फल भी दुःखदायी न हो, जो अपने स्वरूप और फल से केवल सुखदायक ही हो, वही धर्म कहलाता है। लाभ की अपेक्षा श्येनयाग के फल द्वारा हानि अधिक है। इससे श्येनयाग भी धर्म नहीं है। अतएव विवेकियों की उसमें प्रवृत्ति नहीं होती। जिसे फलकृत हानि स्वीकारकर शत्रुवध का लाभ उठाना है, उसीके लिए श्येनयाग का विधान है। विधान का यह अर्थ नहीं कि हर किसीको वह करना चाहिए।

सारांश, वैदिक लिङादि शब्द यद्यपि अपनी प्रवर्तना के ज्ञान से ही यागादि में सुखसाधनता बतलाकर इच्छा उत्पन्न कर सकते हैं, तथापि अर्थवादों के बिना विषमिश्रित मिष्टान्न भोजन या श्येनयाग के समान अनिष्टहेतुत्व की सम्भावना से उत्पन्न द्वेष से इच्छा दब सकती है। फिर तो विधिशक्ति का शिथिल हो जाना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में अर्थवाद ही प्रशंसा द्वारा यह बतलाते हैं कि इन यागों के स्वरूप तथा फल सभी सुख के साधक हैं। इनमें किसीके भी प्रबल अनिष्ट-हेतु होने की सम्भावना नहीं है। यागादि स्वतः या फलतः अनर्थ का कारण नहीं। इस तरह बोध कराने से ही अर्थवाद विधि-शक्ति का उत्तम्भन करते हैं, जिससे पुरुषों की यज्ञादि में प्रवृत्ति हो जाती है। इस तरह प्रशंसारूप अपने लक्ष्यार्थ द्वारा सभी अर्थवाद शाब्दी-भावना की इतिकर्त्तव्यता में अन्तर्भूत हो विधिवाक्यों के अङ्ग होकर प्रमाण होते हैं। अर्थवादों के बिना प्रवृत्ति में विघ्न पड़ने के कारण विधिवाक्य अकिञ्चित्कर हो सकते हैं।

कुछ लोग सन्देह करते हैं कि 'यदि द्वेषनाश के लिए अर्थ-वादों से प्रशंसा अपेक्षित है, तब तो स्वर्गादि फलों की भी प्रशंसा आवश्यक होगी। ऐसी स्थिति में स्वर्गादि फलबोधक वाक्यों का भी प्रशंसा में ही तात्पर्य समझा जायगा। फिर स्वर्गादि के तात्त्विक होने में कुछ भी प्रमाण न रह जायगा।' इसका समाधान यही है कि अङ्ग एवं प्रधानरूप यज्ञादि कर्मों में ही विधि की प्रेरणा होती है। इसीलिए अध्ययनविधि उन कर्मों की प्रशंसा में-कार्यता का ज्ञान कराती है ही क्योंकि वही श्रम एवं व्यय से साध्य होने के कारण स्वतःपुरुषार्थरूप नहीं हैं, इसीलिए बिना प्रेरणा के उनमें प्रवृत्ति सम्भव नहीं। किन्तु

स्वर्गादि फल तो स्वयं पुरुषार्थरूप हैं, अतः स्वर्गादि की प्रशंसा के बिना भी केवल उनके स्वरूप ज्ञान से ही पुरुषों की यागादि कर्मों में इच्छा और प्रवृत्ति हो सकती है। इसीलिए अध्ययन-विधि फल की प्रशंसा में कार्यता का ज्ञान नहीं कराती। अतएव स्वर्गादिस्वरूप-बोधक वाक्यों का मुख्य तात्पर्य फलबोध में ही है। अतएव स्वर्गादि का अस्तित्व निश्चित होता है। आर्थी-भावना के यागादि रूप कारणांश एवं अवघातादि इतिकर्त्तव्य-तांश में ही प्रशंसा अपेक्षित है। स्वर्गादि फलरूप साध्यांश में प्रशंसा की आवश्यकता नहीं है।

फिर भी कुछ लोग कहते हैं कि 'यदि प्रशंसा आवश्यक है, तो स्वर्गादि फलबोधक वाक्यों से ही यागादि की प्रशंसा की जा सकती है, पृथक् अर्थवादों की क्या आवश्यकता है।' किन्तु यहाँ यह प्रश्न होगा कि क्या फलवाचक स्वर्गादि शब्दों से ही प्रशंसा की जाय या 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग की कामनावाला यज्ञ करे) आदि विधिवाक्यों से? यदि अन्तिम पक्ष मान्य हो, तब भी वे किस तरह प्रशंसा करेंगे? क्या याग निर्दोष वेद से विहित होने के कारण प्रशस्त है या द्रव्य-देवता, इति-कर्त्तव्यता आदि अङ्गों के प्रशस्त होने से प्रशस्त है? दोनों ही पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता का बोध कराकर कृतकृत्य वाक्य प्रशंसाबोधन में प्रवृत्त न होंगे। 'केवल स्वर्गादि पद ही अर्थवादों के समान स्वार्थ को छोड़कर लक्षणा द्वारा प्रशंसा का बोध करायेंगे' यह प्रथम पक्ष भी उचित नहीं। क्योंकि जब फलरूप अपने अर्थ का बोध कराकर स्वर्गादि शब्द चरितार्थ हो जाते हैं, तो फिर उनमें वाच्यार्थ-त्याग कर लक्षणा क्यों होगी? इसके अतिरिक्त यदि पहले से ही वाच्यार्थ को छोड़कर स्वर्गादिपद प्रशंसा ही बोध करायेंगे, तो स्वर्गादि

फलों का बोध न होने से पुरुषों की यज्ञादि में प्रवृत्ति ही न होगी। वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों अर्थों का बोध एक ही बार के उच्चारण से नहीं हो सकता। अतः यह भी नहीं कह सकते कि दोनों अर्थों का बोध हो जायगा।

इसपर कहा जाता है कि 'स्वर्गादि पदों का फल में तात्पर्य न होने पर भी शब्दशक्ति के अनुसार उनसे फलों का बोध और प्रवृत्ति हो ही जायगी। ऐसी स्थिति में स्वर्गादि शब्दों का प्रशंसारूप लक्ष्यार्थ मानने में क्या हानि है?' किन्तु वेद इस बात पर ध्यान नहीं देते। जब विधि-वाक्यों में स्वर्गादि पद से अन्य कोई पद फल का बोधक है ही नहीं, तब स्वर्गादि शब्द ही उसका बोधक और फलबोध में ही उसका तात्पय क्यों न माना जाय, प्रशंसारूप लक्ष्यार्थ में तात्पर्य क्यों हो?

फिर भी कहा जाता है कि "यागादि कर्म प्रशस्त हैं, क्योंकि उनके स्वर्गादि फल हैं, इत्यादि अनुमान से ही प्रशंसा निकल सकती है।" किन्तु इस आनुमानिक अर्थ में विधिवाक्यों का अर्थ नहीं हो सकता। तात्पर्य के बिना वह शाब्द नहीं हो सकता। आनुमानिक आर्थिक अर्थशास्त्र का अर्थ नहीं कहा जा सकता, जिससे फल के निश्चय द्वारा पुरुष की प्रवृत्ति हो सके।

जैसे 'पूर्वो धावति' (पहला दौड़ता है) यह कहने से दूसरे के होने का ज्ञान होता है, किन्तु दौड़ने में दूसरे के सम्बन्ध का बोध इस वाक्य से नहीं होता; वैसे ही विधिवाक्यों से भी आर्थिक अर्थ का आर्थीभावना में सम्बन्ध कदापि ज्ञात नहीं हो सकता। कहा जाता है कि 'जैसे "प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रिरुपयन्ति" (जो इस रात्रि-सत्र यज्ञ को करते हैं, वे अवश्य प्रतिष्ठा पाते हैं) ऐसे अर्थवाद वाक्यों से यज्ञ की प्रशंसा और

फल का निश्चय भी होता है—यह मीमांसकों को मान्य है। अतएव इसी अर्थवाद से "प्रतिष्ठाकामा रात्रिसत्रं कुर्वीरन्" (प्रतिष्ठा चाहनेवाले लोग रात्रिसत्र करें) ऐसी विधि की भी कल्पना होती है। एवञ्च इस अर्थवाद से जैसे फलबोध और प्रशंसारूप अर्थ दोनों अवगत होते हैं, वैसे ही "स्वर्गकामः" आदि पदों से भी फलबोध और यज्ञ की प्रशंसा दोनों हो, तो क्या हानि है ?' किन्तु जरा-सा ध्यान देने पर दृष्टान्त और दार्ष्टान्त की विषमता स्पष्ट हो जायगी है। 'प्रतितिष्ठन्ति' इस अर्थवाद-वाक्य से प्रतिष्ठारूप फलबोध के बिना विधि की कल्पना ही नहीं हो सकती। फिर विधिकल्पना के बिना अर्थवाद किस वाक्य से विहित 'रात्रिसत्र' की स्तुति करेगा ? ऐसी स्थिति में यह अर्थवाद व्यर्थ ही हो जाता। अतः उक्त अर्थवाद की अव्यर्थता के लिए अगत्या प्रशंसा और फल के बोध में उसकी शक्ति माननी पड़ती है। किन्तु 'स्वर्गकामः' आदि पदों में ऐसी कोई स्थिति नहीं है।

इसके सिवा उपर्युक्त अर्थवाद से वाक्य की ही कल्पना होती है। वे ही प्रत्यक्ष वेदवाक्यों के समान अपने अर्थों का बोध कराते हैं। किन्तु 'वायव्यं श्वेतमालमेत भूतिकामः' इत्यादि वाक्यों में तो भूति आदि पदों से फलस्वरूप का 'बोध होता है।' प्रशंसा का बोध तो 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता...' (वायु शीघ्रगामी देवता है। वह शीघ्र ही उसे ऐश्वर्य्य देती है, जो उसके भागधेय श्वेत पशु से उसका आराधन करते हैं) इस अर्थवाद से होता है। इस तरह जब दोनों ही कार्य प्रत्यक्ष पठित विधि और अर्थवाद से हो सकता है, तब 'भूति' आदि शब्दों से आर्थिकरीत्या प्रशंसा-रूप अर्थ निकालने का क्लेश क्यों उठाया जाय ?

यदि 'भूति' आदि शब्दों से किसी वाक्य की कल्पना न कर प्रशंसा-अर्थ ही निकालना है, तो उस पक्ष में भी 'पूर्वो धावति' के समान आर्थिक अर्थ का आर्थीभावना से सम्बन्ध न होगा। यदि कहा जाय कि 'भूति', 'स्वर्ग आदि शब्दों से प्रशंसा-वाक्य की कल्पना कर ली जायगी', तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रशंसा-वाक्य न होने पर ही कल्पना आवश्यक होती है। जब अर्थवाद विद्यमान ही हैं, तब कल्पना की निरर्थकता स्पष्ट ही है। प्रसिद्ध का त्यागकर अप्रसिद्ध की कल्पना अन्याय्य भी है। अर्थवादों का भी वाच्यार्थ प्रशंसा नहीं है, तथापि लक्षणा से प्रशंसा अर्थ निकलता ही है। 'भूति' आदि शब्दों से तो वायव्य-याग प्रशस्त है। इसी तरह प्रशंसाबोधक वाक्य की कल्पना करनी पड़ेगी। यहाँ प्रत्यक्ष अर्थवाद विद्यमान रहने के कारण इससे 'रात्रिसत्र' की तुल्यता भी नहीं है, जिससे उसी न्याय से वाक्य की कल्पना की जा सके।

इस तरह स्पष्ट है कि श्रम और व्यय के कारण कर्मों में द्वेष उत्पन्न हो जाता है, जिससे विधिवाक्य से प्रवर्तनाज्ञान द्वारा उत्पन्न हुई इच्छा भी शिथिल हो जाती है। इसलिए विधि-वाक्य पुरुषप्रवृत्ति के लिए अर्थवाद का मुँह ताकते रहते हैं। उधर अर्थवादों को भी अपनी सफलता के लिए विधि का मुखा-पेक्षी होना पड़ता है। इन्हीं परस्पर आकांक्षाओं को देख अध्य-यनविधि यह बतलाती है कि उक्त अर्थवादवाक्य लक्षणावृत्ति से प्रशंसा का बोध कराकर, उसके द्वारा उक्त विधि-वाक्यों से मिलकर पुरुषप्रवृत्ति के सम्पादन द्वारा स्वर्गादिरूप पुरुषार्थ-लाभ में सफल होते हैं। अतएव अदृष्टार्थक पाठ में अर्थवादों का उप-योग है, यह कथन भी असंगत है। कारण लिङादि विधिबोधक प्रत्यय न होने से अर्थवाद विधायक नहीं होते। यदि वहाँ विधि-

वाक्यों की कल्पना करेंगे, तो भी प्रवृत्ति के लिए प्रशंसा की आवश्यकता रहेगी ही। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'अर्थवाद से ही विधिकल्पना और लक्षणा से प्रशंसा का बोध कराया जायगा, क्योंकि जब अर्थवादवाक्य अपने वाच्यार्थ द्वारा विधि की कल्पना करा चुके, तो उनकी सामर्थ्य का व्यय हो चुका। फिर वे किस सामर्थ्य से प्रशंसा का बोध करायेंगे? कथञ्चित् यह मान भी लिया जाय, तो भी अन्ततः वादी को जब अर्थवादों की लक्षणा करनी ही है, तो पहले ही उन्हींसे प्रसंशा का बोध क्यों न माना जाय और प्रत्यक्ष श्रुत विधिवाक्यों के साथ उनकी एकवाक्यता ही क्यों न हो और नवीन विधिवाक्य की कल्पना क्यों की जाय?

कहा जाता है कि 'अर्थवादों का आर्थीभावना रूप साक्षात् ही अर्थ क्यों न मान लिया जाय?' किन्तु "तैर्यच्छक्यते तत्कर्तव्यम्" इस उक्ति के अनुसार लौकिक शक्ति से जो किया जा सके, वही करना चाहिए। लिङादि विधिशब्द अर्थवादों में नहीं हैं, अतः उनमें आर्थीभावना का बोध कराने की शक्ति नहीं है। कहा जाता है कि जैसे "वसन्ताय कपिञ्जलानालभेत" (वसन्त देवता के प्रीत्यर्थं कपिञ्जल नामक पक्षिविशेष से होम करना चाहिए) इस विधिवाक्य में विधान करने और प्रशंसा करने की शक्ति मानी जाती है, वैसे ही "वायव्यं श्वेतनालभेत भूतिकामः" इत्यादि विधियों में भी विधान और प्रशंसा क्यों न मानी जाय? ऐसी स्थिति दोनों शक्तियों में अर्थवादों का क्या प्रयोजन रह जाता है?' किन्तु इसका उत्तर यही है कि इस विधि के समीप में कोई अर्थवाद पठित नहीं है, इसलिए अगत्या उसमें प्रशंसा करने की भी शक्ति माननी पड़ती है।

यह भी शंका होती है कि 'यदि विधिशक्ति न रहने से

अर्थवाद आर्थीभावना का बोध नहीं करा सकते, तो अक्षरों के अर्थ का ही बोध करायेंगे। फिर भी उनका प्रशंसा अर्थ क्यों माना जाय?' किन्तु इसका समाधान यह है कि यदि अर्थवाद अपने अक्षरों के अनुसार सिद्ध अर्थ का ही प्रतिपादन करेंगे, तो उससे पुरुषों की प्रवृत्ति में कुछ भी उपकार नहीं होगा। इसी कारण जिससे पुरुषों की प्रवृत्ति हो सके, ऐसे अर्थ का बोध कराकर अर्थवाद अपनी सफलता सम्पादन कर सकते हैं। पुरुषार्थरूपी अर्थ के बोधन से ही सफलता संभव है। अक्षर तो परिश्रममात्र देनेवाला है। इस दृष्टि से अर्थवाद अनन्यगति होकर पुरुषों की प्रवृत्ति के लिए प्रशंसा-बोधन द्वारा अपनी सफलता सम्पादन करता है। विधिवाक्यों को भी यागादि की प्रशंसा ही अपेक्षित होती है। इस तरह 'नष्टाश्वदग्ध-रथ' न्याय से विधि और अर्थवाद दोनों एकवाक्यतापन्न होकर (मिलकर) परस्पर की आकाङ्क्षाएँ पूर्ण करते हैं। अर्थवाद की पुरुषार्थरूपी प्रयोजन की आकांक्षा को विधिवाक्य और विधिवाक्यों की शाब्दीभावना की इतिकर्तव्यतांशरूप प्रशंसा की आकांक्षा को अर्थवाद पूर्ण करते हैं। इसीलिए विधि और अर्थवाद मिलकर एक वाक्य बनते हैं। अकेले दोनों ही अपूर्ण रहते हैं। अतएव जहाँ विधि ही है, अर्थवाद नहीं, वहाँ अर्थवाद की कल्पना करनी चाहिए। जैसे—"वसन्ताय कपिञ्जलानालभेत" इसी विधि में अर्थवाद की कल्पना होती है। जहाँ विधि नहीं, वहाँ अर्थवाद से ही

विधि की कल्पना होती है। जैसे—'प्रतितिष्ठन्ति' इत्यादि। यह सारा अर्थ अध्ययनविधि से ही निकलता है।

इसी तरह निन्दार्थक अर्थवादों की निषेधों के साथ एकवाक्यता होती है। जैसे "यो बर्हिषि रजतं दद्यात् पुराऽस्य संवत्सराद् गृहे रोदनं भवति" (जो बर्हियागमें रजत-दक्षिणा देना है, उसके गृह में वर्ष के भीतर रोदन होता है) इस अर्थवाद का "तस्माद् बर्हिषि रजतं न देयम्" (उक्त भय से बर्हियाग में चाँदी की दक्षिणा न दें) इस निषेध के साथ परस्पराकाङ्क्षा से एकवाक्यता होती है। जैसे प्रवृत्ति में यज्ञादि की प्रशंसा अपेक्षित होती है, वैसे ही निवृत्ति के लिए निषेध की निन्दा भी अपेक्षित होती है। यद्यपि निषेधकी महिमा से ही निषेध्य की प्रबल दुःखहेतुता का ज्ञान और उससे द्वेष एवं निवृत्ति हो सकती थी। फिर भी जैसे परस्त्री-गमन वेदों द्वारा प्रबल दुःखकारक रूप से विहित होने पर भी तत्काल सुखजनक होने से उससे द्वेष मिट जाता है तथा उसमें इच्छा और प्रवृत्ति हो जाती है, वैसे ही कीर्ति आदि दृष्टफलों के लोभ से उत्पन्न इच्छा और उत्साह से रजतदान से द्वेष और निवृत्ति मिटकर प्रवृत्ति हो सकती है। अतएव उस प्रवृत्ति के निवारणार्थ तथा इच्छा मिटाने और द्वेष उत्पन्न करने के लिए निन्दार्थवाद से अतिप्रबल दुःख दिखलाकर रजतदान की निन्दा की जाती है। विधियुक्त नञ् शब्द से निकली हुई निवारण-रूपी शाब्दीभावना के निषेधज्ञानात्मक करणांश में अन्तर्गत

होकर निन्दार्थवाद निषेध की निवर्त्तक शक्ति का उत्तम्भन करता है।

इस तरह अर्थवादों का मुख्य तात्पर्य स्तुति या निन्दा में ही है। उनके द्वारभूत अर्थ अमुख्य ही हैं। यही बात "विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" इस सूत्र से कही गयी है। विधियों के साथ परस्पराकांक्षामूलक एकवाक्यता के बिना अर्थवादों की निन्दा या स्तुति में लक्षण नहीं हो सकती, क्योंकि उनका मुख्यार्थ बाधित नहीं है। अतएव दोनों की एकवाक्यता आवश्यक है।

फिर किसका निन्दा अर्थ है और किसका स्तुति, इसका निर्णय भी एकवाक्यता के बिना संभव नहीं है। कोई अर्थवाद विधेय से भिन्न की निन्दा द्वारा विधेय की स्तुति करते हैं, तो कोई विधेय की निन्दा और तद्भिन्न की प्रशंसा करते हुए-से प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः विधेय के प्रशंसक ही होते हैं। कुछ अर्थवादों में प्रशंसा या निन्दा का सन्देह ही बना रहता है। किन्तु यदि एकवाक्यता से अर्थवादों को विधि-निषेध का शेष (अंग) मान लिया जाय, तो यह निर्णय सरलता से हो जाता है। जैसे—"प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम्।" अर्थात् सूर्योदय के पहले जो अग्निहोत्र करते हैं, वे प्रातःकाल झूठ बोलते हैं, क्योंकि उस समय सूर्य्य ज्योति है ही नहीं। फिर "सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः स्वाहा" इस मन्त्र से होम कैसे? इस तरह यद्यपि यह

विधि की कल्पना होती है। जैसे—'प्रतितिष्ठन्ति' इत्यादि। यह सारा अर्थ अध्ययनविधि से ही निकलता है।

इसी तरह निन्दार्थक अर्थवादों की निषेधों के साथ एकवाक्यता होती है। जैसे "यो बर्हिषि रजतं दद्यात् पुराऽस्य संवत्सराद् गृहे रोदनं भवति" (जो बर्हियागमें रजत-दक्षिणा देना है, उसके गृह में वर्ष के भीतर रोदन होता है) इस अर्थवाद का "तस्माद् बर्हिषि रजतं न देयम्" (उक्त भय से बर्हियाग में चाँदी की दक्षिणा न दें) इस निषेध के साथ परस्पराकाङ्क्षा से एकवाक्यता होती है। जैसे प्रवृत्ति में यज्ञादि की प्रशंसा अपेक्षित होती है, वैसे ही निवृत्ति के लिए निषेध की निन्दा भी अपेक्षित होती है। यद्यपि निषेधकी महिमा से ही निषेध्य की प्रबल दुःखहेतुता का ज्ञान और उससे द्वेष एवं निवृत्ति हो सकती थी। फिर भी जैसे परस्त्रीगमन वेदों द्वारा प्रबल दुःखकारक रूप से विहित होने पर भी तत्काल सुखजनक होने से उससे द्वेष मिट जाता है तथा उसमें इच्छा और प्रवृत्ति हो जाती है, वैसे ही कीर्ति आदि दृष्टफलों के लोभ से उत्पन्न इच्छा और उत्साह से रजतदान से द्वेष और निवृत्ति मिटकर प्रवृत्ति हो सकती है। अतएव उस प्रवृत्ति के निवारणार्थ तथा इच्छा मिटाने और द्वेष उत्पन्न करने के लिए निन्दार्थवाद से अतिप्रबल दुःख दिखलाकर रजतदान की निन्दा की जाती है। विधियुक्त नञ् शब्द से निकली हुई निवारणरूपी शाब्दीभावना के निषेधज्ञानात्मक करणांश में अन्तर्गत

होकर निन्दार्थवाद निषेध की निवर्त्तक शक्ति का उत्तम्भन करता है।

इस तरह अर्थवादों का मुख्य तात्पर्य स्तुति या निन्दा में ही है। उनके द्वारभूत अर्थ अमुख्य ही हैं। यही बात "विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" इस सूत्र से कही गयी है। विधियों के साथ परस्पराकांक्षामूलक एकवाक्यता के बिना अर्थवादों की निन्दा या स्तुति में लक्षणा नहीं हो सकती, क्योंकि उनका मुख्यार्थ बाधित नहीं है। अतएव दोनों की एकवाक्यता आवश्यक है।

फिर किसका निन्दा अर्थ है और किसका स्तुति, इसका निर्णय भी एकवाक्यता के बिना संभव नहीं है। कोई अर्थवाद विधेय से भिन्न की निन्दा द्वारा विधेय की स्तुति करते हैं, तो कोई विधेय की निन्दा और तद्भिन्न की प्रशंसा करते हुए-से प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः विधेय के प्रशंसक ही होते हैं। कुछ अर्थवादों में प्रशंसा या निन्दा का सन्देह ही बना रहता है। किन्तु यदि एकवाक्यता से अर्थवादों को विधि-निषेध का शेष (अंग) मान लिया जाय, तो यह निर्णय सरलता से हो जाता है। जैसे—"प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुहति येऽग्निहोत्रम्।" अर्थात् सूर्योदय के पहले जो अग्निहोत्र करते हैं, वे प्रातःकाल झूठ बोलते हैं, क्योंकि उस समय सूर्य ज्योति है ही नहीं। फिर "सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः स्वाहा" इस मन्त्र से होम कैसे? इस तरह यद्यपि यह

अर्थवाद अनुदित होम की निन्दा करता हुआ प्रतीत होता है, तथापि वैसा नहीं है; क्योंकि यह "तस्मादुदिते होतव्यम्" अर्थात् 'उदित होने पर होम करे' इस विधि का शेष है। अतः उसीके साथ इसकी एकवाक्यता होने पर उदित होम की प्रशंसा ही इसका अर्थ निकलता है, अनुदित पक्ष की निन्दा नहीं। यदि अनुदित पक्ष की निन्दा ही अभीष्ट होती, तो उदित होमविधि के पास इसका पाठ न होता। साथ ही अनुदित-होमविधि से इस अर्थवाद का विरोध भी अनिवार्य हो जाता। अतएव उदित, अनुदित किसी काल के होम का निषेध नहीं है, किन्तु किसी पक्ष का भी नियम किया जा सकता है। इन स्थलों में स्वतन्त्र निन्दा-वाक्यों से प्रशंसा-अर्थ कभी नहीं निकल पाता। अतः उदित-होमविधि के साथ एकवाक्यता कर निन्दारूप अर्थ को हटाते हुए ही लक्षणा से उदित-होम की प्रशंसा रूप अर्थ करना पड़ता है—"नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्त्तते किं तर्हि निन्दितादितरप्रशंसितुम्।' अन्यथा जिस अनुदित-होम का विधान है, उसी की निन्दा क्यों ? अनुदित-होम की निन्दा का उदित होम के विधान के साथ परस्पर क्या सम्बन्ध है ? उदित होम के समीप अनुदित होम के निन्दा-वाक्य का पाठ क्यों ?, ये सभी शंकाएँ बनी ही रहेंगी। इन्हीं सब शंकाओं को दूर करने के लिए विधि के समीप पढ़े गये अर्थवादों की उसके साथ एकवाक्यता सम्पादन करने का प्रयत्न किया जाता है।

इसी तरह त्र्यम्बक देवतासम्बन्धी पुरोडाशों के प्रसङ्ग में कहा गया है—"अभिघार्य्या नाभिघार्य्या इति मीमांसन्ते यदभिघारयेत्

रुद्रायास्ये पशून्निदध्यात्, यन्नाभिघारयेन्न रुद्रास्ये पशून्निदध्यात्, अथो खल्वाहुः, अभिघार्य्या एव नहि हविरनभिघृतमस्ति।" अर्थात् यह विचार किया जाता है कि 'इन पुरोडाशों का अभिघारण (अग्नि पर उष्णकर घी से तर करना) किया जाय या नहीं? जो अभिघारण करता है, वह मानो रुद्र के मुख में अपने पशुओं को डालता है। जो अभिघारण नहीं करता, मानो वह नहीं डालता।' इसके अनन्तर कहा जाता है कि 'अवश्य अभिघारण करना चाहिये, क्योंकि अभिघारण के विना हवि ही नहीं होता।' इस अर्थवाद में सन्देह होता है कि यह अभिघारण का विधान है, या निषेध? पूर्वपक्षी कहता है कि "अभिघारण करना मानो रुद्रमुख में अपने पशुओं को देना है' इससे निषेधार्थ तथा 'अभिघारण के बिना हवि नहीं होता' इस अंश में विधानार्थ प्रतीत होता है। अतः जैसे "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" इन विधानों एवं निषेधों से 'षोडशी-पात्रविशेषों का ग्रहण-अग्रहण दोनों ही यज्ञकर्त्ता की इच्छा पर निर्भर है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए।' किन्तु सिद्धान्त के अनुसार यह निश्चय होता है कि "अभिघार्य्या एव' इस विधिवाक्य से एकवाक्यता होने पर यह अर्थवाद अभिघार की प्रशंसा में ही पर्यवसित है। अतएव अभिघार करने के दोष एवं न करने के गुणों को चिन्ता न करके "अभिघार्य्या एव" अभिघारण ही करना चाहिए। यहाँ भी "अभिघार्य्या" इस विधिवाक्य की एकवाक्यता से ही अभिघारण का निन्दारूप प्रत्यक्ष अर्थ

छोड़कर प्रशंसा में तात्पर्य निर्णीत होता है।

"यदृचा स्तुवते तदसुरा अन्ववायन् यत्साम्ना स्तुवते
तदसुरा नान्ववायन् य एवं विद्वान् साम्ना स्तुवीत।"

अर्थात् जो ऋक्मन्त्र से स्तुति करता है, उस स्तुति के पीछे असुर आ जाते हैं, साममन्त्र से की हुई स्तुति का अनुगमन असुर नहीं करते, ऐसा समझकर विद्वान् साम से स्तुति करता है। यहाँ सन्देह होता है कि "ऋचा स्तुवते" यह वाक्य ऋक् मन्त्र से स्तुति करने का विधान करता है या "साम्ना स्तुवीत" इस वाक्य से विधान की हुई सामस्तुति की प्रशंसामात्र करता है? पूर्वपक्ष होता है कि 'यद्यपि लिङादि विधिप्रत्यय नहीं, तथापि यह वाक्य विधायक ही है; क्योंकि उक्त विषय-वाक्य में यदि साम-स्तुति का विधान होता, तो उस सामस्तुति की प्रशंसा "ऋचा स्तुवते" इस वाक्य से हो सकती थी। "साम्ना स्तुवीत" वाक्य विधायक नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें "य एव विद्वान् साम्ना स्तुवीत" यहाँ 'यः' शब्द का योग है। वह आप से आप होने-वाली पुरुष की प्रवृत्ति का अनुवादमात्र करता है। जैसे—'य एवं विद्वान् पौर्णमासी यजते' यह वाक्य केवल अनुवादमात्र करता है, विधान नहीं; वैसे अन्यत्र भी समझना चाहिए। जिस वाक्य में "यद्" शब्द का प्रयोग होता है, उस वाक्य के लिङादि शब्दों की विधानशक्ति नष्ट हो जाती है। ऐसी स्थिति में 'ऋचा स्तुवते' से उसकी प्रशंसा नहीं, किन्तु विधान ही होता है। यद्यपि 'यदृचा स्तुवते' इस वाक्य में भी 'यद्' शब्द लगा है, तथापि वह

याग का अनुवादक है, अतएव उसकी विधानशक्ति नष्ट नहीं होती। अथवा दो विधायक वाक्यों के बल पर ऋक् और साम मन्त्रों का विकल्प ही होना चाहिए—दोनों में से चाहे जिस से स्तुति करें।'

इसपर सिद्धान्त पक्ष यह है कि 'यद्' शब्द लाने पर भी 'साम्ना स्तुवीत' वाक्य अनुवादक नहीं, किन्तु विधायक ही है। जैसे–'य एवं विद्वान् सोमेन यजेत' अर्थात् जो ऐसा समझकर सोमयज्ञ करे, यह वाक्य विधायक होता है। क्योंकि विधिशब्द 'यद्' शब्द को दबाकर विधान करता है। 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते' इस स्थल में तो लट् है, विधिबोधक लिङादि है ही नहीं; अतः वह 'यद्' से दुर्बल है। इसीलिए विधिकल्पना में 'यद्' शब्द बाधक ही होगा।

यही स्थिति 'यदृचा स्तुवते', 'यत्साम्ना स्तुवते' की है। इनमें 'यद्' शब्द के कारण 'ते' इस लट् से विधिकल्पना नहीं हो सकेगी। अतः दो विधायक होने से दो वाक्य हो जायँगे। इस कारण भी ये वाक्य विधायक नहीं हैं। "तस्मात् साम्ना स्तुवीत" यही वाक्य विधायक है। 'यदृचा स्तुवते' इस वाक्य का ऋक्-स्तुति की निन्दा में नहीं, सामस्तुति की प्रशंसा में ही तात्पर्य है। 'यत्साम्ना स्तुवते' इस वाक्य का तो प्रशंसा में तात्पर्य स्पष्ट ही है। अतः 'यदृचा यत्साम्ना स्तुवते' इन दोनों वाक्यों की एक-वाक्यता 'साम्ना स्तुवीत' इस विधायक वाक्य के साथ होती है। इसीसे सामस्तुति का ही यहाँ विधान है। यहाँ विकल्प भी सम्भव नहीं, क्योंकि एकवाक्यता के अनुसार साम का ही विधान है। 'ऋचा स्तुवते' आदि वाक्य विधायक न होकर अर्थवाद ही हैं।

कहा जाता है कि 'जिन वाक्यों में क्रियागत गुण एवं दोष

के वाचक शब्द ही नहीं होते, ऐसे 'आपो वै शान्ताः' इत्यादि वाक्यों का विधि या निषेध के साथ एकवाक्यता और प्रशंसादि अर्थ ही नहीं हो सकता । फिर उनकी सार्थकता कैसे होगी ?' किन्तु इसका समाधान यह है कि 'वेतसशाखया-ऽवकाभिश्चाग्निं कर्षति' (बेंत की शाखा और अवकाओं या पनिहाँ वृक्षों से अग्नि को खींचकर एकत्र करें) इस विधि के समीप 'आपो वै शान्ताः' यह अर्थवाद है। अतः विधि के साथ एकवाक्यता के अनुसार 'जल शीतल है' इस तरह प्रथम जल की प्रशंसा से, फिर जल से उत्पन्न होने के कारण वेतस् और अवका की प्रशंसा में, उसके अनन्तर वेतस् और अवका से किये हुए अग्निकर्षण की प्रशंसा में तात्पर्य के अनुसार उक्त अर्थवाद की लक्षणा होती है।

'तुल्यञ्च साम्प्रदायिकम्'—इस सूत्र से भी अर्थवादों का प्रामाण्य कहा गया है। भावार्थ यह कि गुरुपरम्परा से प्राप्त और स्वाध्यायविधि के अनुसार अनध्याय में अनध्ययन का नियम आदि जैसे विधिवाक्यों में अनादिकाल से चला आता है, वैसे ही अर्थवाद-वाक्यों में भी। इसलिए जैसे विधि धर्म में प्रमाण है, वैसे ही अर्थवाद भी। यदि अर्थवाद अनर्थक होते, तो अध्ययन में विघ्न न होने के लिए अध्ययन-नियम-पालन व्यर्थ ही होता। किन्तु जब कि विधि जैसे ही अर्थवादों के अध्ययन में भी सब नियम अनादिकाल से माने जा रहे हैं, तब उन्हें अनर्थक कैसे कहा जा सकता है ? अध्ययनविधि अनादि-काल से अध्ययन के सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन करती है।

बहुत पहले पूर्वपक्ष में 'स्तेनं मनः अनृतवादिनी वाक्' आदि अर्थ-वादों की शास्त्र और दृष्ट से विरुद्धता दिखलायी गयी है। किन्तु

इसका भी समाधान यही है कि उक्त वाक्य किसी अर्थ का विधान नहीं करते, क्योंकि द्वारभूत अक्षरार्थ में उनका मुख्य तात्पर्य नहीं है। तब तो उनसे किसी भी विधि की कल्पना नहीं हो सकती। अतएव चौर्य आदिका विधान और शास्त्रान्तर-विरोध का अवकाश नहीं है।

इसी तरह "गुणवादस्तु" इस सूत्र से "आपो वै शान्ताः शान्ताभि-रेवास्य शुचं शमयति" इत्यादि अर्थवादों की सार्थकता कही गयी है। अर्थात् जैसे जन्मभूमि की प्रशंसा से पुरुष की प्रशंसा होती है, वैसे ही प्रकृत में भी प्रशंसा अभीष्ट है। "जल शान्त है और तदुत्पन्न वेतस एवं अवका भी शान्त हैं तथा उनसे आकृष्ट अग्नि भी शान्त है। अतएव यजमान के शोक को शान्त करता है" यह गौणी वृत्ति से उक्त अर्थवाद का तात्पर्य हुआ।

इसी प्रकार "सोऽरोदीत् यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम् तस्य यदश्रु व्यशीर्य्यत तद्रजतमभवत् योव र्हिषि रजतं दद्यात् पुरास्य संवत्सरात् गृहे रोदनं भवति" इस अर्थवाद में कहा गया है कि रुद्र रोये—यही उनका रुद्रत्व है; उनकी अश्रु से ही ररजत बना; इसीलिए जो बर्हि में रजतदक्षिणा देता है, उसके घर में वर्ष के भीतर रोदन होता है। किन्तु अश्रु से रजत आदि की उत्पत्ति प्रत्यक्षादि से विरुद्ध है। इसका भी समाधान यही है कि जैसे स्तुति के लिए पुरुष को सिंह कहा जाता है, वैसे ही निन्दा के लिए गौणी वृत्ति से ये सब बातें कही जाती हैं।

इसी तरह 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत् तामजुहोत् ततस्तूपरः पशुरगात्' प्रजापति ने अपनी वपा अर्थात् चर्वी को निकाला, उसका होम किया फिर अग्नि से 'तूपर' (शृंगसहित अज) पशु निकला—यह अर्थवाद 'यः प्रजाकामः पशुकामो वा स्यात् स एतं
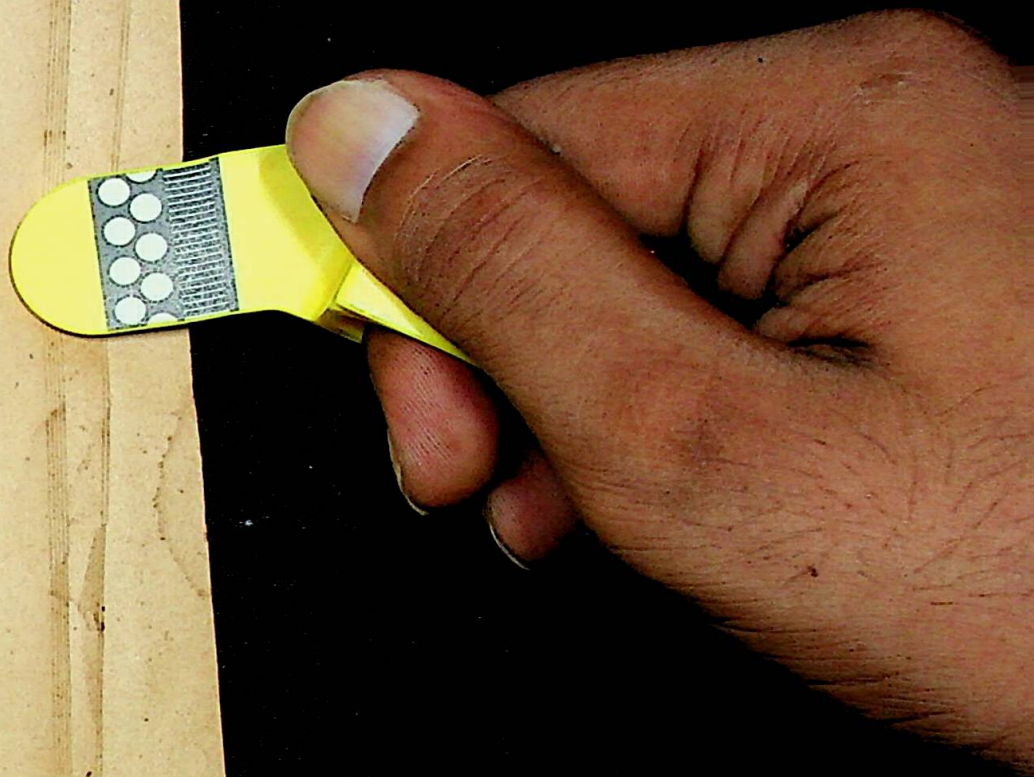
प्राजापत्यं तूपरमालभेत' (पशु-पुत्र की कामनावालों को प्रजापति से उत्पादित तूपर या 'हलुवान' पशु से यज्ञ करना चाहिए) इस विधि के साथ एकवाक्यतापन्न होता है। तथाच अर्थवाद का अभिप्राय यह निकलता है कि प्रयोजन-विशेष के लिए अपनी अपनी वपा (चर्बी) निकालकर भी यज्ञ किया जाता है, फिर बाह्य धनादि के व्यय तो गणना ही क्या है? जैसे कहा जाता है कि यह राजा अपनी आँखें निकाल कर दे सकता है, फिर अर्थ की तो कथा ही क्या है? प्रजापति ने वपा निकाली या नहीं, इससे कुछ भी प्रयोजन नहीं, विधि की स्तुति में ही उसका मुख्य तात्पर्य है।

इसी प्रकार "वनस्पतयः सत्रमासत" (वृक्षों ने यज्ञ किया) इससे भी सत्र की प्रशंसा ही है। जब जड़ भी यज्ञ करते हैं, तो चेतन मनुष्य को तो करना ही चाहिए। अक्षरार्थ मिथ्या होने पर भी अर्थवाद का मुख्य तात्पर्य अबाधित है ही। इसी तरह लोक में भी शिक्षाविशेष के लिए बहुत-सी आख्यायिकाएँ मिथ्या ही बना ली जाती हैं।

यहाँ सन्देह किया जाता है कि 'जैसे असत्यवादी अर्थवाद से भी यज्ञादि में प्रवृत्ति होती है, वैसे ही "स्वर्गकामो यजेत" यह विधिवाक्य भी तो प्रवृत्ति के ही लिए है। ऐसी स्थिति में यज्ञ से स्वर्ग का मिलना सत्य है, यह भी कैसे कहा जा सकता है?' किन्तु इसका समाधान यह है कि अर्थवाद का पूर्वोक्त रीति से स्वार्थ में तात्पर्य ही नहीं; किन्तु विधिस्तुति में ही उनका तात्पर्य है। अत प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध होने पर उनके अर्थ को गौण कहा जाता है। किन्तु विधि का तो तात्पर्य स्वार्थ में ही है और उसके किसी अंश का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध भी

नहीं है। फिर तो उनके अर्थ को मिथ्या मानने का कुछ भी कारण नहीं रहता। लोक में कहा जाता है कि यह सत्य ही है, स्तुति या निन्दा नहीं है। इससे स्पष्ट है कि प्रवृत्ति के लिए मिथ्या गुण का और निवृत्ति के लिए मिथ्या दोष का भी वर्णन हो सकता है। जैसे 'बचा सेवन से बुद्धि-वृद्धि और शरीर-शोभा बढ़ती हैं इस आप्तवाक्य से शिष्यादि की शरीर-शोभा के लिए बचा-भक्षण में प्रवृत्ति होती है। भले ही यहाँ शरीर-शोभारूप फल का कहना मिथ्या हो, तथापि बुद्धिवृद्धिरूप फलका लाभ तो होता ही है। इसी तरह हितैषी के वाक्य अप्रमाण नहीं होते।

कहा जा सकता है कि 'शरीर-शोभारूप फल न प्राप्त होने से शिष्यों को आप्त गुरु आदि के प्रति विश्वास न होगा, जिससे उनकी प्रवृत्ति न होगी।' किन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि शिष्य जानते हैं कि आप्त गुरु आदि परमहितैषी हैं। उनकी यह उक्ति अतिशयोक्ति या मिथ्योक्ति हो, तो भी निष्फल नहीं—कुछ न कुछ इसका परम फल अवश्य होगा। ऐसे ही वृक्षों का यज्ञ न करना निश्चित होने पर भी आस्तिकों को विश्वास रहता है कि परमहितैषी अपौरुषेय वेद की यह अतिशयोक्ति मिथ्या होते हुए भी निष्फल नहीं है, इसका कोई न कोई महाप्रयोजन अवश्य होगा। यही समझकर आस्तिकों की प्रवृत्ति होती है कि उससे विधिबोधित परमफल प्राप्त हो जाता है।

प्रजापति का वपा निकालनेवाला व्याख्यान भी इसी तरह सार्थक होता है। कुछ लोग प्रजापति से 'वायु' और वपा का वृष्टि अर्थ करते हैं। एवञ्च वायु जलका विद्युद्रूप अग्नि में होम करता है। अथवा 'आकाश' और 'वायु' 'प्रजापति' और 'वपा

शब्द से गृहीत होते हैं। अतः आकाश वायु को जाठराग्नि में प्रवेश कराता है या सूर्य अपनी किरणों को अग्नि में होम करता है। ये सब इस अर्थवाद के सत्य ही अर्थ हैं। पूर्वोक्त होम से तूपर अजर अनादि बीज उत्पन्न होता है। बीज आदि की परम्परा अनादिसिद्ध होने से उनमें अजत्व का व्यवहार होता है। फिर भी उपर्युक्त-व्याख्यानों से स्तुति-अर्थ न निकलने से अर्थवादों की सार्थकता असिद्ध ही रहती है।

'गुणवादस्तु' इस सूत्र के व्याख्यान के प्रसंग में भट्टपादने कहा है कि 'मन्त्र, अर्थवाद, पुराण, इतिहासादि प्रमाणों से विश्व की सृष्टि और प्रलय इष्ट है सृष्टि के समय योगसद्ध प्रजापति पशुओं के अभाव में योगप्रभावसे अपने स्वाभाविक शरीर से अन्य एक पशुशरीर का निर्माण करके उसीके वपा से यज्ञ करता है। यज्ञ के मध्य की ही तूपर पशु यज्ञभूमि से आविर्भूत होता है। यह यज्ञ अतिशीघ्र फल देनेवाला है। इसके लिए प्रजापति ने कितना बड़ा उद्योग किया। इस रीति से उक्त अर्थवाद द्वारा यज्ञ की प्रशंसा होती है और द्वारभूत अर्थ भी सत्य सिद्ध हो जाता है। जैसे ऋतुओं का असंख्यों बार आवर्तन होता है, ऋतुओं के चिह्न पुष्प-फलादि प्रत्येक आवृत्ति में समान ही आविर्भूत होते है। (यद्यपि पुष्पफलादि की व्यक्तियाँ पृथक् पृथक् होती हैं, तथापि उनके रूप, गुण और प्रभाव समान ही होते हैं।) वैसे ही प्रत्येक विश्वसृष्टि के समय भिन्न-भिन्न प्रजापति उत्पन्न होने पर भी उनके प्रभाव और व्यापार समान ही होते हैं। यही स्थिति उत्पन्न होनेवाले अन्य पदार्थों की भी है, अतः प्रजापति के नाम से वेद में उक्त आर्थवादिक उपाख्यान होने पर भी वेद की अनादिता में कोई बाधा नहीं पड़ती। एक-एक प्रजापति व्यक्ति यद्यपि अनादि नहीं हैं,

तथापि प्रजापति का स्थान प्राड्विवाक (जज) आदि स्थानों के समान अनादि ही है। उसी स्थान के नाम से वेद का उपाख्यान भी अनादि है।

इसी तरह "आदित्यः प्रायणीश्चरुरादित्य उदपनीयश्चरुः" (यह आदित्य चरु सूर्य के उदय और अस्त समय के लिए है) इस विधिवाक्य का अर्थवाद है—'देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्रजानन्' (देवताओं को यज्ञ-समय में दिग्भ्रम हो गया है) यह अर्थवाद गुणवाद है, क्योंकि उक्त यज्ञ से इतने विलक्षण कर्म किये जाते हैं, जिनके करने और विचारने में, देवताओं की बुद्धि भ्रांत हो जाती है। इस यज्ञ का ऐसा प्रभाव है कि वह भ्रांति को दूर करता है। इस प्रकार स्तुति में ही उक्त अर्थवाद का तात्पर्य है, देवताओं के दिग्भ्रम होने में नहीं।

कई लोग समझते हैं कि पूर्वमीमांसक ईश्वर एवं विश्व की सृष्टि एवं संहार नहीं मानते। किन्तु ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः जैमिनि ने अपने किसी सूत्र में ईश्वर का निषेध नहीं किया है। अवश्य ही औत्पत्तिक सूत्र में भट्टपाद ने ईश्वर की सत्ता का खण्डन किया है, किन्तु उसका भी तात्पर्य ईश्वरखण्डन में नहीं है। ईश्वर वेदकार है, इस प्रकार नैयायिकों के पक्ष का खण्डन ही उनका लक्ष्य था। वेदकर्तृत्वसम्बन्धिनी शंका का मूलोच्छेद करने के लिए ही ईश्वर की सत्ता का खण्डन है।

नैयायिक ईश्वरनिर्मित होने से वेदों का प्रामाण्य मानते हैं। अतएव वे ईश्वर की सत्ता में अन्योन्याश्रय दोष के भय से वेद को प्रमाणरूपमें उपस्थित नहीं करते, अनुमान प्रमाण उपस्थित करते हैं। किन्तु इस पक्ष में यह दोष है कि अनुमान द्वारा ईश्वर सामान्य ही सिद्ध होता है, वेदकार तो ईश्वरविशेष है।

जैसे धूम से बह्नि-सामान्य का अनुमान होता है, बह्नि-विशेष का नहीं। जिन जिन युक्तियों से नैयायिक वेदकार को ईश्वर सिद्ध करेंगे, उन्हीं-उन्हीं युक्तियों से दूसरे लोग 'बाइबिल'कार, 'कुरान'-कार को भी ईश्वर सिद्ध करने का प्रयत्न कर सकते हैं। फिर तो निरपेक्ष रूप से ईश्वररचित होने से वेदों का प्रामाण्य भी सिद्ध नहीं हो सकता। अतः ईश्वर के समान ही वेद अनादि अपौरुषेय हैं। यही सिद्धान्त ठीक है। ईश्वर भी वेद का रचयिता नहीं, किन्तु अनादि अपौरुषेय वेद के आधार पर धम एवं ईश्वर की सिद्धि होती है। यही भट्टपाद का अभिप्राय है।

अतएव 'मीमांसा-बालप्रकाश' में शंकर भट्ट का कहना है कि "पदपदार्थसम्बन्धस्येश्चरकृतसंकेतात्मकत्वेऽपि वेदाप्रामाण्या-पत्तेस्तत्प्रामाण्यायैवेश्वरनिरासः" अर्थात् पद-पदार्थसम्बन्ध ईश्वर-संकेतस्वरूप ही है, ऐसा मानने में संकेत द्वारा भी वेद में पौरु-षेयता एवं अप्रामाण्य की आपत्ति होगी, अतः मीमांसकों ने ईश्वरसत्ता का खण्डन किया है। वस्तुतः ईश्वर का अपलाप मीमांसकों को अभीष्ट नहीं है। इसीलिए श्लोकवार्तिककार ने आरम्भ में ही महेश्वर की वन्दनाकर मङ्गलाचरण किया है—

"विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदी दिव्यचक्षुषे।
श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे॥"

'पार्थसारथि मिश्र' ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

"...प्रारिप्सुस्तस्याविघ्नसमाप्तये विश्वेश्वरमहादेवं स्तुति पूर्वं नमस्यति।" सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त, विशुद्ध ज्ञान जिसकी देह है, ऋग्वेदादि तीनों वेद जिसके तीनों नेत्र हैं, जो श्रेयःप्राप्ति के मूलकारण हैं, ऐसे शशिशेखर भगवान् महेश्वर को नमस्कार

हैं। यज्ञपक्ष में श्लोकार्थ यह है—'मीमांसा-परिशोधित ज्ञान जिसकी देह है, त्रिवेदी जिसका चक्षु अर्थात् प्रकाशन है, ऐसे सोम के अर्द्ध (स्थान) ग्रह चमसादि धारण करनेवाले यज्ञ भगवान् को नमस्कार है।'

वस्तुतः नास्तिकता-निराकरण ही वार्तिककार का मुख्य प्रयत्न था। अतएव उपक्रम का वार्तिक है—

"प्रायेनैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता।
तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नो मया कृतः॥"

अर्थात् प्रायः मीमांसा को लोगों ने चार्वाकमतानुगामिनी बना दिया था। उसे आस्तिक पक्ष में लाने के लिए ही वार्तिक का निर्माण है।

सृष्टि और संहार मान लेने पर भी हिरण्यगर्भ पूर्वकल्प के तुल्य वेदसम्प्रदाय का केवल प्रवर्त्तन करता है, वेद का निर्माण नहीं। ऐसा मानने में अपौरुषेयता में कोई बाधा नहीं पड़ती। फिर भी सृष्टि के आदि में उत्पन्न एक हिरण्यगर्भ पूर्वकल्पीय वेदों का स्मरणकर सम्प्रदाय-प्रवर्तन करता है—इस विषय में भी उठनेवाली शंकाओं का समूलोन्मूलन करने के लिए ही सृष्टि-प्रलय के अस्वीकार की बात है। वस्तुतः वार्तिककार ने पूर्वोक्त रीति से सृष्टि-प्रलय स्वीकारकर प्रजापति के उपाख्यान को सत्य ही सिद्ध किया है—

"मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणप्रामाण्यात् सृष्टिप्रलयाविष्येते।"

अनध्याय में अध्ययन न करने के नियम आदि जैसे विधिभाग के हैं, वैसे ही अर्थवादों के भी हैं। अतः जैसे विधिभाग प्रमाण हैं, वैसे ही अर्थवाद भी प्रमाण हैं। अध्ययन में विघ्न न हों, यही

अनध्याय बचाने का फल है। यदि अर्थवाद व्यर्थ ही होते, तब तो उनके अध्ययन में विघ्न होना ही ठीक था। जब अनादिकाल से लोग अर्थवादों का भी अध्ययन करते चले आ रहे हैं, तब उन्हें व्यर्थ कैसे कहा जा सकता है? अर्थवाद का मुख्य तात्पर्य विधेय की प्रशंसा में ही है। फिर द्वारभूत वाच्यार्थ में विरोध होने पर भी कोई हानि नहीं, क्योंकि उसमें तात्पर्य ही नहीं है।

अतएव पक्षान्तर में उन अर्थवादों का पृथक् अर्थ बतलाया गया है। "स्तेनं मनः, अनृतवादिनी वाक्" इन अर्थवादों के अर्थों से कोई विरोध नहीं होता। मन चोर के समान ही है, क्योंकि दोनों प्रच्छन्न रूप से चलते हैं। अतएव वाक् को अनृतवादिनी कहा गया है। "हिरण्यं हस्ते भवति अथ गृह्णाति" (हिरण्य हाथ पर ले और पहने) सुवर्णकी इसी स्तुति के लिए मन और वचन का निन्दार्थवाद संगत होता है। जो कार्य किया जाता है, पहले उसीका मनसे संकल्प किया जाता है और तदनन्तरही वचनसे कथन होता है। अतः सभी कार्यों की सिद्धि में मन और वचन की अन्तरङ्ग-साधनता मानी जाती है। वह भी चोर और झूठा होने से निन्द्य है, तब फिर और की बात ही क्या? अतः स्वर्ण ही सर्वोत्तम है, क्योंकि वह सभी कार्यों की सिद्धि में अपेक्षित होता है और अनिन्द्य भी है। इस तरह "स्तेनं मनः" इत्यादि अर्थवादवाक्य स्वर्णधारण-विधि का स्तावक है। अतएव इससे चोरी आदि करने की विधि नहीं निकल सकती। "अनृतं न वदेत्" इत्यादि निषेध-वाक्यों के रहते हुए विधिस्तुति में चरितार्थ अर्थवाद-वाक्य से अनृतवदन आदिका विधान नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष विधि के विरुद्ध अर्थवादों से विधि-कामना सर्वथा अनर्गल है।

इसी तरह "धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे" इस अर्थवाद में जो प्रत्यक्ष विरोध दिखाया गया है, वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि उसका अभिप्राय यही है कि अधिक दूर होने से दिनमें धूम ही दिखाई देता है, अग्नि नहीं।

इसी तरह 'हम ब्राह्मण हैं या नहीं' यह अर्थवाद भी प्रत्यक्ष-विरुद्ध है'—इसका भी समाधान है कि "स्त्र्यपराधात् कर्त्तुश्च पुत्र-दर्शनम्।" इस सूत्रका अभिप्राय यह है कि "न चैतद्विद्मो ब्राह्मणो वयं स्म वा अब्राह्मणा वा" (यह हम नहीं जानते कि हम ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण) यह अर्थवाद "प्रवरे प्रव्रियमाणे देवाः पितर इति ब्रूयात्" (जब यजमान यज्ञादि कर्मों में अपने गोत्र और प्रवरका वर्णन करने लगे, तब 'देवाः पितरः' इस शब्द को कहे) इसी विधि का स्तावक है। यद्यपि ब्राह्मणत्व ज्ञात है, तथापि उसका ज्ञान दुश्शक है। सरलता से जिसका ज्ञान न हो, उसके ज्ञान को अज्ञान ही कहा गया है। ब्राह्मणत्व का ज्ञान कठिन है, क्योंकि स्त्री के व्यभिचार-रूप दोष से संशय होता है। स्त्री-अपराध न होने पर भी संदेह होता है कि पुत्र माता का है या माता जिसका क्षेत्र है, उस क्षेत्री का है? यदि क्षेत्री का है, तब तो ब्राह्मण होने में कोई संदेह नहीं। किन्तु "माता भस्त्रा पितुः पुत्रो यतो जातः स एव सः" माता केवल भाथी है, जिसके वीर्य से उत्पन्न होता है, उसी का पुत्र समझना चाहिए और वह उपपति बीजी अत्यन्त प्रच्छन्न होता है। उसका परिज्ञान अत्यन्त कठिन है। इसीलिए वंश-

परम्पराकी रक्षामें बड़ी सावधानी की आवश्यकता बतलायी गयी है। इस तरह किसी भी ब्राह्मण के ब्राह्मणत्व का ज्ञान कठिन ही है; किन्तु उस ब्राह्मण की पूर्व-वंशपरम्परा के प्रवर-ऋषियों (जो कि निःसन्देह ब्राह्मण हैं) का नाम लेकर अनु-मन्त्रण करने से यजमान ब्राह्मणमें उक्त शंका नष्ट हो जाती है। इसीसे कहा जाता है कि "अब्राह्मणो ब्राह्मणो भवति प्रवरानु-मन्त्रणेन"। (प्रवरानुमन्त्रण से अब्राह्मण भी ब्राह्मण हो जाता है) यह भी प्रवरानुमन्त्रण की प्रशंसा ही है। वस्तुतः अब्राह्मण ब्राह्मण नहीं हो सकता।

इसी तरह गर्ग-त्रिरात्रवेदन में भी "शोभतेऽस्य मुखं" इत्यादि से प्रशंसा की गयी है। अर्थात् पद-वाक्य-प्रमाणों से ही विद्वानों के मुख की शोभा होती है। वर्ण-गठन, चमक आदि स्त्रियों के मुख की शोभा है। इसी तरह पूर्णाहुति से सब कामोंको प्राप्ति होती है, इसका भी यही अभिप्राय है कि पूर्णाहुति के बिना यज्ञ का फल ही नहीं होता। पूर्णाहुति होने से उस यज्ञ के सब फल प्राप्त होते हैं। जैसे 'सब ब्राह्मणों को खिलाओ' यहाँ सर्वपद निमन्त्रित ब्राह्मण-परक ही है, वैसे ही यहाँ भी सर्वपद तत्क्रतुसाध्य फल-परक ही है। सर्वथा स्तुति या निन्दा ही अर्थवादों का अर्थ है। इस तरह जब अक्षरार्थों में अर्थवादों का तात्पर्य ही नहीं, तब अक्षरार्थ के मिथ्या होने पर भी अर्थवादों के प्रामाण्य में कोई बाधा नहीं।

इसी तरह प्रहेलिका-वाक्यों के वाच्यार्थ मिथ्या होने पर भी उनका अप्रामाण्य नहीं होता, प्रत्युत पाण्डित्य ही सूचित होता है।

"पर्वताग्रे रथो याति भूमौ तिष्ठति सारथिः।
भ्रमंश्च वायुवेगेन पदमेकं न गच्छति॥"

—कुलालचक्र।

"पञ्चभर्त्री न पाञ्चाली द्विजिह्वा न च सर्पिणी।
श्यामास्या न च मार्जारी यो जानाति स पण्डितः॥"

—लेखनी।

इन प्रहेलिका-वाक्यों का प्रामाण्य ही है। शब्दशक्ति के अनुसार प्रहेलिकाओं का भी अर्थबोध होता ही है, उन मिथ्या अर्थबोधों से भी श्रोताओं के हृदय में चमत्कार होता ही है। उनके वाक्यार्थों को न समझने से बालक लोग उनपर आक्षेप भी करते हैं; किन्तु वाच्यार्थ के मिथ्या होने पर भी लक्ष्यार्थ सत्य होने पर ये पहेलियाँ प्रमाण ही मानी जाती हैं। इसी तरह वैदिक अर्थवाद का वाच्यार्थ मिथ्या होने पर भी निन्दा और स्तुतिरूप लक्ष्यार्थ सत्य ही है। 'वनस्पतयः सत्रमासत' इत्यादि अर्थवादों को देखकर कोई वेद को झूठा बतलाने लगता है। कोई-कोई उसके वाच्यार्थ की सत्यता का आग्रहकर आक्षेपकों को नास्तिक कहने लगते हैं। किन्तु इसमें अर्थवादों का दोष नहीं, 'परोक्षप्रिया हि देवाः' प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अगोचर अर्थ से ही

देवता प्रसन्न होते हैं। कोई अर्थवाद सत्य गुण-दोष द्वारा स्तुति-निन्दा करते हैं, कोई आरोपित गुण-दोष द्वारा। फिर भी निष्फल कर्मों या परिश्रम से न्यून फलवाले या अनिष्ट फलवाले कर्मों में कभी प्रवृत्त नहीं कराते और इष्ट फलवाले कर्म से कभी निवृत्त नहीं कराते। जैसे माता, पिता गुरुजन अपने पुत्र या शिष्य को किसी शुभकर्म में अधिक गुणवर्णन करके प्रवृत्त करायें और किसी निन्द्यकर्म में अधिक दोष-वर्णन करके भी उससे निवृत्त करायें, तो भी वे हितचिन्तक ही समझे जाते हैं, वञ्चक नहीं। यही स्थिति अर्थवादों की भी है।

उत्तरमीमांसकों को भी ये बातें मान्य हैं। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि जहाँ एक वाक्य का दूसरे वाक्य से सम्बन्ध होता है, वहाँ लोकानुसार दोनों वाक्य पृथक्-पृथक् अपने-अपने पदों के अर्थों में परस्पर सम्बन्ध का बोध कराकर अपने-अपने वाक्यार्थ में समाप्त हो जाते हैं। पश्चात् किसी कारण से प्रयोजन की अपेक्षा होने पर उन वाक्यार्थों में परस्पर सम्बन्ध की कल्पना होती है। जैसे—"वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वायव्यं श्वेतमालभेत" इन दोनों वाक्यों में एकवाक्यता होती है। "स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इस वाक्य से समस्त वेदराशि की पुरुषार्थ-साधकता सिद्ध है। ऐसी स्थिति में "वायुर्वै क्षेपिष्ठा" इत्यादि वाक्य केवल अपना वाच्यार्थबोध कराकर उपरत न होंगे, किन्तु लक्षणा-वृत्ति से वायु-यज्ञरूपी विधेय की प्रशंसा करके पुरुषार्थ के साधक होते हैं।

"गङ्गायां घोषः" इस स्थल में लक्षणा भी गङ्गासम्बन्धी तीर में ही होती है, समुद्र-तीर में नहीं। कारण शक्यसम्बन्धी में ही लक्षणा होती है। अतः यदि अर्थवादों का शक्यार्थ विवक्षित ही न हो, तो तत्सम्बन्धी में लक्षणा भी कैसे होगी? अतएव जो प्रमाणान्तर से विरुद्ध अर्थवाद हों, उन्हें केवल स्तुत्यर्थ मानना युक्त है। जैसे 'आदित्यो यूपः' यजमानः प्रस्तरः' (आदित्य के सदृश यूप है, कुशा की आंटी यजमान है) इत्यादि। जहां अर्थवाद से प्रमाणान्तरसिद्ध अर्थ निकलता है, वह अर्थवाद 'अनुवादक' समझा जाता है। यद्यपि प्रत्यक्ष, अनुमान के समान परस्परानपेक्ष दोनों ही स्वतन्त्र प्रमाण समझे जाते हैं, फिर भी साधारण लौकिक प्राणी को पहले प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही अर्थज्ञान होता है, आम्नाय से पीछे ज्ञान होता है। अतः प्रत्यक्षादि सिद्ध अर्थ का प्रतिपादक अर्थवाद अनुवादक ही है। जैसे 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' (अग्नि जाड़े की औषध है)।

यहां सन्देह होता है कि 'जैसे अद्वैतबोधक वाक्यों का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध होने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों का बाध हो जाता है, वैसे ही 'आदित्यो यूपः' इस अर्थवाद से आदित्य और यूप के भेदग्राहक प्रत्यक्ष का बाध हो सकता है, फिर ऐसा न कर अर्थवाद को गौणार्थक क्यों माना जाता है?' इसका समाधान यह है कि लोकानुभव के अनुसार शब्दों के अर्थ दो प्रकार से होते हैं—एक द्वार और दूसरा

देवता प्रसन्न होते हैं। कोई अर्थवाद सत्य गुण-दोष द्वारा स्तुति-निन्दा करते हैं, कोई आरोपित गुण-दोष द्वारा। फिर भी निष्फल कर्मों या परिश्रम से न्यून फलवाले या अनिष्ट फलवाले कर्मों में कभी प्रवृत्त नहीं कराते और इष्ट फलवाले कर्म से कभी निवृत्त नहीं कराते। जैसे माता, पिता गुरुजन अपने पुत्र या शिष्य को किसी शुभकर्म में अधिक गुणवर्णन करके प्रवृत्त करायें और किसी निन्द्यकर्म में अधिक दोष-वर्णन करके भी उससे निवृत्त करायें, तो भी वे हितचिन्तक ही समझे जाते हैं, वञ्चक नहीं। यही स्थिति अर्थवादों की भी है।

उत्तरमीमांसकों को भी ये बातें मान्य हैं। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि जहाँ एक वाक्य का दूसरे वाक्य से सम्बन्ध होता है, वहाँ लोकानुसार दोनों वाक्य पृथक्-पृथक् अपने-अपने पदों के अर्थों में परस्पर सम्बन्ध का बोध कराकर अपने-अपने वाक्यार्थ में समाप्त हो जाते हैं। पश्चात् किसी कारण से प्रयोजन की अपेक्षा होने पर उन वाक्यार्थों में परस्पर सम्बन्ध की कल्पना होती है। जैसे—"वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वायव्यं श्वेतमालभेत" इन दोनों वाक्यों में एकवाक्यता होती है। "स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इस वाक्य से समस्त वेदराशि की पुरुषार्थ-साधकता सिद्ध है। ऐसी स्थिति में "वायुर्वै क्षेपिष्ठा" इत्यादि वाक्य केवल अपना वाच्यार्थबोध कराकर उपरत न होंगे, किन्तु लक्षणा-वृत्ति से वायु-यज्ञरूपी विधेय की प्रशंसा करके पुरुषार्थ के साधक होते हैं।

"गङ्गायां घोषः" इस स्थल में लक्षणा भी गङ्गासम्बन्धी तीर में ही होती है, समुद्र-तीर में नहीं। कारण शक्यसम्बन्धी में ही लक्षणा होती है। अतः यदि अर्थवादों का शक्यार्थ विवक्षित ही न हो, तो तत्सम्बन्धी में लक्षणा भी कैसे होगी? अतएव जो प्रमाणान्तर से विरुद्ध अर्थवाद हों, उन्हें केवल स्तुत्यर्थ मानना युक्त है। जैसे 'आदित्यो यूपः' यजमानः प्रस्तरः' (आदित्य के सदृश यूप है, कुशा की आंटी यजमान है) इत्यादि। जहां अर्थ-वाद से प्रमाणान्तरसिद्ध अर्थ निकलता है, वह अर्थवाद 'अनुवादक' समझा जाता है। यद्यपि प्रत्यक्ष, अनुमान के समान परस्परानपेक्ष दोनों ही स्वतन्त्र प्रमाण समझे जाते हैं, फिर भी साधारण लौकिक प्राणी को पहले प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही अर्थज्ञान होता है, आम्नाय से पीछे ज्ञान होता है। अतः प्रत्यक्षादि सिद्ध अर्थ का प्रतिपादक अर्थवाद अनु-वादक ही है। जैसे 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' (अग्नि जाड़े की औषध है)।

यहां सन्देह होता है कि 'जैसे अद्वैतबोधक वाक्यों का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध होने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों का बाध हो जाता है, वैसे ही 'आदित्यो यूपः' इस अर्थवाद से आदित्य और यूप के भेदग्राहक प्रत्यक्ष का बाध हो सकता है, फिर ऐसा न कर अर्थवाद को गौणार्थक क्यों माना जाता है?' इसका समाधान यह है कि लोकानुभव के अनुसार शब्दों के अर्थ दो प्रकार से होते हैं—एक द्वार और दूसरा

द्वारी। पदों के पृथक्-पृथक् वाच्यार्थ द्वार होते हैं और वाक्यार्थ द्वारी होता है। उसीमें वक्ता का तात्पर्य होता है।

जहां दो वाक्यों की एकवाक्यता होती है, वहाँ भी एक वाक्यार्थ द्वार और दूसरा द्वारी होता है। जैसे—"इयं गौः क्रेतव्या" (यह गाय खरीदने लायक है) "बहुक्षीरा" (बहुत दूध देनेवाली है) यहाँ बहुक्षीरा प्रतिपादन द्वार है, क्रेतव्या द्वारी है; क्योंकि खरीदने में ही वक्ता का तात्पर्य है।

द्वाररूपी अर्थ का यदि प्रमाणान्तर से विरोध हो, तो उस वाक्य को ही दबाकर उसका गौण अर्थ किया जाता है। जैसे शत्रुगृह-भोजन-वारण प्रसंग में कहा जाता है—"विषं भुङ्क्ष्व" जहर खाओ। किन्तु यह लौकिक विवेक के विरुद्ध है। अतः 'शत्रुगृहे मा भुङ्क्ष्व' इस वाक्यार्थ में ही वक्ता का मुख्य तात्पर्य है। विषभक्षणरूप वाक्यार्थ केवल द्वार है, अतः उसका गौण अर्थ लेना चाहिए। अतएव उसका अर्थ होता है कि शत्रुगृह-भोजन विषभोजन के तुल्य है। जब द्वारी अर्थ प्रमाणान्तर से विरुद्ध होता है, तभी लौकिक वाक्य अप्रमाण होते हैं। इसी तरह 'आदित्यो यूपः' इत्यादि अर्थवादों का द्वार-अर्थ प्रमाणान्तर से विरुद्ध है, अतएव वह गुणवाद माना जाता है। किन्तु वेदान्त-वाक्य तो अपौरुषेय होने से स्वतःप्रमाण हैं। उपक्रमादि षट्-लिङ्गों से ब्रह्माद्वैत ही उनका द्वारी अर्थ है। अतः उनसे विरोध

होने पर प्रत्यक्षादि को ही वास्तविक प्रमाण न मानकर व्यावहारिक दशा में उनका प्रामाण्य माना गया है।

जिन अर्थवादों के द्वाररूप अर्थ में प्रमाणान्तर का विरोध नहीं, उनके द्वारभूत अर्थ भी सत्य ही है। जैसे—"इंद्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्" (इन्द्र ने वृत्र के लिए वज्र उद्यत किया)। इस तरह भी इनकी अनादिता सिद्ध है।

इन प्रमाणों से वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध हो जाने पर "वाचा विरूपनित्यया', 'अनादि-निधना नित्या', 'अत एव च नित्यत्वम्' इत्यादि श्रुति-स्मृति-सूत्रों से भी वेदों की नित्यता अनादि सिद्ध होती है। उत्पत्ति-प्रतिपादक वचनों का केवल आविर्भाव ही अर्थ है, यह सब विषय ऊपर कहा ही जा चुका है।

प्रथम भाग समाप्त

स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज द्वारा लिखित ग्रंथ

१—भगवत्तत्त्व	४॥)
२—हिन्दू कोड बिल : प्रमाण की कसौटी पर	१॥)
३—संघर्ष और शान्ति	१॥)
४—जाति, राष्ट्र और संस्कृति	॥)
५—गम्भीर विचार की आवश्यकता	॥)
६—अन्य राजनीतिक दल और रामराज्य-परिषद्	।)
७—वेद-प्रामाण्य-मीमांसा (संस्कृत)	१)
८—मार्क्सवाद और रामराज्य	४)
९—शांकर-भाष्य पर आक्षेप और उनका समाधान	(अप्राप्य)
१०—वर्णाश्रममर्यादा और संकीर्तन	(अप्राप्य)

पुस्तक-प्राप्ति-स्थान

श्री धर्मसंघ शिक्षा-मण्डल, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी

आर्यभूषण प्रेस, ब्रह्माघाट, वाराणसी में मुद्रित